तीर्थङ्कर महावीर

भाग १

लेखक

विद्यावल्लभ, विद्याभूषण, इतिहासतत्त्वमहोदधि

जैनाचार्य श्री विजयेन्द्रसूरि

प्रकाशक

काशीनाथ सराक

यशोधर्म मंदिर,

१६६ मर्जबान रोड, अंधेरी,

बम्बई ५८

• प्रथम आवृत्ति १९६०

• मूल्य १०.००

• वीर सवत् २४८६

• विक्रम सवत् २०१७

• धर्म सवत् ३९

• मुद्रक
अनत जे शाह,
लिपिका प्रेस,
कुर्ला रोड, अधेरी,
बम्बई ५९.

सेठ मोतीशा चैरिटीज फड, भायखला, बम्बई की आर्थिक सहायता से प्रकाशित

श्रमण भगवान् महावीर

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

जन्म से गृहस्थ जीवन तक

निष्क्रमण से केवलज्ञान-प्राप्ति तक

गणधरवाद

परिशिष्ट

भूमिका

जैन-आगमो से प्रमाणित है कि जैन-धर्म न केवल भारत का वरन विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे किसी भी रूप में प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

प्रारम्भ से ही जैन-धर्म क्रियावादियो का धर्म रहा है—निरा प्रचार-प्रसार इसका कभी लक्ष्य नहीं रहा। और, क्रियावादिता मे उनकी आस्था का ही यह फल है कि, हजारो वर्षो के झोंके सह कर भी यह धर्म अब तक अपने मूल रूप में बना है—जबकि बाद में उद्भूत श्रमण-संस्कृति की अन्य शाखाएँ भारत में समाप्त ही हो गयीं। अहिंसा-प्रधान होने से जैन-धर्म ने कभी भी बल अथवा जोर-दबाव को प्रश्रय नहीं दिया। कितने विरोध इसने सहे, कितने दुर्दिन देखे, इसका इतिहास साक्षी है।

भारत की सभ्यता और संस्कृति का जैन-धर्म एक ऐसा अग है कि उसे निकाल देने से हमारी सस्कृति का रूप ही विकृत और एकागी रह जायेगा।

पर, इसका और इसके साहित्य का प्रचार उस रूप मे नहीं हो पाया, जिस रूप में उसकी अपेक्षा थी। इस मुद्रण के युग मे भी, इसके अधिकाश ग्रथ अब भी अप्राप्य और बहुमूल्य हैं। इसका फल यह रहा कि, साधारण जनता को क्या कहें, विद्वत्समाज का एक बहुत बड़ा अंश भारतीय सस्कृति के इस अविभाज्य अग से अपरिचित है।

जैन भगवान् ऋषभदेव को इस अवसर्पिणी का प्रथम तीर्थंकर मानते हैं। श्रीमद्भागवत् (प्रथम खंड, द्वितीय स्कंध, अध्याय ७, पृष्ठ १७३) मे जहाँ विष्णु के २४ अवतारो का उल्लेख ब्रह्मा ने किया है, वहाँ भगवान् ऋषभदेव के लिए कहा गया है—

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु—

र्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम् ।

यत् पारमहंस्य मृषयः पदमामनन्ति

स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तिसङ्ग ॥ १० ॥

—राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप मे जन्म लिया। इस अवतार मे समस्त आसक्तियो से रहित रह कर, अपनी इन्द्रियो और मन को अत्यन्त शान्त करके एव अपने स्वरूप मे स्थिर होकर समदर्शी के रूप मे उन्होने जडो की भाँति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहस-पद कहते हैं।

उसी ग्रथ में (स्कघ ११, अध्याय २, खंड २, पृष्ठ ७१०) ऋषभदेव को अवतार होने की बात नारद ने भी कही है:—

तमाहुर्वासु देवाशं मोक्षधर्मविवक्षया

—(शास्त्रो मे उन्हे) भगवान् वासुदेव का अश कहा है। मोक्ष-धर्म का उपदेश करने के लिए उन्होंने अवतार ग्रहण किया।

उसी ग्रन्थ मे स्कध ५, अध्याय ४ के २०-वें श्लोक मे (प्रथम खड, पृष्ठ ५५६) आता है—

वातरशनाना श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावतार

—श्रमणो (जैन-साधु) ऋषियो तथा ब्रह्मचारियो (ऊर्ध्वमथिन) का धर्म प्रकट करने के लिए शुल्क सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए)

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् स्कंध १, अ० ३, श्लोक १३ (पृष्ठ ५५), स्कध ५, अ० ४, (पृष्ठ ५५६-५५७) मे भी भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख है। उनकी चर्चा करते हुए स्कध ५, अ० ६, (पृष्ठ ५६८) में एक श्लोक है :—

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्त तृष्णः

श्रेयस्यतद्रचनया चिर सुप्तबुध्देः ।

लोकस्य यः करुणा भयमात्मलोक

माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥

—निरन्तर विषय भोगो की अभिलाषा के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश दिया और जो स्वय निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।

ऋषभदेव भगवान् का उल्लेख वेदो में भी है। वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित ऋग्वेद-सहिता (वि स २०१०) मे (पृष्ठ १४४) मं. १, सू १९०, मत्र १, (पृष्ठ १७५) २-३३-१५; (पृष्ठ २९३) ५-२८-४; (पृष्ठ ३३७) ६-१-८, (पृष्ठ ३५३) ६-१९-११ तथा (पृष्ठ ७७५) १०-१६६-१ आदि मन्त्रो मे ऋषभदेव भगवान् के उल्लेख आये हैं। यजुर्वेद सहिता (वैदिक यत्रालय, वि. २००७) पृष्ठ ३१ मे मन्त्र ३६, ३८ मे तथा अथर्ववेद (वैदिक यत्रालय, वि स २०१५) पृष्ठ ३५९ मत्र ४२-४ मे भी वृषभदेव भगवान् का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त कूर्मपुराण अ० ४१ (पृष्ठ ६१) अग्निपुराण अ० १० (पृष्ठ ६२), वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० ३३ (पृष्ठ ५१) गरुडपुराण अ० १ (पृष्ठ १), मारकडेय पुराण (आर्यमहिला हितकारिणी, वाराणसी, खड २, पृष्ठ २३०, पार्जिटर-अनूदित पृष्ठ २७४); ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्द्ध अध्याय १४ (पृष्ठ २४), वाराहपुराण अ० ७४ (पृष्ठ ४९), शिवपुराण तृतीय शतक रुद्र-अध्याय ४, पृष्ठ २४६, लिंग पुराण अ० ४७, (पृष्ठ ६८), विष्णुपुराण अश २, अ० १, (पृष्ठ ७७), स्कदपुराण कौमार खड अ० ३७ (पृष्ठ १४८) आदि स्थलो मे भी ऋषभदेव भगवान् के उल्लेख आये हैं।

पर, ब्राह्मण-साहित्य मे जैन-तीर्थंकरो के ऐसे आदर और अवतार-सूचक उल्लेखों के बावजूद, ब्राह्मण-धर्म ने जैन-धर्म की, बाद मे न केवल उपेक्षा की, बल्कि उसके प्रति अवाच्य वचन भी कहना प्रारम्भ किया।

इसका कारण यह था कि जैन-धर्म अपने विचारो पर स्थिर रहा और ब्राह्मणों को उसने किंचित् मात्र महत्ता नहीं दी। उनकी मान्यता सदा से

यह रही कि तीर्थंकरो का जन्म केवल क्षत्रिय (इक्ष्वाकु और हरिवश) कुल में ही होता है। (कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, सूत्र १७, पत्र ६२)

इसके विरुद्ध तीर्थंकर भगवान् महावीर के समकालीन बुद्ध के अनुयायियो ने ब्राह्मण-वर्ग से समझौते का प्रयास किया। और, अपने बुद्ध के जन्म के लिए दो कुल बताये—क्षत्रिय और ब्राह्मण। (जातकट्ठ कथा, पृष्ठ ३९)

इस समझौते-वाद का फल यह हुआ कि यद्यपि शाक्य मुनि बुद्ध से पूर्व के बुद्धो को ब्राह्मण-ग्रन्थो मे कोई महत्व नही मिला और बौद्ध-साहित्य ने भी राम, कृष्ण, आदि को कोई महत्त्व अपने ग्रथो मे नही दिया, पर बाद मे ब्राह्मणो ने शाक्य मुनि को भी एक अवतार मान लिया।

बाद मे बुद्ध की गणना दशावतारो मे हुई, अपनी इस उक्ति के प्रमाण मे हम यहाँ कह दें कि महाभारत, शान्तिपर्व, ३४८-वें अध्याय मे दशावतारो की जो सूची दी है, उसमे बुद्ध का नाम नही है।

हंस कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ॥५४॥
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वत: कल्किरेव च ॥५५॥

हम यहाँ प्रसगवश यह बता दें कि ब्राह्मणो के सम्वन्ध में जैनियो की मान्यता क्या है ? त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १, सर्ग ६ मे आता है कि ब्राह्मणो की स्थापना तो प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने की। उसके पूर्व तो ब्राह्मण-वर्ण था ही नही।

कथा है कि, जव भरत ने अपने छोटे भाइयो के पास आज्ञा-पालन के लिए दूत भेजा तो छोटे भाइयो को विचार हुआ कि राज्य तो मेरे पिता दे गये हैं फिर भरत की आज्ञा क्यो स्वीकार करे। वे इस सम्वन्ध मे पिता से परामर्श करने अष्टापद गये। वहाँ ऋषभदेव ने उन्हे उपदेश किया और उनके ९८ पुत्र वही साधु हो गये। महाराज भरत भी अपने पिता के पास गये और उन्होने ५०० गाडियो पर पक्वान आदि मँगवाये। पर, ऋषभदेव ने

भगवान् महावीर का नाम था। यह नाम पडने का कारण जैन-ग्रथो में यह वताया है कि जव से वह गर्भ मे आये तव से धन की, वृद्धि की सव की वृद्धि होने लगी। इस कारण उनका नाम वर्द्धमान पडा (देखिये, कल्पसूत्र सुवोधिका टीका-सहित, पत्र २०४)

पर शकराचार्य ने विष्णुसहस्रनाम मे जहाँ वर्द्धमान को विष्णु का एक नाम वताया गया है, वहाँ वर्द्धमान पर टीका करते लिखा है :—

प्रपंचरूपेण वर्धते इति वर्धमान

—प्रपचरूप से वढ़ाते हैं इसलिए वर्धमान हैं।

—विष्णुसहस्र नाम (सटीक, गीता प्रेस, गोरखपुर) पृष्ठ १२८ ।

ब्राह्मण-ग्रथो मे केवल ऐसी टीका की ही विकृति नही हुई। मूल-ग्रथों मे भी जैन-धर्म के सम्वन्ध मे निन्दात्मक वातें जोडी गयीं। ऐसे प्रसग विष्णु-पुराण, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, शिवपुराण, पद्मपुराण, स्कदपुराण, भागवत, और कूर्मपुराण मे भरे पडे हैं। ऐसे प्रसगो का उल्लेख करते हुए पार्जिटर ने अपनी पुस्तक 'ऐंशेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन" में (पृष्ठ २९१) लिखा है :—

"जरासध द' किंग आव मगध इज स्टिगमटाइज्ड ऐज ऐन असुर ऐंड द' वुद्धिस्ट ऐंड जैंस आर ट्रीटेड ऐज असुराज ऐंड दैत्याज़...'

—मगध के महान् राजा जरासध को असुर वताया गया है और वौद्ध और जैन असुर और दैत्य के रूप मे वर्णित हैं।

पर, इतने के वावजूद जैन-धर्म की सर्वथा उपेक्षा नही हो सकी। तैत्तिरीय आरण्यक के १०-वें प्रपाठक के अनुवाक ६३ में सायणाचार्य को भी लिखना पडा—

कथा कौपीनोत्तरा संगादीना त्यागिनो यथाजात रूपधरा निर्ग्रन्था: निष्परिग्रहा: ॥

—अर्थात् शीत निवारण कथा, कौपीन उत्तरासगादिको के त्यागी

और यथा जात रूप के धारण करनेवाले जो हैं, वे निर्गन्थ निष्परिग्रह अर्थात् ममत्वरहित होते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि 'निर्गंथ' शब्द भी जैन-साहित्य का परिभाषिक शब्द है। प्राचीन काल मे सुधर्मा स्वामी से ८-वे पाट तक 'जैन' के लिए 'निर्गन्थ' शब्द का ही प्रयोग होता रहा है। ऐसा उल्लेख तपागच्छ-पट्टावलि (प० कल्याण विजय-सम्पादित भाग १, पृष्ठ २५३) मे भी आता है—*श्री सुधर्मास्वानोऽप्टौ सूरीन् यावत् निर्गन्थाः*

अशोक के शिला-लेख में भी निगंथ शब्द आया है।

निगंठेसु पि मे कटे इवे वियापटा होहन्ति

—अशोक के धर्मलेख, पृष्ठ ३६४

मैंने अपनी पुस्तक वैशाली (द्वितीयावृत्ति, हिन्दी) की भूमिका मे पृष्ठ सात पर इस निर्गन्थ शब्द पर विशेषरूप से विचार किया है। जिज्ञासु पाठक उसे देख सकते है।

वील के 'बुद्धिस्ट रेकार्ड आव द' वेस्टर्न वर्ल्ड' (खण्ड २, पृष्ठ ६६) से स्पष्ट है कि चीनी यात्री जब वैशाली आया था, तब निगंथ वहाँ बहुत सख्या मे थे। वाटर्स ने अपने ग्रन्थ (भाग २, पृष्ठ ६३) पर निर्गन्थ के स्थान पर 'दिगम्बर' शब्द लिखा है। पर, यह उनकी भूल है।

वर्तमान काल मे जैनो के २४ तीर्थंकर हुए। जिनमे ४ ऋषभ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान इस काल मे सब से अधिक विख्यात हैं। कल्पसूत्र मे भी इन्ही चार तीर्थंकरो का उल्लेख विस्तार से है और इन चार मे भी सब से अधिक ख्याति पार्श्वनाथ की है। इस ख्याति की चरम सीमा इसी से आँकी जा सकती है कि साधारणत लोग किसी भी जैन-मदिर को को 'पार्श्वनाथ का मदिर' कह कर सम्बोधित कर दिया करते हैं और इस ओर ध्यान भी नही देते कि उस मदिर मे किसकी मूर्ति है। बौद्धग्रथो में तो महावीर स्वामी का उल्लेख निगठनातपुत्र के रूप मे बराबर मिलता है, पर हिन्दू-ग्रन्थो मे ऋषभ देव को छोडकर किसी भी तीर्थंकर का उल्लेख तक नही है। और, वर्द्धमान की क्या बात, हिन्दुओं मे कृष्ण के जीवन-सम्बन्धी

इतने ग्रंथ होने के बावजूद, स्वयं कृष्ण के चचेरे भाई नेमिनाथ का नाम तक किसी ग्रंथ में नहीं आता।

इस उपेक्षा का फल यह हुआ कि, जन साधारण वर्द्धमान को भूल-सा गया। और, यद्यपि कल्पसूत्र में सब से अधिक विवरण महावीर स्वामी का ही है तथा उनके ही जीवन-चरित्र संस्कृत और प्राकृत में सब से अधिक लिखे गये तथापि स्वाध्याय की ओर विमुख होने से स्वयं जैन-समाज अपने अन्तिम तीर्थंकर को विस्मृत करने लगा। उनका जन्मदिन चैत्र शुक्ल १३ लोग भूल गये और पर्युषण-पर्व में चौथे दिन के दोपहर को जब कल्पसूत्र के व्याख्यान में भगवान् की जन्म-कथा आती है, तो लोग उसी को भगवान् का जन्म दिन मानने लगे। हमारे गुरु महाराज परम श्रद्धेय आचार्य विजय धर्म सूरि ने इस काल में पहले-पहल चैत्र शुक्ल १३ को जन्मोत्सव मनाने का प्रचार काशी से प्रारम्भ किया।

जैनों के सामाजिक जीवन में जो ऊहापोह विगत २॥ हजार वर्षों में हुए, उससे जैन भगवान् का जन्मस्थान और निर्वाण-स्थान भी भूल गये। बौद्ध-धर्म भारतभूमि में सैकड़ों वर्षों तक विलुप्त रहा पर, उसके तीर्थ आज भी स्पष्ट और प्रकट हैं, पर जैन जो भारत में ही बने रहे, अपने तीर्थों को ही भूल बैठे। आज भी कितनी ही गुत्थियाँ शेष हैं जो स्पष्ट नहीं हुईं। कारण यह कि यहाँ पुरातत्त्व का संघटन ही बौद्ध-ग्रंथों के आधार पर हुआ। और, जब स्वराज्य के बाद अपनी सरकार आयी, तब उसने भी पुरानी ही नीव कायम रखी और जैन-स्थलों की खोज की ओर न तो उसने कुछ किया और न हमारे कोट्याधिपति जैन-श्रावकों ने ही।

जैन-धर्म का अच्छा और विशद वर्णन (सर यदुनाथ सरकार का अनुवाद, भाग ३, अध्याय ५, पृष्ठ १६८) मध्य काल में पहले-पहल आइने-अकबरी में अबुलफजल ने किया। उसके बाद जब पाश्चात्य आये तो उन्होंने यहाँ परिश्रम से विभिन्न धर्मों के सबंध में अध्ययन प्रारम्भ किया। पहले तो उन्होंने जैन-धर्म को बौद्धों का ही अंग माना पर ज्यों ही उनकी पैठ [illegible] हुई, उन्हें अपनी भूल मालूम हो गयी। वस्तुतः उन

पाश्चात्य विद्वानो के ही अध्ययन और खोज का यह फल हुआ कि भारत मे भी जैन-धर्म के सम्बन्ध में और भगवान् महावीर के सम्बन्ध मे प्राय. सभी भारतीय भाषाओ मे कितनी ही पुस्तकें लिखी गयी। मैंने सहायक-ग्रन्थों की सूची मे कुछ महावीर-चरित्रो के नाम दे दिये हैं।

इतने महावीर-चरित्र के होने के बावजूद मुझे बहुत वर्षों से महावीर-चरित्र लिखने की प्रबल इच्छा रही। इसका कारण यह था कि, सस्कृत और प्राकृत तो आज का जनभाषा न रही और मूल धर्म-शास्त्रो मे भगवान् की जीवन कथा बिखरी पडी है। अत. मैं चाहता था कि हिन्दी मे मैं एक ऐसा जीवन प्रस्तुत करूँ, जिसमें जहाँ एक ओर ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन हो, वही शका वाले स्थलो के समस्त प्रसग एक स्थान पर एकत्र हो।

भगवान् के जीवन मे अपनी रुचि के ही कारण, पहले मैंने भगवान् के जन्मस्थान की खोज के सम्बन्ध में 'वैशाली' लिखी। फिर छद्मस्थकालीन विहार-स्थलो के सम्बन्ध मे 'वीर-विहार-मीमासा' प्रकाशित करायी। उनके गुजराती मे द्वितीय सस्करण भी छपे। और, यह अब महावीर की जीवन-कथा का प्रथम खड आपके हाथ मे है। यह पुस्तक कैसी बनी, यह तो पाठक ही जाने, पर मैं तो कहूँगा कि यदि आपकी एक शका का भी समाधान इस पुस्तक से हुआ, अथवा जैन-शास्त्रो की ओर अपनी रुचि आकृष्ट करने मे किसी प्रकार यह पुस्तक सहायक रही, तो मैं कहूँगा कि मेरा नगण्य परिश्रम भी पूर्ण सफल रहा।

प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करने मे हमे जिनसे सहायता मिली उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। श्री भोगीलाल लहेरचन्द की 'वसति' मे रहकर निर्विघ्नतापूर्वक मुझे तीर्थंकर महावीर का यह प्रथम भाग पूरा करने का अवसर मिला। यदि स्थान की यह सुविधा मुझे न मिली होती, तो सम्भवत मेरे जीवन मे यह कार्य पूरा न हो पाता।

मेरे इस साहित्यिक काम मे मेरे उपदेश से श्री चिमनलाल मोहनलाल झवेरी, श्री वाडीलाल मनसुखलाल पारेख तथा श्री पोपटलाल भीखाचन्द झवेरी सदैव हर तरह से मेरी सहायता करते रहे।

मेरे इस सशोधन-कार्य मे मुझे चार वर्ष लगे। इस वीच कितने ही सदर्भ-ग्रन्थो की तथा अन्य सामग्रियो की आवश्यकता पडती रही। भक्त श्रावको ने उसे पूरी की, अन्यथा मेरे-सरीखा अनागार साधु क्या कर पाता। सभी को मेरा धर्मलाभ।

इन चार वर्षों मे काम तो चलता रहा, पर वम्वई की जलवायु अनुकूल न होने के कारण मैं कई वार वीमार पडा। वम्वई-अस्पताल के आयुर्वेद-विभाग के प्रधान चिकित्सक श्री कन्हैयालाल भेडा वरावर निस्वार्थ भाव से मेरी चिकित्सा करते रहे। उन्हे मेरा आशीर्वाद।

श्री काशीनाथ सराक विगत २२ वर्षों से मेरे साथ निरन्तर रह रहे हैं और इस वृद्धावस्था मे मेरे हाथ-पाँव हैं। विनीत शिष्य से भी अधिक भक्ति और श्रद्धा से वह मेरी उचित सेवा करते रहे हैं। मैं अत करणपूर्वक चाहता हूँ कि शासन-देव उनको सहायक वनें।

इस शोधकार्य में श्री ज्ञानचन्द्र विगत ४ वर्षों मे वरावर मेरे साथ रहे। प्रस्तुत पुस्तक को रग-रूप देने मे उन्होंने जो सहायता की तथा समय-समय पर वे मुझे जो साहित्यिक और उपयोगी सूचनाएँ और परामर्श देते रहे, उसके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाये वह थोडा है।

श्री गौडीजी ज्ञानभडार वम्वई तथा जैन-साहित्य-विकास-मण्डल, अधेरी ने अपनी पुस्तको को उपयोग करने की जो सुविधा मुझे दी, उसके लिए धन्यवाद।

जिन लेखकों की पुस्तकों का उपयोग मैंने किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

c/o श्री भोगीलाल लहेरचन्द
अधेरी, वम्वई ५८
वीर सवत् २४८६, विजयादशमी २०१७ वि०
धर्म-सवत् ३९

—विजयेन्द्रसूरि

स्वर्गीय शास्त्रविशारद जैनाचार्य

श्री विजयधर्म सूरीश्वर जी
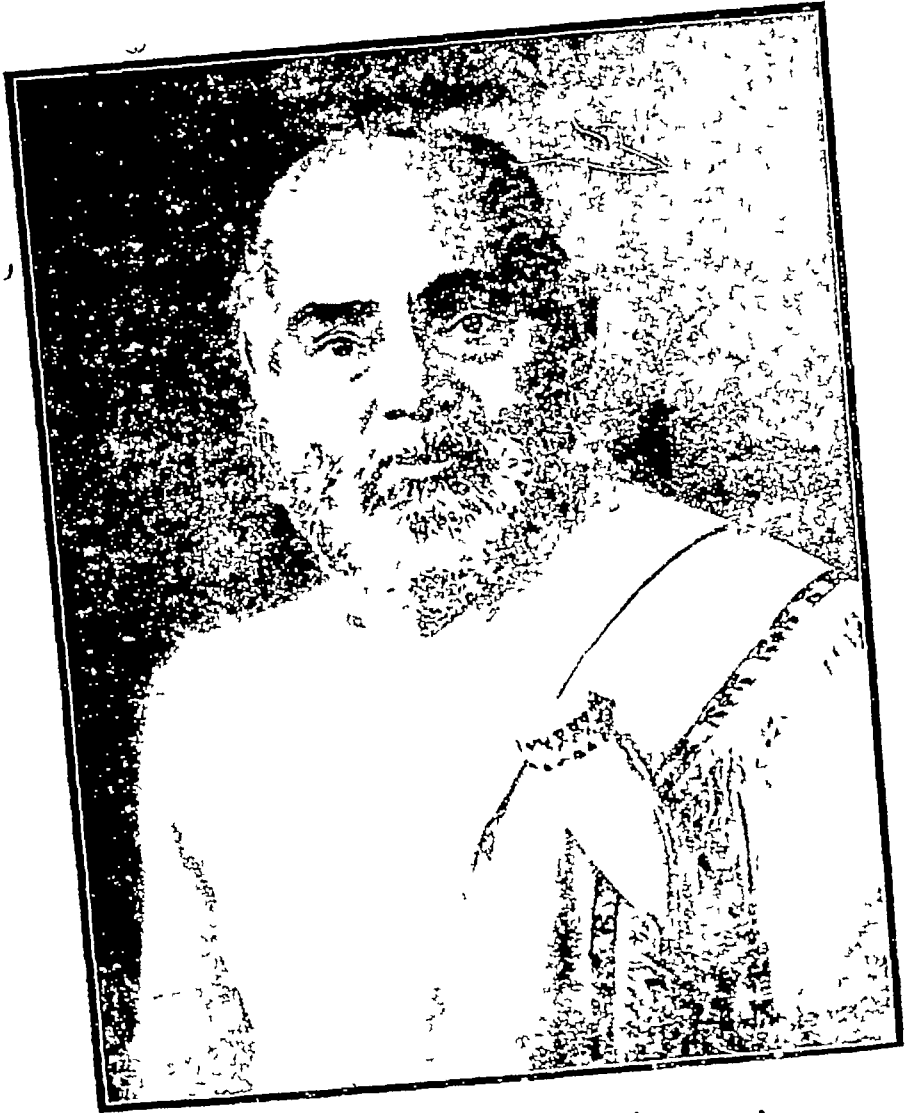
विश्वाभिरूपगण सत्कृत मेधिरत्व !
विद्याप्रचारक ! मुनीन्द्र ! जगद्धितैषिन् !
भक्त्याऽर्पयामि भगवन् ! भवतेऽभिवन्द्य .
स्वल्पामिमां कृतिमनल्प ऋणानुबद्ध. ॥

—विजयेन्द्र सूरि

दो शब्द

सन् १९३८ की बात है। आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि जी आगरा से विहार कर के कलकत्ते जा रहे थे और चातुर्मास विताने के लिए रघुनाथपुर (पुरुलिया) मे ठहरे थे। मेरा मकान वहाँ से ४ मील दूर सिकराटाँड नामक गाँव मे है। मैं प्राय आचार्यश्री के दर्शन के लिए रघुनाथपुर जाया करता था। शनै शनै परिचय बढा और मुझे उनके सान्निध्य मे रहने का अवसर मिला। तब से निरन्तर मैं आचार्यश्री के साथ हूँ।

कलकत्ते से लौटकर शिवपुरी (ग्वालियर) जाते हुए, आचार्यश्री वैशाली गये। वहाँ तीन दिनो तक वे ठहरे। वहाँ उन्होंने निकटवर्ती क्षेत्रो का तथा भगवान् महावीर की जन्मभूमि का निरीक्षण किया।

शास्त्रो मे वर्णित भगवान् महावीर के जन्म-स्थान की जो सगति वैशाली के निकटवर्ती स्थलो से बैठी, उसे देखकर आचार्यश्री के हृदय मे इच्छा हुई कि भगवान् के मूल जन्म-स्थान का प्रचार विस्तृत पैमाने पर किया जाना चाहिए—जो पृथक-पृथक स्थापना-तीर्थों के स्थापित होने से विस्मृत-सा हो गया है। यह सतोष की बात है कि आचार्यश्री के उस प्रचार का यह फल हुआ कि अब जैनो मे पढे-लिखे लोग महावीर के असली जन्मस्थान को जान गये और इस विस्मृत तीर्थ का उद्धार होने लगा है।

आचार्यश्री ने अपना वर्षावास उसके बाद क्रमश शिवपुरी, लश्कर, दिल्ली, सनखतरा (जन्म-स्थान) मे बिताया और वे फिर दिल्ली आये।

दिल्ली आने पर सुविधा मिलते ही, उन्होने अपनी 'वैशाली' नामक पुस्तक लिखी इस पुस्तक के सम्बन्ध मे विख्यात पाश्चात्य विद्वान डा० टामस ने लिखा था—

"अनुसधान-कार्य करनेवाले लोगो के लिए यह पुस्तक एक आदर्श है।"

डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने इस पुस्तक के सम्बन्ध मे सम्मति-रूप मे दो शब्द लिख कर इसे सम्मानित किया था।

और, फिर भगवान् के जीवन से सम्बद्ध स्थानो की खोज करके आचार्यश्री ने अपनी दूसरी पुस्तक 'वीर-विहार-मीमासा' लिखी।

इन दोनो पुस्तको के प्रकाशन से रूढिवादी जैन-जगत मे बडा तहलका-सा मच गया। आचार्यश्री से अनुरोध किया गया कि वे अपनी पुस्तकें वापस ले लें और उनका प्रचार रोक दें। पर, आचार्यश्री एक सच्चे साधु और सत्यान्वेषक के रूप मे अडिग बने रहे।

वस्तुतः यही तीर्थंकर महावीर' लिखे जाने की पूर्वपीठिका थी।

भगवान् महावीर के जीवन-सम्बन्धी अपने भौगोलिक अनुसधानो को समाप्त करने के बाद, आचार्यश्री भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र लिखने के लिए प्रयत्नशील हुए। उनका विचार, उसमे जहाँ भगवान् के जीवन-सम्बन्धी ऐतिहासिक विवेचनो की ओर था, वही वे यह भी चाहते थे, उनके जीवन के सम्बन्ध मे विवाह आदि विवादग्रस्त स्थलो से सम्बन्धित समस्त प्रमाण आदि एकत्र करके पुस्तक को विश्व-कोष का ऐसा रूप दिया जाये, जो भावी अनुसधानकर्ताओ के लिए सहायक सिद्ध हो सके। इस विपद् कार्य में जो व्यय पडनेवाला था, उसकी सुविधा उन्हें दिल्ली मे प्राप्त न हो सकी। इसी बीच बम्बई के एक सेठ एक दिन आचार्यश्री के निकट वदना करने आये। आचार्यश्री की योजना सुनकर उन्होंने आचार्यश्री को बम्बई पधारने की विनती की और आश्वासन दिया कि आचार्यश्री को अपने काम के लिए समस्त सुविधाएँ बबई मे प्राप्त हो जाएँगी।

उनकी विनती स्वीकार करके आचार्यश्री ने ४ दिसम्बर १९५५ को दिल्ली से विहार किया और १४ जुलाई १९५६ को दिल्ली से बम्बई तक की पैदल यात्रा इस लम्बी उम्र में पूरी की और अपना चातुर्मास उन्होंने भायखला मे किया।

भायखला मे महीनों बीत गये, पर काम करने की जो लालसा लेकर

आचार्यश्री बम्बई आये थे, उसे पूरा होने का कोई लक्षण दिखलायी नही पडा। इतना ही नही, आचार्यश्री को यह भी आभास हुआ कि काम करने की सुविधा को कौन कहे, उन्हे परस्पर की गुटबदी में खीचा जा रहा है।

अत आचार्यश्री ने अपना काम स्वतन्त्र रूप से करने का निश्चय किया। उन्होंने गुजराती 'वैशाली' प्रकाशित करायी तथा हिन्दी 'वैशाली' का दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। इन ग्रथो की अनुसधान-पत्रिकाओ, रेडियो तथा विद्वानो ने मुक्तकठ से प्रशसा की।

उसके बाद आचार्यश्री ने तीर्थंकर महावीर मे हाथ लगाया। इस बृहत् अनुसधान के लिए कितनी पुस्तकें, कितना धन और कितना परिश्रम वाछनीय था, यह पुस्तक देख कर पाठक स्वय अनुमान लगा ले सकते हैं। इस दृष्टि से जिन लोगो ने हमारी सहायता की, उनकी सूची हमने दे दी है। इस बीच तीन बार आचार्यश्री अत्यन्त रुग्ण भी हुए। पर, इससे न तो उन्होने हिम्मत हारी और न एक दिन के लिए अपना काम ही बन्द किया।

सक्षेप में यह प्रस्तुत पुस्तक का इतिहास है।

प्रस्तुत पुस्तक मे हमें कितने ही लोगो से सहायता मिली है। उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकट न करना वस्तुत कृतघ्नता होगी।

श्री मोतीशा जैन-ट्रस्ट के (भायखाला, बम्बई) समस्त ट्रस्टियो ने हमारी जिस प्रकार हृदय से सहायता की वह स्तुत्य है। यदि उनकी सहृदयता मे किंचित कमी होती, तो शायद प्रस्तुत पुस्तक इतनी जल्दी आपके हाथो में न पहुँच पाती।

धन्यवाद के अधिकारी लोगो मे हम उन लोगो के भी हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने काफी प्रतियो के लिए ग्राहक बन कर हमें इस प्रकाशन के लिए उत्साहित किया। ऐसे लोगो मे हम लाला शादीलाल जैन (अमृतसर), श्री वाडीलाल मनसुखलाल पारेख, श्री पोपटलाल भीखाभाई झवेरी, श्री अमृतलाल कालिदास दोशी, श्री माणिकलाल सरूपचद्र शाह, श्री मूलचन्द वाडीलाल शाह, श्री जयसिहभाई उगरचन्द्र अहमदावाद, श्री कपूरचन्द

हीराजी सोलकी तथा श्री देवराज गणपत के प्रति आभार-प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझते है।

इन व्यक्तियो के अतिरिक्त कुछ सस्थाओ ने भी ग्राहक वन कर हमे प्रोत्साहित किया है। ऐसी सस्थाओ मे हम आदीश्वर जैन मदिर ट्रस्ट पायधुनी, नगीनदास कर्मचन्द्र जैन पौपवशाला, अन्वेरी, (वम्वई), हेमचन्द्र जैन सभा पाटन, जैन-सघ कर्नूल के प्रति विशेप रूप से आभारी है।

साथ में दिये चित्रो के सम्वन्ध मे दो शव्द कह दें। पुस्तक के प्रारम्भ मे महावीर स्वामी का जो चित्र है, वह ककाली टीला (मथुरा) मे प्राप्त एक गुप्तकालीन मूर्ति का फोटो है।

पुस्तक के अत मे दिये चित्रो मे प्रथम ऋपभदेव का और द्वितीय वर्द्धमान भगवान का जो चित्र है, वह कल्पसूत्र की एक हस्तलिखित प्रति का है। वह प्रति आचार्यश्री के सग्रह मे थी और आचार्यश्री ने उसे नेशनल म्यूजियम दिल्ली को भेंट कर दिया। यह कल्पसूत्र म्यूजियम में प्रदर्शित है।

तीसरा चित्र गर्भापहार के प्रसग का है। उसमें हरिणेगमेपी वना है। वह ककाली टीला (मथुरा) मे प्राप्त एक कुपाण-कालीन मूर्ति का फोटो है।

और, चौथा चित्र वर्द्धमान भगवान् का है। यह भी कुपाण-कालीन एक मूर्ति का फोटो है। यह मूर्ति लखनऊ-संग्रहालय मे सुरक्षित है। इसके लिए हम पुरातत्व-विभाग के आभारी हैं।

यशोधर्म मदिर
१६६ मर्जवान रोड,
अधेरी, वम्वई ५८
विजयादशमी १६६०

काशीनाथ सराफ

सहायक-सूची

१ श्री चन्द्रप्रभु-जैन-मदिर ट्रस्ट, सैंडर्स्ट रोड, बम्बई
२ ,, वाडीलाल मनसुखलाल पारेख (कपडवज)
३ ,, पोपटलाल भीखाचद (पाटण)
४ ,, चिमनलाल मोहनलाल झवेरी (बम्बई)
५ ,, टेकचन्द सिंघी (सिरोही)
६ ,, वीरूभाई गिरधरलाल कोठारी (राधनपुर)
७ ,, माणिकलाल स्वरूपचन्द (पाटण)
८ ,, भीखमचन्द चेलाजी (मारवाड)
९ ,, हरिदास सौभाग्यचन्द (वेरावल)
१० ,, गेंनमल मनरूपजी (तखतगढ)
११ ,, भीमाजी देवचन्द (खिवाणदी)
१२ ,, रामाजी सरेमल (तखतगढ)
१३ ,, मोतीलाल किलाचन्द (पाटण)
१४ ,, वावूभाई फकीरचद (सूरत)
१५ ,, चन्दूलाल खुशहालचन्द (बीजापुर, राजपूताना)
१६ ,, रणछोडभाई रायचन्द वकील (सूरत)
१७ ,, हरपचन्द वीरचन्द गाँधी (महुवा)
१८ ,, नानजी रामजी (बम्बई)
१९ ,, प्रेमजी भीमजी (वेरावल)
२० ,, बालचद ईश्वरदास (राधनपुर)
२१ ,, नरभेराम जूठाभाई (चलाला)
२२ डा० छोटेलाल नवलचन्द (बम्बई)
२३ श्री सौभाग्यचन्द कुंवरजी वारैया (महुवा)
२४ ,, मानमल पूनमचन्द (तखतगढ)

२५ श्री फौजमल नगाजी (तखतगढ)
२६ ,, रायचन्द गुलाबचन्द (गोंचाणदी)
२७ ,, नवनीतलाल मणिलाल (पाटण)
२८ ,, भोगीलाल अनूपचन्द (पाटण)
२९ ,, मनीलाल मगनलाल (पाटण)
३० ,, माणिकलाल हरखचन्द मास्टर (वेरावल)
३१ ,, गिरधरलाल साकरचन्द (गुजरात)
३२ ,, खूबचन्द सरूपचन्द (पाटण)
३३ ,, जसराज सरदारमल (तखतगढ)
३४ ,, मावजी दामजी शाह (भावनगर)
३५ ,, राजमल पुखराजजी सघवी (तखतगढ)
३६ श्रीमती कलावती फतेहचन्द (सूरत)
३७ श्री त्रिकमलाल मगनलाल वीरवाडिया (राधनपुर)
३८ ,, डा० चौथमल बालचन्द जैन (शिवगंज)
३९ ,, न्यालचन्द फौजमल शाह (शिवगज)
४० ,, जयसिंहभाई उगरचन्द (अहमदाबाद)
४१ ,, छोगमल एन० शाह (सिरोही)
४२ ,, प्रभुलाल ताराचद (बीजापुर)
४३ ,, हिम्मतमल छोगमल (लोणावा)
४४ ,, मोतीलाल नवलाजी (खिवाणदी)
४५ ,, रूपचद भसाली (पाली)
४६ ,, भगत चिमनाजी (बाली)
४७ ,, नन्दलाल जूठाभाई (चलाला)
४८ ,, चदूलाल बालाभाई वकील (बम्बई)
४९ ,, रतीलाल फूलचन्द मेहता (पालीताणा)
५० ,, अन्धेरी सघ की बहिनो की ओर से
५१ ,, राजेन्द्रकुमार, (बम्बई)

सहायक ग्रन्थ

जैन-आगम

अङ्ग

आचाराग सूत्र—शीलाकाचार्य वृत्ति युक्त भाग १, २। (सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई)

आचाराग सूत्र—टीका दीपिका सहित सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का मुर्शिदाबाद, स० १९३६ वि०)

श्री आचारागचूर्णि—जिनदासगणि महत्तर-रचित
(श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम)

आचाराग सूत्र—जैकोबी-कृत अग्रेजी अनुवाद, (सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट, वाल्यूम २२, १८८४ ई०)

आचाराग सूत्र—गुजरातीअ-नुवाद सहित, अनु. प्रो. रवजीभाई देवराज (राजकोट, १९०६)

आचाराग सूत्र—प्रथम श्रुतस्कध हिन्दी अनुवाद सहित, अनु मुनि सौभाग्यमलजी (उज्जैन)

श्रीमत्सूत्रकृतागम्—भद्रबाहु स्वामि-निर्मित निर्युक्ति तथा शीलाकाचार्य विहित विवरण युक्त, भाग १, २ (गौडीजी, बम्बई)

श्री सूयगडाग सूत्र—टीका दीपिका सहित सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, स० १९३६ वि०)

सूत्रकृताग जैकोबी कृत अग्रेजी अनुवाद (सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट, वाल्यूम ४५, १८९५ ई०)

सूयगड डा० पी० एल० वैद्य-सम्पादित (पूना)

श्रीमत्स्थानाग सूत्र—अभयदेव सूरि-विवरण युक्त (भाग १, २ (आगमोदय समिति, स० १९७५-१९७६ वि०)

स्थानागसूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, सन् १८८० ई०)

स्थानाग सूत्र—टीका के अनुवाद सहित (अष्टकोटी बृहद्पक्षीय संघ, मुद्रा, कच्छ, वि० सं० २००८)

श्रीमत् समवायाग सूत्रम्—अभयदेव सूरि टीका सहित (मास्टर नगीनदास नेमचंद्र, अहमदाबाद)

श्री समवायाग सूत्र—मूल तथा गुजराती अनुवाद (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

श्री समवायाग सूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, सन् १८८० ई०)

स्थानाग-समवायाग—(गुजराती) सम्पादक दलसुख मालवणिया, (गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)

श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति—अभयदेव वृत्ति सहित, भाग १, २, ३ (रतलाम)

श्रीभगवतीसूत्रम्, दानशेखर गणि कृत टीका (ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम)

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्—खंड १, २ पं० बेचरदास-सम्पादित तथा अनूदित

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्—खंड ३, ४ भगवान्दास हरखचंद दोशी-सम्पादित तथा अनूदित ।

श्रीमत्भगवती सूत्र—१५-वाँ शतक (बम्बई)

श्री ज्ञाताधर्मकथा—सटीक (आगमोदय समिति)

श्री ज्ञाताधर्मकथाग—अभयदेवसूरि-कृत टीका सहित, भाग १, २ (सिद्धचक्र समिति, बम्बई)

नायाधम्मकहाओ—एन० वी० वैद्य-सम्पादित (पूना)

भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ—अनु० पं० बेचरदास दोशी (गुजरात-विद्यापीठ, अहमदाबाद)

उवासगदसाओ—अभयदेवसूरि की टीका सहित (भगवानदास हर्षचंद)

उवासगदसाओ—डा० पी० एल० वैद्य-सम्पादित (पूना)

उवासगदसाओ—गोरे-सम्पादित (पूना)
उवासगदसाओ—ए० एफ० रुडोल्फ हार्नेल-सम्पादित तथा अनूदित (अँग्रेजी) (बिब्लियाथिका इडिका, एशियाटिक सोसाइटी, बगाल, १८६० ई०)
अतगडदसाओ—म० चि० मोदी-सम्पादित
अतगडदसाओ—पी० एल० वैद्य-सम्पादित
अतगडदसाओ—एन० वी० वैद्य-सम्पादित
अतगडदसाओ ..एल० डी० बार्नेट-अनूदित (रायल एशियाटिक सोसाइटी, लदन १६०७ ई०)
अनुत्तरोपपातिक दशा—अभयदेवसूरि-टीका सहित (आत्मानद-जैन-सभा, भावनगर)
अणुत्तरोववाइय—म० चि० मोदी-सम्पादित (अहमदाबाद)
अणुत्तरोववाइय—पी० एल० वैद्य-सपादित
अणुत्तरोववाइय—एन० वी० वैद्य-सम्पादित (पूना)
अणुत्तरोववाइय सूत्र अग्रेजी अनुवाद, अनु० बार्नेट, लदन ।
प्रश्नव्याकरण अभयदेवसूरी टीकायुत (आगमोदय समिति, १६७५ वि०)
विवागसूय—चौकसी-मोदी-सम्पादित (गुर्जर ग्रथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद)
विवागसूय—डा० पी० एल० वैद्य-सम्पादित (पूना)

उपांग

औपपातिक सूत्र—अभयदेव की टीका सहित (सूरत, स० १६६४ वि०)
ओववाइयसुत्त—सुरू-सम्पादित (पूना)
श्री रायपसेणइयसुत्त—सटीक (आगमोदय समिति)
श्री रायपसेनी—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का)
श्री रायपसेणइयसुत्त—सटीक तथा सानुवाद अनु० प० बेचरदास जीवराज दोशी (गुर्जर ग्रथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद)
रायपसेणिज्जम्—एन० वी० वैद्य-सपादित (अहमदाबाद)

जीवाजीवाभिगम सूत्र—मलयगिरि की टीका सहित (देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार समिति, स० १९७५ वि०)

जीवाजीवाभिगम सूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का)

प्रज्ञापना सूत्रम्—मलयगिरि विवरण युत, २ भाग (आगमोदय समिति, १९१८ ई०)

पनवणा सूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, सन् १८८४ ई०)

प्रज्ञापनोपाग—हरिभद्रसूरि सूत्रित २ भाग (रतलाम)

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—शातिचन्द्र गणि-विहित वृत्ति युत, भाग १ २, (देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार समिति, वि १९७६ वि)

निरयावलियावो—श्रीचद्रसूरि विरचित विवरण युत, (आगमोदय समिति) १९२२ ई०

निरयावलियाओ—मूल और टीका के अर्थ सहित (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९९० वि०)

निरयावलियाओ—डा. पी एल वैद्य-सम्पादित (पूना)

निरयावलियाओ—आचार्य घासीरामजी-सम्पादित तथा अनूदित (राजकोट, स. २००४ वि)

छेदसूत्र

निशिथ सूत्र चूर्णि-टीका सहित ४ भाग (सन्मति प्रकाशन, आगरा)

निशीथ चूर्णि (साइकिलोस्टाइल-प्रति)

वृहत्कल्पसूत्र—निर्युक्ति भाष्य, टीका-सहित ६ भाग (आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर।

वृहत्कल्प मुनिहस्तीमल-सम्पादित

व्यवहार सूत्र—मलयगिरि की टीका सहित, दो भाग (१९२६ ई०)

नदीसूत्र—देववाचक क्षमाश्रमण, मलयगिरि की टीका सहित (आगमोदय समिति १९२४ ई०)

अणुयोगद्वार—मलधारी हेमचन्द्र की टीका सहित, (आगमोदय समिति)

अणुयोगद्वार चूर्णि—(इन्दौर, १९२८ वि०)

मूल सूत्र

उत्तराध्ययन चूर्णि (सूरत)

उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य की टीका सहित, २ भाग (देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फड, सूरत)

उत्तराध्ययन नेमिचन्द्राचार्य विरचित टीका सहित (बलाद)

उत्तराध्ययन भावविजय की टीका सहित २ भाग (आत्मानदसभा, भावनगर)

उत्तराध्ययन कमलसयमी टीका सहित ४ भाग (विजय धर्मलक्ष्मी ज्ञान-मदिर, आगरा)

उत्तराध्ययन टीका के अनुवाद सहित (भावनगर)

उत्तराध्ययनसूत्र जार्ल-कार्पेंटियर-सम्पादित (उपसाला, स्वीडेन)

उत्तराध्ययन सानुवाद (स्था०) आचार्य आत्मारामजी ३ भाग (लुधियाना)

आवस्सयनिज्जुत्ति सस्कृत छाया सहित (अपूर्ण यशोविजय ग्रथमाला, भावनगर)

आवश्यकचूर्णि, २ भाग (रतलाम, १९२८)

आवश्यक निर्युक्ति हारियद्रीय टीका सहित ३ भाग (सूरत)

आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरी की टीका सहित ३ भाग (आगमोदय समिति)

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका ३ भाग (सूरत)

हारिभद्रियावश्यक वृत्ति टिप्पणकम् मलधारी हेमचन्द्र-रचित (सूरत)

विशेषावश्यक भाष्य टीका सहित (यशोविजय ग्रथमाला, वाराणसी)

दशवैकालिक टीका-दीपिका तथा अनुवाद सहित (बाबू धनपत सिंह, १९०० ई०)

श्रीदशवैकालिक हरिभद्र की टीका सहित (देवचद लालभाई,)

श्रीदशवैकालिक सुमतिसाधु की टीका सहित (देवचन्द लालभाई)

दशवैकालिक समयसुन्दर की टीका सहित (खम्भात)

दशवैकालिक सूत्रम् सावचूरी सच्छायाम् (सतारा)

दशवैकालिक चूर्णि, जिनदास गणिकृत

दसवेयालियसुत्त डा० अर्नेस्ट ल्यूमैन-सम्पादित

दसवैकालिकसूत्रम के० वी० अभ्यंकर-सम्पादित (अहमदाबाद)

पिंडनिर्युक्ति क्षमारत्नसूरित (देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड)

श्रीपिंड निर्युक्ति मलयगिरि की टीका-सहित (देवचंद लालभाई जैन पुस्तोकद्धार संस्था, १९१८ ई०)

चुल्लकल्पसूत्र जिनप्रभ सूरि कृत संदेह विषौषधि टीका (प. श्रावक हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९१३)

कल्पसूत्र किरणावलि (आत्मानंद जैन सभा, भावनगर, सन् १९२२)

कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका (मुक्ति कमल जैन मोहनमाला कार्यालय, वडोदा, स १९५४ ई०)

पवित्र कल्पसूत्र, चूर्णि, निर्युक्ति, टिप्पणि तथा पाठांतर सहित (साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद)

कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी राजेन्द्र सूरि कृत (राजेन्द्रप्रवचन कार्यालय, खुडाला १९३३ ई०)

कल्पसूत्र बंगला अनुवाद डा० बसंतकुमार चट्टोपाध्याय (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

कल्पसूत्र जैकोबी कृत अंग्रेजी अनुवाद (सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट, वाल्यूम २२)

कल्पसूत्र मूल जैकोबी-सम्पादित (रोमन-लिपि मे, लिपजिग, १८७९ ई०)

अष्टाह्निका - कल्प - सुबोधिका (गुजराती, सम्पादक साराभाई मणिलाल नवाब, सन १९५३ ई०)

अन्य जैन-ग्रन्थ

प्रवचन सारोद्धार सटीक २ भाग (देवचंद लालभाई फंड)

लोकप्रकाश २ भाग भाषांतर सहित (श्रीमती आगमोदय समिति)

काललोक प्रकाश (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

लोक प्रकाश, ४ भाग (देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था)

लघुक्षेत्र समास (जैन भूगोल, मुक्ति कमल जैन मोहनमाला, बडौदा)

प्रमाण नयतत्त्व लोकालकार सटीक (यशोविजय ग्रथमाला, वीर स० २४३७)

तत्त्वार्थसूत्र (बम्बई, स० १९९६ वि०)

धर्मसंग्रह गुजराती अनुवाद सहित २ भाग (अहमदाबाद, २००९ वि०)

वृहत्सग्रहणी जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण-विरचिता तथा मलयगिरी विरचित वृत्ति सहिता (आत्मानद जैन सभा, भावनगर, स. १९७३ वि०)

सग्रहणी श्रीचद्रसूरि-प्रणीत, गुजराती अनुवाद सहित (मुक्ति कमल जैन मोहन माला, बडौदा १९४३ वि०)

हीरप्रश्न गुजराती अनुवाद, (मुक्ताबाई ज्ञानमदिर, डभोई, १९४३ ई०)

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

एकविंशतिस्थान प्रकरण सिद्धसेन सूरि-विरचित , सटीक (खीमचद फूलचद मु० सिनोर, सन् १९२४ ई०)

तिलोयपण्णत्ति

निर्वाणभक्ति

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

विविधतीर्थकल्प (सिंघी जैन सीरीज)

त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र

महावीर चरिय–नेमिचद्रसूरि कृत (आत्मानद सभा, भावनगर १९७३वि.)

महावीर चरित्र (प्राकृत)–गुणचद्र गणि कृत (देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था, १९२९ ई०)

वसुदेव हिण्डी, २ भाग (आत्मानद जैन सभा, भावनगर)

वसुदेव हिंडी (गुजराती, भाषातरकार—डा० भोगीलाल साडेसरा)

पार्श्वनाथ चरित्र–भावदेव सूरि कृत (यशोविजय ग्रथमाला, वाराणसी)

पार्श्वनाथ चरित्र–हेमविजय गणि कृत (मोहनलालजी जैन ग्रथमाला, वाराणसी, १९१६ ई०)

पासनाह चरिय—देवभद्र सूरि कृत (मणिविजय गणि ग्रन्थमाला, लीच, गुजरात, १९४५ ई)

पृथ्वीचद्र चरित्र—लब्धिसागर सूरि-कृत ।

कुमारपाल चरित्र—हेमचद्राचार्य-रचित (वाम्बे सस्कृत सीरीज)

पद्मानद महाकाव्य—अमरचद्र सूरि कृत (गायकवाड ओरियटल सीरीज, वडौदा)

जैन-चित्र-कल्पद्रुम (सम्पादक साराभाई नवाव, सन् १९३६ ई०)

सुपासनाह चरियं—लक्ष्मण गणि विरचित (जैन विविध साहित्य शास्त्र माला, वाराणसी, १९१९ ई०)

पद्मचरित—रविषेणाचार्य कृत, ३ भाग (माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, १९८५ वि०)

पउमचरिय—विमलसूरि-रचित (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९१४ ई०)

हरिवश पुराण—जिनसेन सूरि-कृत, २ भाग (माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थ-माला, ववई)

वरागचरितं—जटासिंह नन्दि-विरचित (सपादक ए एन उपाध्याय, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला, ववई)

उत्तरपुराण—आचार्यगुणभद्र-रचित (मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी)।

दशभक्ति—आचार्य पूज्यपाद विरचित ।

वर्द्धमान-चरित्र—असग-रचित ।

भरतेश्वर वाहुवलि वृत्ति २ भाग, (देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फड, १९३३)

ऋषिमडल प्रकरण वृत्ति सहित (वलाद, १९३९ ई०)

अग्रेजी

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र ४ भाग (अग्रेजी-अनुवाद) एलेन जानसन, वडोदा ओरियटल सिरीज

आन द' इडियन सेक्ट आव द' जैनाज़—वूलर-लिखित अग्रेजी अनुवाद (लदन १९०३)

द' जैन स्तूप एंड अदर एंटीक्विटीज आव मथुरा (मथुरा ऐंटीक्विटीज, न्यू इम्पीरियल सिरीज) वी० ए० स्मिथ-लिखित।

हार्ट आव जैनिज्म—श्रीमती स्टीवेंसन-लिखित (लंदन)

आउटलाइन आव जैनिज्म द्वितीयावृत्ति जे० एल० जैनी-लिखित (लंदन)

जैनिस्ट स्टडीज–ओटोस्टीन–लिखित (गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद)

स्टडीज इन जैनिज्म भाग १, डा० हर्मन याकोबी-लिखित (गुर्जर ग्रंथ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद)

हिस्ट्री आव द' कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज (अंग्रजी) हीरालाल रसिकदास कापड़िया (सूरत, १९४१)

विविधि

राजेन्द्र-सूरि-स्मारक-ग्रंथ (२०१३ वि०)

अज्ञानतिमिरभास्कर-विजयानंद सूरि-रचित (भावनगर)

जैन-दर्शन—न्यायतीर्थ न्यायविजय जी कृत—(श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन)

प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग १, आचार्य विजयधर्म सूरि-सम्पादित

चर्चासागर, चम्पालाल कृत

वीर-विहार-मीमांसा (हिन्दी) विजयेन्द्र सूरि-लिखित, यशोधर्म मन्दिर, बम्बई

वैशाली (हिन्दी, द्वितीयावृत्ति) विजयेन्द्र सूरि-लिखित, यशोधर्म मंदिर, बम्बई

क्षत्रियकुंड (गुजराती) मुनि दर्शन विजय त्रिपुटी-लिखित (जैन प्राच्य विद्याभवन, अहमदाबाद)

आगमोनु दिग्दर्शन (गुजराती) प्रो० हीरालाल कापडिया-लिखित (भावनगर)

जैन साहित्य और इतिहास (हिन्दी, द्वितीयावृत्ति) नाथूराम प्रेमी (बम्बई),

महावीर-चरित्र

महावीर हिज लाइफ एँड टिचिंग्स—विमलचरण ला-लिखित (अंग्रेजी) (लूजाक एँड कम्पनी, लदन, १९३७)

श्रमण भगवान् महावीर, ८ भाग, मुनि रत्नप्रभ विजय (अंग्रेजी) (श्री जैन सिद्धात सोसायटी, अहमदावाद १९५०)

श्रमण भगवान् महावीर—प० कल्याणविजय-लिखित, (हिन्दी) (श्री क वि शास्त्र सग्रह समिति, जालोर)

विश्वोद्धारक श्री महावीर—२ भाग, मफतलाल सघवी लिखित (गुजराती) (सस्कृति रक्षक सस्तु साहित्य कार्यालय, वडोदा)

श्री महावीर स्वामी चरित्र--वकील नन्दलाल लल्लुभाई-लिखित (गुजराती (मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, वडोदा)

तीर्थंकर वर्द्धमान—श्रीचन्द रामपुरिया-लिखित (हिन्दी) (हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया, सुजानगढ, वीकानेर)

भगवान् महावीर—(अंग्रेजी) मुनि श्री चौथमल-लिखित (जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम, १९४२)

भगवान् महावीर का आदर्श जीवन-(हिन्दी) मुनिश्री चौथमल-लिखित (जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम वि. स. १९८९)

भगवान् महावीर (हिन्दी) चद्रराज भंडारी-लिखित (हिन्दी-साहित्य-मदिर, वाराणमी म १९८१ वि)

भगवान् महावीर (हिन्दी) कामताप्रसाद जैन-लिखित (दिगम्बर जैन पुस्तकालय, चादवाडी, सूरत स १९२४ ई)

भगवान् महावीर (हिन्दी) कामताप्रसाद जैन-लिखित (भा दि जैन परिपद पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५१ ई)

निर्ग्रंथ भगवान् महावीर (गुजराती) जयभिक्खु-लिखित (गुर्जर ग्रथ कार्यालय, अहमदावाद १९५६ ई)

महावीर-चरित्र, असग-रचित (हिन्दी) अनुवादक —खूबचद शास्त्री (मूल-चन्द किसनदास कापडिया, सूरत, वीर स २४४४)

महावीर जीवन प्रभा (हिन्दी) आनन्दसागरजी-लिखित (वीरपुत्र आनन्दसागर ज्ञान भडार, कोटा, १९४३ ई)

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध (हिन्दी) कामता प्रसाद जैन-लिखित (जैन विजय प्रिंटिंग प्रेस, सूरत वीर स. २४५३)

सन्मति महावीर (हिन्दी) सुरेश मुनि-लिखित (सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, स. २०११ वि.)

श्रमण भगवान् श्री महावीर नु जीवन (गुजराती) प भद्रकर विजय-लिखित (कल्याण प्रकाशन मदिर, पालीताणा, स २०१३ वि)

श्रमण भगवान् महावीर (गुजराती) धीरजलाल धनजीभाई शाह (गुर्जर ग्रथ रत्न कार्यालय, अहमदावाद स २००९ वि)

श्रमण भगवान् महावीर नु सक्षिप्त जीवन-चरित्र (गुजराती) कीर्ति-विजय-लिखित (आत्म कमल लब्धिसूरीश्वर जी जैन ज्ञानमदिर, बम्बई स. २००६ वि०)

जिन तीर्थंकर महावीर (बगला) पूर्णचद्र श्यामसुखा (कलकत्ता)

चौवीस तीर्थंकर चरित्र (हिन्दी) कृष्णलाल वर्मा-लिखित (ग्रथ भडार, बम्बई, १९३५ ई०)

महावीर चरित्र, गुणचन्द्रगणि कृत का गुजराती अनुवाद (जैन आत्मा-नन्द सभा, भावनगर, वि स १९९४)

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, गुजराती अनुवाद (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

वर्द्धमान (महाकाव्य) (हिन्दी) अनूप-रचित (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५० वि०)

श्री वीरायण (महाकाव्य) (गुजराती) मूलदास मोनदास नीमावत (लाधाजी स्वामी पुस्तकालय, लिंबडी, १९५२ ई)

लार्ड महावीर, अमरचन्द-लिखित (वाराणसी)

लार्ड महावीर (ए स्टडी इन हिस्टारिकल पर्सपेक्टिव) डा. बूलचन्द-

लिखित (जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी, विश्वविद्यालय, वाराणसी)

श्री महावीर कथा (गुजराती) गोपालदास जीवाभाई पटेल-लिखित (गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, १९४१ ई)

महावीर हिज लाइफ ऐंड टीचिंग्स (अंग्रेजी) सरस्वती राघवाचारी-लिखित (जैन सस्तु साहित्य, अहमदावाद)

महावीर वर्धमान (हिन्दी) डा जगदीशचन्द्र जैन (विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद)

भगवान् श्री महावीर देव (गुजराती) (चीमनलाल नाथालाल शाह, अहमदावाद)

लार्ड महावीर (अंग्रेजी) हरिसत्य भट्टाचार्य-लिखित (हिन्दी विद्यामदिर, न्यू दिल्ली, १९३८)

महावीर (वल्लभसूरि स्मारक निधि, बम्बई ३)

महावीर स्वामी नु सक्षिप्त जीवन चरित्र (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

महावीर जीवन महिमा (हिन्दी) प वेचरदास दोशी. (आल इंडिया महावीर जयती कमेटी, दिल्ली)

बौद्ध-ग्रंथ

दीघनिकाय (पालि) ३ भाग (नालदा महाविहार, १६५८ ई०)

दीघनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) राहुल साकृत्यायन, जगदीश काश्यप (महाबोधी सभा, सारनाथ)

विनय पिटके महावग्ग (पालि) (नालदा महाविहार, १६५६)

विनय पिटके पाचित्तिय (पालि) (नालदा महाविहार, १६५८ ई०)

विनय पिटके परिवार (पालि) (नालदा महाविहार, १६५८ ई०)

विनय पिटके पाराजिक (पालि) (नालदा महावीहार, १६५८ ई०)

विनय पिटक (हिन्दी-अनुवाद) राहुल साकृत्यायन, (महाबोधि सभा, सारनाथ, १६३५ ई०)

मज्झिमनिकाय (पालि) ३ भाग (नालदा महाविहार, १६५८ ई०)

मज्झिमनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) राहुल साकृत्यायन (महाबोधि सभा, सारनाथ, १६३५ ई०)

सयुक्त निपात, २ भाग (हिन्दी-अनुवाद) जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्मरक्षित (महाबोधि सभा, सारनाथ, १६५४ ई०)

जातकट्ठ कथा, भाग १ (मूल) (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी)

निदान कथा (मूल) धम्मानद ससोधिता (आरण्यक कुटी, पूना, १६१५ ई०)

जातक (हिन्दी अनुवाद) अनु० भदत आनद कौसल्यायन (दयानद प्रेस लाहौर, १६३६ ई०)

जातक (हिन्दी-अनुवाद) ६ भाग, अनु० भदत आनद कौसल्यायन (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)

जातक (बगला-अनुवाद) ६ भाग, ईशानचद्र घोष (विश्वविद्यालय, कलकत्ता)

सुत्तनिपात (मूल) (उत्तम भिक्खु, १६३७ ई०)

सुत्तनिपात (मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद) लार्ड चाल्मर्स, (हार्वर्ड ओरियंटल सिरीज, १९३२ ई०)

सुत्त निपात (गुजराती अनुवाद)

महावस्तु—सेनार्ट-सम्पादित (मूल)

महावस्तु ३ भाग (अंग्रेजी-अनुवाद) जे० जे० जोस (लूजाक ऐंड कम्पनी, लंदन, १९४९)

महामयूरी

सुमंगलविलासिनी (दीघनिकाय की टीका) (पालि टेक्स्ट सोसायटी)

सारत्थप्पकासिनी (संयुक्त निकाय की टीका)

बुद्धचर्या (हिन्दी) राहुल सांकृत्यायन-लिखित (महाबोधि-सोसाइटी, सारनाथ)

लाइफ आव बुद्ध (अंग्रेजी) ई० जे० टामस-लिखित (लंदन १९३१)

लाइफ आव बुद्ध (अंग्रेजी) राकहिल-लिखित (लंदन, १९०७)

बुद्धिस्ट रेकार्ड इन वेस्टर्न वर्ल्ड—बील-लिखित (लंदन)

२५०० इयर्स आव बुद्धिज्म, प्रो० पी० वी० बापट-सम्पादित (पब्लिकेशन्स डिविजन, भारत सरकार, नयी दिल्ली, १९५६)

बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष, 'आजकल' वार्षिक अंक, दिसम्बर १९५६

वैदिक-ग्रंथ

ऋग्वेद (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर)

यजुर्वेद (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर)

सामवेद (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर)

अथर्ववेद, (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर)

कृष्णयजुर्वेद कीथ-कृत अंग्रेजी-अनुवाद

श्रीमद्‌भागवत महापुराण, २ भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर

मनुस्मृति मेधातिथि-भाष्य सहित (जे० आर० घारपूरे, बम्बई १९२०)

मनुस्मृति रामेश्वर भट्ट-कृत भाषा टीका सहित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६ ई०)

मनुस्मृति कुल्लूक भट्ट की टीका सहित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९)

मानव-धर्म-सूत्र—जे जाली-सम्पादित (लदन, १८८७ ई०)

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, टी आर कृष्णमाचार्य-सम्पादित २ भाग (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९०५ ई०)

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (गुजराती अनुवाद) २ भाग, सस्तु साहित्य-वर्द्धक-कार्यालय (अहमदाबाद)

महाभारत टी आर कृष्णमाचार्य आदि सम्पादित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०६ ई०)

महाभारत (भडारकर ओरियटल इस्टीटयूट, पूना)

महाभारत (गुजराती-अनुवाद) (सस्तु साहित्य-वर्द्धक-कार्यालय, अहमदाबाद)

वृहत्सहिता २ भाग सुब्रह्मण्य शास्त्री अनूदित (अंग्रेजी, बगलोर १९४७)

वृहत्सहिता (हिन्दी-अनुवाद) दुर्गाप्रसाद-अनूदित (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८९३ ई०)

शतपथ ब्राह्मण

बृहत् विष्णु पुराण
विष्णु-पुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर)
विष्णु-पुराण विल्सन-कृत अंग्रेजी अनुवाद
नारद-स्मृति
कात्यायन-स्मृति
बृहस्पति-स्मृति
वासवदत्ता (बम्बई)
दशकुमार चरित्र (बम्बई)
पंचतंत्र हर्टल-सम्पादित (हारवर्ड ओरियंटल सीरीज)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (संस्कृत) आर श्याम शास्त्री-सम्पादित (विश्वविद्यालय मैसूर, १९२४ ई०)

कौटिलीय अर्थशास्त्रम् (संस्कृत) जाली-सम्पादित २ भाग (मोतीलाल बनारसीदास, १९२३)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (अंग्रेजी-अनुवाद) डा आर श्यामशास्त्री-अनूदित (मैसूर, १९२९ ई०)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (बंगला-अनुवाद) २ भाग, राधागोविंद बसाक-अनूदित (कलकत्ता)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (हिन्दी-अनुवाद) (संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर, १९२५ ई०)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (गुजराती अनुवाद) (एम. सी. कोठारी, बडोदा)
कथा-सरित्सागर
मेगास्थनीज-इंडिका

पत्र-पत्रिकाएँ

अंग्रेजी

एपिग्राफिका इडिका, खड २ ।

जर्नल आव इडियन सोसाइटी आव ओरियटल आर्ट, वाल्यूम १९ १९५२-५३ (कलकत्ता)

इडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, भाग २०, अक ३ ।

मेमायर्स आव द' आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इडिया, सख्या ६६ ।

साइनो-इण्डियन-स्टडीज, भाग ४ ।

इलस्ट्रेटेड वीकली आव इण्डिया, १३ जुलाई १९५८

इडियन एण्टीक्वैरी १९०८ ।

जर्नल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बगाल ।

हिन्दी

जैन-साहित्य-सशोधक, खड १, अक ४ ।

भारतीय विद्या (सिघी-स्मृति-ग्रथ), बम्बई ।

ज्ञानोदय वर्ष १, अक ६-७, वाराणसी ।

नवनीत, जुलाई, १९५४, बम्बई ।

नवभारत-टाइम्स, बम्बई, ५–७ नवम्बर १९५९ ।

हिन्दुस्तान (दैनिक) दिल्ली, ७ अक्तूबर १९५९

जनप्रकाश उत्थान महावीर-अक, वीर स० २४६०, (अक १८-२४, वर्ष २)

जैन श्वेताम्बर कानफरेंस हेराल्ड, अक्तूबर-नवम्बर १९१४ ई० (बम्बई)

जैन-भारती, जुलाई-अगस्त १९४९ (कलकत्ता)

जैन-युग श्रीमहावीर जयन्ती अक, वी० स० २४५२, विक्रम स० १९८२ (बम्बई)

भूगोल भुवनकोषाक, वर्ष ८, अक १-३, मई, जन, जुलाई १९३२, (प्रयाग)

विविध ग्रन्थ

१ जीवन-विज्ञान (गुजरात-वर्नाक्यूलर-सोसाइटी, अहमदाबाद)

कोष

संस्कृत

अमरकोष भानुजी दीक्षित की टीका सहित (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)

अमरकोष विष्णुदत्त की टीका सहित (व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)

अभिधान चिंतामणि, २ भाग कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य कृत स्वोपज्ञ टीका-सहित (यशोविजय ग्रंथमाला, वाराणसी)

अभिधान चिंतामणि (देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड)

वैजयन्ती कोष, गुस्ताफ ओपेर्ट-सम्पादित (मद्रास, १८९३ ई०)

कल्पद्रुकोश, २ भाग—गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज, वडोदा

शब्द रत्न महोदधि, २ भाग (संस्कृत-गुजराती) मुक्तिविजय गणि सम्पादित

अनेकार्थ संग्रह—कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य (चौखम्भा-सिरीज)

पद्मचन्द्रकोष महामहोपाध्याय गणेशदत्त-सम्पादित (मेहरचन्द लक्ष्मण-दास, लाहौर)

शब्दरत्न समन्वय कोष (गायकवाड ओरियंटल सिरीज)

शब्दार्थ-चिंतामणि, ४ भाग (उदयपुर राज्य)

अनेकार्थ-तिलक, महीप कृत (डक्कन कालेज, पूना)

त्रिकाण्ड शेष.—पुरुषोत्तमदेव-रचित (खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, १९१६)

महाभाष्य शब्द-कोष (भंडारकर ओरियंटल इंस्टीटयूट, पूना १९२७ई)

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, मोन्योर-मोन्योर विलियम्स (आक्सफोर्ड १८९९)

संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—वामन शिवराम आप्टे-सम्पादित, १९१२

आप्टेज प्रैक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, ३ भाग (प्रसाद-प्रकाशन,पूना)

बुद्धिस्ट संस्कृत हाइब्रिड ग्रामर ऐंड डिक्शनरी, २ भाग (एडगर्टन-सम्पादित)

प्राकृत

अभिधान राजेन्द्र, ७ भाग (रतलाम)

अर्द्धमागधी कोष-मुनि रत्नचन्द्रजी (५ भाग, बम्बई)

पाइअसद्दमहण्णवो (कलकत्ता)

पाइअलच्छीनाममाला (गाटिजन, १८७९)

पाइअलच्छीनाममाला (भावनगर)

जैनागम शब्द संग्रह (लिंबडी)

अल्प परिचित सैद्धान्तिक शब्द कोष, प्रथम भाग (देवचद लालभाई पुस्तकोद्धार फड)

देसीनाममाला, पिशल-सम्पादित (पूना)

देसीनाममाला, पिशल तथा बूलर-सम्पादित (बम्बई, १८८० ई०)

देसीनाममाला मुरलीधर बनर्जी-सम्पादित (कलकत्ता विश्वविद्यालय १९३१)

पाली

पाली-इग्लिश-डिक्शनरी, रीस डेविड्स तथा विलीयम स्टेड-सम्पादित (पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लदन)

डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, २ भाग, जी. पी. मलालशेखर-सम्पादित (लदन)

हिन्दी

वृहत् हिन्दी-कोष (ज्ञानमडल लि , वाराणसी)

वृहत् जैन शब्दार्णव (द्वितीय खड, सग्रहकर्ता विहारीलाल जैन, सम्पादक ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी)

अंग्रेजी

इनसाइक्लोपीडिया आव एथिक्स ऐंड रेलिजन.

ज्यागरैफिकल डिक्शनरी आव ऐंशेंट ऐंड मिडिवल इडिया—नदलाल दे-रचित (ल्युजाक ऐंड कम्पनी, लदन १९२०)

आधुनिक ग्रंथ

हिन्दी

सम्पूर्णानंद-अभिनंदन-ग्रंथ (हिन्दी) (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, २००७ वि०)

भारतीय सिक्के (हिन्दी) डाक्टर वासुदेव उपाध्याय-लिखित (भारती-भंडार, प्रयाग)

सार्थवाह (हिन्दी) डाक्टर मोतीचन्द्र-लिखित (राष्ट्रभाषा परिषद, बिहार, पटना)

हर्षचरित (हिन्दी) डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल-लिखित (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५३)

धर्म और दर्शन (हिन्दी) डाक्टर बल्देव उपाध्याय-लिखित

हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी) चिंतामणि विनायक वैद्य-लिखित (ज्ञानमंडल, वाराणसी)

मुंगेर जिला-दर्पण (हिन्दी)

भारतीय इतिहास की रूपरेखा (हिन्दी) २ भाग, जयचन्द विद्यालंकार-लिखित (हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद)

मथुरा-परिचय (हिन्दी) कृष्णदत्त वाजपेयी-लिखित (मथुरा)

अहिच्छत्रा (हिन्दी) कृष्णदत्त वाजपेयी-लिखित (लखनऊ)

बुद्धपूर्व का भारतीय इतिहास (हिन्दी) मिश्रबंधु-लिखित (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

कुशीनगर का इतिहास—धर्मरक्षित-लिखित (कुशीनगर, देवरिया)

प्राचीन भारतवर्ष (गुजराती) डा० त्रिभुवनदास-लिखित (बडौदा)

पाणिनीकालीन भारतवर्ष (हिन्दी) वासुदेवशरण अग्रवाल (मोतीलाल बनारसीदास, २०१२ वि)

वैशाली-अभिनंदन-ग्रथ (वैशाली-सघ, वैशाली, १९४८ ई०)

प्रेमी-अभिनदन-ग्रथ (प्रेमी-अभिनदन-ग्रथ-समिति, टीकमगढ, १९४६)

द्विवेदी-अभिनदन-ग्रथ (नागरी-प्रचारिणी-सभा, वाराणसी, १९९० वि.)

नेहरू-अभिनदन-ग्रंथ (विश्वनाथ मोर, १९४९ ई०)

भारतीय अनुशीलन, ओझा-अभिनदन-ग्रथ (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, १९९० ई०)

शूब्रिग-अभिनन्दन-ग्रथ, हेम्बर्ग १९५१ ई०)

एशियाटिका—वेलर-अभिनंदन-ग्रथ (लिपजिग, १९५४ ई०)

प्राचीन भारतवर्ष नु सिंहावलोकन (गुजराती) आचार्य विजयेन्द्र सूरि (यशोविजय-ग्रथमाला, भावनगर)

हस्तिनापुर (हिन्दी) (यशोधर्म मदिर, बम्बई)

अंग्रेजी

ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म (अग्रेजी) डा० विमल चरणला-लिखित (लदन, १९३२)

ए गाइड टु स्कलपचर्स इन इडियन म्यूजियम, २ भाग (दिल्ली)

पोलिटिकल हिस्ट्री आव इण्डिया (अंग्रेजी, ५-वाँ संस्करण) रायचौधरी लिखित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय)

हिस्टारिकल ज्यागरैफी आव इण्डिया (अंग्रेजी) विमलचरण ला-लिखित (सोसाइटी एसियाटिक द' पेरिस, १९५४ ई०)

ट्राइब्स इन ऐंशेंट इण्डिया (अंग्रेजी) विमलचरण ला-लिखित (भंडारकर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, पूना, १९४३ ई०)

इण्डालाजिकल स्टडीज (अंग्रेजी) भाग १, २ विमलचरण ला-लिखित (इण्डियन रिसर्च इंस्टीट्यूट, कलकत्ता)

इण्डालाजिकल स्टडीज, भाग ३, विमलचरण ला-लिखित (गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, प्रयाग)

हिस्ट्री आव तिरहुत (अंग्रेजी) एस. एन सिंह-लिखित (बैपटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता १९२२ ई०)

रिवर आव किंग्स (अंग्रेजी) (राजतरंगिणी का अनुवाद) आर एस. पण्डित (इण्डियन प्रेस, लि०, प्रयाग १९३५)

एक्सकैवेशस ऐट बानगढ (अंग्रेजी) के एन दीक्षित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय)

प्री एरियन ऐंड प्री ड्रेवेडियन इन इंडिया—सिलवेन लेवी (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १९२९) प्रबोधचन्द्र बागची-अनूदित।

सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग आन इंडियन हिस्ट्री ऐंड सिविलाइजेशन, भाग १, दिनेशचन्द्र सरकार-सम्पादित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १९४२)

अशोक ऐंड हिज इंस्क्रिप्शंस—डा० वेणीमाधव बरुआ (न्यू एज पब्लिशर्स लिमिटेड, कलकत्ता १९४६)

मीनिएचर पेंटिंग्स आव द' कल्पसूत्र—डाक्टर नार्मन ब्राउन (अमेरिका)

हिस्ट्री आव बेंगाल, भाग १, आर सी मजूमदार-लिखित

नालंदा ऐंड इट्स एपीग्राफिक मिटीरियल

मेमायर्स आव आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इंडिया ६६, मैनेजर आव पब्लिकेशंस, दिल्ली, हीरानन्द शास्त्री-लिखित।

गजेटियर मुंगेर डिस्ट्रिक्ट (गवर्नमेंट प्रेस, पटना)

ऐंशेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन पार्जीटर-लिखित (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन १९२२)

द ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इंडिया (द्वितीय आवृत्ति) कनिंघम (चक्रवर्ती चटर्जी ऐंड कम्पनी, कलकत्ता, १९२४)

इंडिया इन द टाइम आव पतंजलि, बी ए पुरी-लिखित (भारतीय-विद्या भवन, बम्बई ७)

द' सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम

रिचार्ड फिक-लिखित (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६२०) अनु० एस० के० मैत्र

स्कलपचर्स इन द' कर्जन म्युजियम, मथुरा, वी. एस. अग्रवाल (प्रिंटिंग ऐंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश १६३३)

मथुरा म्युजियम कैटलग, भाग ३, वासुदेव एस अग्रवाल (यू पी. हिस्टारिकल सोसायटी, लखनऊ १६५२)

कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इडिया, भाग १, (१६२१ ई)

द' एज आव इम्पीरियल यूनिटी (हिस्ट्री ऐंड कलचर आव द' इडियन पीपुल, भाग २, भारतीय विद्या भवन, बम्बई)

हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिस आव द' आजीवक्स—ए. एल. बाशम-लिखित (ल्युजाक कम्पनी, लदन)

ए हिस्ट्री आव इडियन लिटरेचर, भाग २, विंटरनित्स-लिखित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय १६३२)

श्रावस्ती इन इडियन लिटरेचर (मेमायर्स आव आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इडिया , सख्या ५० विमलाचरणला लिखित (मैनेजर आव पब्लिकेशन, दिल्ली)

राजगृह इन ऐंशेंट लिटरेचर, विमल चरण ला-लिखित (मेमायर्स आव आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इडिया, सख्या ५८, मैनेजर आव पब्लिकेशस, दिल्ली)

लाइफ इन ऐंशेट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनस, डा० जगदीशचन्द्र जैन-लिखित (न्यू बुक कम्पनी, बम्बई)

卐

卐

विषय-प्रवेश

卐
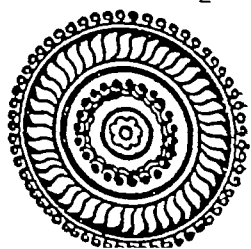
श्रीमदर्हते नमः

जगत्पूज्यश्रीविजयधर्मसूरिगुरुदेवेभ्यो नमः

तीर्थंकर महावीर

(१)

भूगोल

(२) समुद्र

लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, पुष्कर समुद्र, वरुणवर समुद्र, क्षीरोद समुद्र, घृतोद समुद्र, इक्षुद समुद्र, नंदीश्वरोद समुद्र [१] ।

जम्बूद्वीप से दूना लवण समुद्र है और लवण समुद्र से दूना धातकी खण्ड, इसी क्रम से द्वीप और समुद्र दूने-दूने होते चले गये हैं [२] ।

जम्बूवृक्ष होने के कारण इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा [३] ।

इस द्वीप का व्यास १ लाख योजन है[४] । इस की परिधि ३, १६, २२७ योजन, ३ कोस १२८ धनुष, १३½ अंगुल, ५ यव और १ यूका है[५] । इस का क्षेत्रफल ७,९०,५६,९४,१५० योजन, १॥। कोस, १५ धनुष और २॥ हाथ है[६] ।

जम्बूद्वीप के बीच में सुमेरु नामका पर्वत है[७] । जो १ लाख योजन ऊँचा है[८] ।

जम्बूद्वीप का दक्षिणी भूखण्ड भरत-क्षेत्र के नाम से विख्यात है । यह अर्ध-चन्द्राकार है । इसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में लवण-समुद्र है[९] ।

---

(१) लोकप्रकाश, सर्ग १५, श्लोक ६–१२
(२) ,, ,, ,, २८
(३) ,, ,, ,, ३१–३२
(४) समवायाङ्गसूत्र, सूत्र १२४, पत्र २०७/२ (जैन धर्म प्र० सभा भावनगर) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक वक्षस्कार १, सूत्र १०, पत्र ६७/२
(५) लोकप्रकाश, सर्ग १५, श्लोक ३४–३५
(६) ,, ,, ,, ३६–३७
(७) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक, वक्षस्कार ४, सूत्र १०३, पत्र ३५९/२–३६०/२
(८) ,, ,, ४, ,, १०३, पत्र ३५९/२
(९) ,, ,, १, ,, १०, पत्र ६५/२

उत्तर दिशा मे चूल हिमवत पर्वत है[१]। उत्तर से दक्षिण तक भरत-क्षेत्र की लम्बाई ५२६ योजन ६ कला है और पूर्व से पश्चिम की लम्बाई १४४७१ योजन और कुछ कम ६ कला है[२]। उसका क्षेत्रफल ५३, ८०,६८१ योजन, १७ कला और १७ विकला है[३]।

भरत-क्षेत्र की सीमा मे, उत्तर मे चूलहिमवत नामक पर्वत से पूर्व मे गगा और पश्चिम मे सिन्धु नामक नदियाँ निकली है। उस भरत-क्षेत्र के मध्य में ५० योजन विस्तारवाला वैताढ्य पर्वत है,[४] जो पूर्व और पश्चिम दोनो दिशाओ में समुद्र का स्पर्श करता है। वह वैताढ्य पर्वत भरत-क्षेत्र को दो बरावर खण्डो मे विभक्त करता है[५]। उत्तर-भरत और दक्षिण-भरत। चूलहिमवत से निकली गगा और सिन्धु नदियाँ वैताढ्य पर्वत में से होकर लवण समुद्र मे गिरती हैं। इस प्रकार ये नदियाँ उत्तर-भरत-खण्डको ३ भागो में और दक्षिण-भरतखड को ३ भागो मे विभक्त करती है[६]। इन ६ खण्डो में उत्तरार्द्ध के तीनो खण्डो मे अनार्य रहते है। दक्षिण के अगल-बगल के खण्डो में भी अनार्य रहते हैं। जो मध्यका खण्ड है, उस मे ही आर्यों के २५॥ देश हैं[७]। उत्तरार्द्ध-भरत उत्तर से दक्षिण तक २३८ योजन ३ कला है और दक्षिणार्द्ध भरत भी २३८ योजन ३ कला है।

वैदिक दृष्टिकोण

श्रीमद्भागवत में भी सात द्वीपो का वर्णन मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। इनमें मे

---

(१) „ „ १, „ १० पत्र ६५/२
(२) लोकप्रकाश, सर्ग १६, श्लोक ३०–३१
(३) „ „ „ ३३–३४
(४) „ „ „ ४८
(५) „ „ „ ३५
(६) लोकप्रकाश सर्ग १६ श्लोक ३६
(७) लोकप्रकाश सर्ग १६ श्लोक ४४

पहले की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीपो का परिमाण दूना होना बना गया है। ये द्वीप समुद्र के बाहरी भाग मे पृथ्वी के चारो ओर फैले है। सात समुद्रो के नाम हैं—

क्षारोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद और शुद्धोद। ये समुद्र सातो द्वीपो के चारो ओर खाईयो के समान हैं और परिमाण मे अपने भीतरवाले द्वीप के बराबर हैं[१]।

बौद्ध-दृष्टिकोण

बौद्ध लोग जगत मे चार ही महाद्वीप मानते है। उनके मतानुसार उन चारो के केन्द्र मे सुमेरु पर्वत है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार सुमेरु के पूर्व मे पुब्ब विदेह,[२] पश्चिम मे अपरगोयान अथवा अपरगोदान[३] उत्तर में उत्तर कुरु[४] और दक्षिण में जम्बूद्वीप है[५]।

यह जम्बूद्वीप १० हजार योजन बडा है।[६] इसमे ४ हजार योजन जल से भरा होने से समुद्र कहा जाता है और ३ हजार योजन में मनुष्य बसते हैं। शेष तीन हजार योजन में चौरासी हजार कूटो (चोटियो) से सुशोभित चारों ओर बहती ५०० नदियो से विचित्र ५०० योजन ऊँचा हिमवान् (हिमालय)[७] है।

इन वर्णनो से ज्ञात होता है कि "जो देश आज हमे भारत के नाम से ज्ञात है, वही बौद्धो मे जम्बूद्वीप तथा जैनो और ब्राह्मणो मे भारतवर्ष के

---

(१) श्रीमद्भागवत प्रथम खण्ड, स्कन्द ५, अध्याय १ पृष्ठ ५४६
(२) 'डिक्शनेरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड, २, पृष्ठ २३६
(३) 'डिक्शनेरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड, १, पृष्ठ ११७
(४) 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड १, पृष्ठ ३५५
(५) " " " " १, " ९४१
(६) " " " " १, " ९४१
(७) " " " " २, " १३२५-१३२६

नाम से विख्यात है" (विमलचरण लॉ-लिखित 'इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स आव बुद्धिज्म ऐंड जैनिज्म', पृष्ठ १)।

आधुनिक भारतवर्ष को ही बौद्ध लोग जम्बूद्वीप की सज्ञा से सम्बोधित करते थे। यही मत ईशानचन्द्र घोष ने जातक प्रथम खण्ड मे (पृष्ठ २८२), जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' भाग १ में (पृष्ठ ४), टी० डब्ल्यू० रीस डेविस तथा विलियम स्टेड ने 'पाली इग्लिश डिक्शनरी' (पृष्ठ ११२) में व्यक्त किया है। धर्मरक्षित की 'सुत्तनिपात' की भूमिका (बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय) के पृष्ठ १ से तथा जातक में भदत आनदकौसल्यायन द्वारा दिये गये मानचित्र से भी यही बात समर्थित है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैन और वैदिक जहाँ सुमेरु को जम्बूद्वीप के केंद्र में मानते हैं, वहाँ बौद्ध उसे चारो द्वीपो के केन्द्र मे मानते हैं और जहाँ जन और वैदिक भारतवर्ष को जम्बूद्वीप का एक 'क्षेत्र' (खण्ड) मानते हैं, वहाँ बौद्ध उसे ही जम्बूद्वीप की सज्ञा देते हैं। जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में श्री विमलचरण लॉ ने लिखा है—

"जहाँ तक जम्बूद्वीप पन्नति तथा उस पर अवलम्बित अन्य ग्रंथों में जम्बूद्वीप को वर्षों (देशों) मे विभाजन की बात है, वह पुराणों के पूर्णत· अनुरूप है। ('इडिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स आव बुद्धिज्म ऐंड जैनिज्म', पृष्ठ १–२)

कालचक्र

समय सदा फिरता रहता है, अत जैन-शास्त्रो मे काल की समानता शकट के पहिये (चक्र) से की गयी है। जैनशास्त्रकारो ने इस काल को मुख्य रूप से दो विभागो में बाँटा है-एक अवसर्पिणी काल और दूसरा उत्सर्पिणी काल[1]।

'अवसर्पिणी-काल' उस समय को कहते हैं, जिसमे सब चीजो मे-जैसे आयु, शरीर का प्रमाण, बल, पृथ्वी आदि सब मे—क्रमश न्यूनता आती जाती है[2] और 'उत्सर्पिणी-काल' में इन सब चीजो में क्रमश वृद्धि होती जाती है[3]।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के छ-छ भेद[4] हैं। और, ये बारह आरे के नाम से कहे जाते हैं। अवसर्पिणी के आरो का स्वरूप सक्षेप मे निम्न प्रकार से है —

सुषम-सुषम

इस आरा के प्रारम्भ मे भरत-ऐरावत-क्षेत्र मे भूमि हस्त-तल की भाँति समतल होती है। उस काल के तृण पाँच वर्णों की मणि के समान सुन्दर लगते हैं। उस काल के मनुष्य सुख पूर्वक रहते हैं, सुख पूर्वक सोते हैं और क्रीडा करते हैं। वे भद्रक और सरल स्वभाव के होते हैं। उनमे राग, द्वेष, मोह,

---

(१) लघुक्षेत्र समास गाथा ९०

(२) काललोकप्रकाश, सर्ग २९, श्लोक ४४

(३) काललोकप्रकाश, सर्ग २९, श्लोक ४५

(४) लघुक्षेत्र समास गाथा ९०

काम, क्रोध नही होते है। वे बडे रूप वाले तथा नीरोग होते है और दश प्रकार के कल्पवृक्षो का उपभोग करते हैं। वे कल्पवृक्ष निम्नलिखित है —

(१) मत्तांग-कल्पवृक्ष — उत्तम मद्य देते थे।
(२) भृत्तांग-कल्पवृक्ष — पात्र (बरतन) देते थे।
(३) त्रुटितांग-कल्पवृक्ष — तत, वितत आदि चार प्रकार तरह के बाजे देते थे।
(४) दीपांग-कल्पवृक्ष — अधकार हरते थे।
(५) ज्योतिरंग-कल्पवृक्ष — अग्नि के समान उष्ण प्रकाश देते थे।
(६) चित्रांग-कल्पवृक्ष — अनेक प्रकार की मालाएँ देते थे।
(७) चित्ररस-कल्पवृक्ष — अनेक प्रकार के रस देते थे।
(८) मण्यंग-कल्पवृक्ष — इच्छित आभूषण देते थे।
(९) गृहाकार-कल्पवृक्ष — घर देते थे।
(१०) अनग्न-कल्पवृक्ष — मन चाहे कपडे देते थे। प्रशसा पत्र ३१४

इस काल के मनुष्य की ऊँचाई तीन कोस की होती है उनकी आयु तीन पल्योपम होती है और उन्हे २५६ पसलियाँ होती हैं।

इस काल मे स्थान-स्थान पर उद्दाल-कोद्दाल[1] आदि वृक्ष स्थूल मूलवाले मनोहर शाखा वाले तथा पत्र, पुष्प और फलो से लदे रहते हैं। गुल्मो[2] से

---

(१) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक (९८-१) में इन वृक्षो के नाम इस प्रकार दिये है :—उद्दाल, कोद्दाल, मोद्दाल, कृतमाल, नृतमाल, दतमाल, नागमाल, श्रृंगमाल, शंखमाल और श्वेतमाल

(२) उसी ग्रन्थ में गुल्मो के ये नाम दिये है —सेरिका, नवमालिका, कोरटक, बंधुजीवक, मनोऽवद्य, बीअक, बाण, करवीर, कुब्ज, सिन्दुवार, (जातिगुल्म) मुद्गर, यूथिका, मल्लिका, वासतिक, वस्तूल, कस्तूल, सेवाल, अगस्त्य (मगदतिकागुल्म), चम्पक, जाति, नवनीतिका, कुन्द और महाजाति (पत्र ९८-२)

गुल्म की परिभाषा टीकाकार शान्तिचंद्रगणिने इस प्रकार दी है —

"ह्रस्वस्कन्दबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेता" (पत्र ९८-२)

नाना प्रकार की सुगंधियाँ पृथ्वी पर व्याप्त रहती हैं। और स्थान-स्थान पर वन[1] होते हैं।

इस युग के मनुष्य युगधर्मी होते हैं। और, समग्र लक्षणो से युक्त होते हैं। युगलिये पुरुष भी अल्प मात्रा में रहते हैं। शालि प्रमुख सर्व अन्न और इक्षु प्रमुख सभी वस्तुए स्वमेव उत्पन्न होती हैं। परन्तु, मनुष्य तीन दिन के अन्तर पर अरहर की दाल के प्रमाण भर भोजन करते हैं[2]।

सुषम

इस द्वितीय आरे मे भी सुख-ही-सुख रहता है, पर सुषम-सुषम आरे के इतना नही। इस युग के प्राणी दो दिनो के बाद आहार करते हैं और वह भी बेर के फल-जितनी मात्रा मे। इस काल के आरम्भ में मनुष्य की ऊँचाई दो कोस और आयु दो पल्योपम की होती है। पर, सुषम-काल समाप्त होते-होते क्रम से घटते रहने के कारण मनुष्य की आयु एक पल्योपम और ऊँचाई एक कोस की रह जाती है। इस इसे आरे मे मनुष्य की पसलियाँ १२८ मात्र रह

---

(१) वनो के नाम निम्नलिखित हैं —
भेरुताल वन, हेरुताल वन, मेरुताल वन, पभयालवन, साल वन सरल वन, सप्तवर्ण वन, पूअफली वन, खज्जुरी वन, नारियली वन'
(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक, पत्र ९७–२)
और वन की परिभाषा कल्पसूत्र की सन्देहविषौषधि टीका मे लिखा है—'वनान्येकजातीय वृक्षाणि' जिसमे एक जातीय वृक्ष हो वह वन है और 'वनखडान्यनेकजातीयोत्तमवृक्षाणि' जिसमे अनेक जाति के उत्तम वृक्ष हो वह वनखड है। (पत्र ७५)
भगवती शतक सटीक, शतक १, उद्देशक ८, सूत्र ६४
(भाग १, पत्र ९२–२ तथा ९३–१) मे लिखा है' एक जातीय वृक्ष समुदाये' और जिसमें नाना प्रकार के वृक्ष हो उनके लिए 'वणविदुग्गंसि' (वनविदुर्ग) लिखा है।

(२) काललोकप्रकाश पत्र ७४०

जाती हैं। इस आरे मे आदमी चार प्रकार के होते है —एका, प्रचुरजघा, कुसुमा और सशमना। एका पुरुष सर्वश्रेष्ठ ढग का होता है, प्रचुरजघावाले की जाँघ अत्यन्त पुष्ट होती है, कुसुमा पुरुष फूल के समान कोमल होता है और सुशमना पुरुष सम्यक प्रकार की शक्ति से युक्त होता है।

भूमि का स्वरूप और कल्पवृक्षो का जो वर्णन पूर्व प्रकरण मे कहा गया है, तद्रूप ही इस आरे मे भी समझना चाहिए। परन्तु, उनके वर्ण, गन्ध, फल आदि मे न्यूनता आ जाती है। इस आरे का भोग ३ कोडाकोडी व्यतीत हो जाने पर, तीसरे आरे सुषम-दुषम का भोग, प्रारम्भ होता है[१]।

सुषम-दुषम

सुषम आरे की समाप्ति से बाद इस सुषम-दुषम आरे का प्रमाण दो कोटा-कोटि समझना चाहिए। इस आरे को हम तीन विभागो में बाँट सकते है—प्रथम, मध्यम और अन्तिम। एक-एक विभाग की काल-स्थापना इस प्रकार हैं—६६६६६६६६६६६६६६६६$\frac{२}{३}$। इस आरे के प्रथम दो भागो मे कल्पवृक्ष पूर्ववत् रहते है, पर क्रम से घटते रहते हैं।

इस काल मे मनुष्य भी अनुक्रम से घटता जाता है। इस आरे मे मनुष्य की ऊँचाई १ कोस, तथा आयुष्य १ पल्योपम होता है। और, मनुष्य को ६४ पँसलियाँ होती है। बालको का प्रतिपालन ७९ दिवस मात्र करना पडता है। उनकी अवस्था ७ प्रकार की होती है और एक-एक अवस्था का भोग ११ दिवस, १७ घडी ८ पल के लगभग आता है। इस काल मे मनुष्य मे प्रेम, राग, द्वेष, गर्व सब की अभिवृद्धि होती है। और, मनुष्य १-१ दिन का अतर देकर आँवले के बराबर आहार करता है। इस काल मे कल्पवृक्ष और पृथ्वी का रस आदि घट जाता है। मनुष्य मे फल-फूल-औषधि आदि के सग्रह की प्रवृत्ति बढती रहती है। इस सग्रह- प्रवृत्ति से मनुष्य मे परस्पर कलह की भी मात्रा बढती है। अत इस तीसरे आरे मे जब पल्योपम का आठवाँ भाग शेष रहता है, तो 'कुलकर' का जन्म

(१) काललोकप्रकाश पृष्ठ १७८

होता है। कुलकरो का वर्णन हम पृथक् इसी ग्रथ मे दे रहे है। ये 'कुलकर' अपनी दण्डनीति से समाज मे व्यवस्था स्थापित करते हैं। इसी आरे मे एक त्रुटिताग का तीन वर्ष और साढे आठ मास शेप रहता है, तो प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। यह प्रथम तीर्थंकर ही अपनी गृहस्थावस्था मे समाज को सदसत् मार्ग वताते हैं और समाज को व्यवहार सिखाते हैं। आग जलाना, विभिन्न व्यवसाय, कला, विवाह, राजतिलक आदि की व्यवस्था इन्ही के काल से प्रारभ हुई। इस आरे मे सभी कुलकर, एक तीर्थंकर और एक चक्रवर्ती होते हैं।[1]

दुपम-सुपम

इस चौथे आरे का भोग काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोटा-कोटी का होता है। इस काल मे मनुष्य के शरीर की ऊँचाई ५०० धनुप होती है और उत्कृष्ट आयु[1] क्रोडपूर्व का होता है। इस आरे मे पृथ्वी नाना प्रकार के वृक्षो से अलकृत होती है और खेती की प्रवृत्ति लोगो मे रहती है। पूर्व वर्णित ढग मे विना कल्पवृक्षो के, इस समय मे भी सुपम-दुपम-सा भोग होता है, परन्तु उनके गुणो मे वहुत कमी होती है। मनुष्य अग्नि मे पकाया हुआ अन्न, घृत, दूव आदि खाने लगते हैं। वे प्रतिदिन आहार करनेवाले होते हैं। इतना ही नही, एक दिन मे कई वार भोजन करते हैं। मनुष्य पुत्र, पौत्र, दुहितादि युक्त वडे परिवार वाले और वडी ऋद्धि वाले होते हैं। उनमे मित्रो के प्रति आसक्ति होती है तथा शत्रुओ को जीतने की भावना होती है। इस काल मे राजा, मत्री, सामन्त, श्रेष्ठि, सेनापति आदि धनवान होते हैं। कितने सेवा करते है और कितने वैभव वाले होते हैं। कितनो की मिथ्या दृष्टि होती है, कुछ की भद्रक और कुछ की मिश्र दृष्टि होती है। इस काल मे वरसात चार प्रकार के होती है—

(१) पुष्करावर्त—इस प्रकार की एक वृष्टि से जमीन सुस्निग्ध, स्नभावित और दस हजार वर्ष तक धान्य उपजाने वाली रहती है।

(२) प्रद्युम्न—इस वृष्टि से १ हजार वर्ष तक पृथ्वी मे धान्य उपज सकता है।

---

(१) काललोकप्रकाश पृष्ठ १७९

(३) जीमूत—इस प्रकार की वृष्टि से १० वर्ष तक पृथ्वी धान्य उत्पन्न कर सकती है ।

(४) झिमिक—यह वर्षा निरन्तर आवश्यक होती है और इससे एक वर्ष तक पृथ्वी मे धान्य उपजाने का गुण होता है ।

इस चौथे आरे मे उत्तम प्रकार की वर्षा योग्य काल मे होती है । इससे भूमि स्निग्ध, सरस और बहुत अधिक फल देने वाली होती है । इस काल मे दुर्भिक्ष नही पडते, कोई चोर नही होता और रोग, शोक, आधि-व्याधि आदि बहुत कम होता है । इस काल मे कोई न्यायोल्लघन करने वाला नही होता । राजा प्राय धार्मिक होते हैं । इस चौथे आरे मे २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती ९ वासुदेव-बलदेव होते हैं ।[1]

दुषम

इस आरे के प्रारम्भ मे सस्थान[2] और सघयण[3] छ होते हैं । लेकिन, सघयण क्रम से कम होते हुए आखिर मे से सेवार्त नामका एक ही रह जाता है । इस आरे के प्रारम्भ मे आदमी की उत्कृष्ट आयु १३० वर्ष की होती है और घटते-घटते ५-वें आरे के अन्त मे २० वर्ष की आयु रह जाती है । इस आरे का आदमी प्रमाण मे ७ हाथ का होता है और घटते-घटते १ हाथ का रह जाता है । चौथे आरे मे जन्मा व्यक्ति यदि पाँचवें आरे मे आ गया, तो उसे मोक्ष होना सम्भव है, पर जिसने पाँचवें आरे मे जन्म लिया, उसका तो मोक्ष होगा ही नही । इस आरे मे १० वस्तुए नही होती —

---

(१) काललोकप्रकाश पृष्ठ १८५

(२) सस्थान ६ प्रकार के होते हैं—१ समचतुरस्त्र, २ न्यग्रोधपरिमडल ३ सादिसस्थान ४. वामनसस्थान ५ कुब्जसंस्थान ६ हुण्डसस्थान
—समवायाग सूत्र १५५ । पत्र १४९-२.

(३) सघयण ६ प्रकार के होते हैं —१. वज्रऋषभनाराच २ ऋषभनाराच ३ नाराच ४. अर्धनाराच ५ कीलिका ६. सेवार्त ।
—समवायाग सूत्र १५५

(४) जिस रचना मे मर्कटबन्ध वेठन और खीला न होकर, यो ही हड्डिया आपस मे जुडी हो, उसे सेवार्त संहनन कहते हैं ।

(१) केवल ज्ञान[1] (२) मन पर्यव ज्ञान[2] (३) परमावधि ज्ञान
(४) क्षपक श्रेणी[4] (५) उपशम श्रेणी[5] (६) आहारक शरीर[6]

---

(१) (अ) ज्ञान पांच प्रकार के बताये गये हैं—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन पर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान।
—स्थानाङ्ग सटीक ४६३, पत्र ३४३-१

(आ) केवलज्ञान सकल तु सामग्री विशेषत समुद्भूतसमस्तावरणक्षयापेक्ष निखिलद्रव्यपर्याय साक्षात्कारिस्वरूप केवलज्ञानम् ॥ २३ ॥
—प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार द्वितीय परिच्छेद।

अर्थ—समस्त घाति कर्मो के क्षय से उत्पन्न होने वाला, समस्त द्रव्य और पर्यायो को साक्षात्कार करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है।

(२) मन पर्याय ज्ञान—सयमविशुद्धिनिबन्धनाद् विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं मनोद्रव्य पर्यायालम्बन मन पर्यायज्ञानम् ॥ २२ ॥
—प्रमाण नयतत्त्वालोकालङ्कार द्वितीय परिच्छेद।

अर्थ—चारित्र की विशुद्धि के कारण मन पर्यायावरण कर्म के उच्छेद हो जाने से मनोद्रव्य के पर्यायो (आकृतियो) को साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान मन पर्याय ज्ञान है।

(३) अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भव भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचर-मवधिज्ञानम् ॥ २१ ॥
—प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार द्वितीय परिच्छेद।

अर्थ—अवधिज्ञानावरण कर्म के नाश से उत्पन्न होनेवाला, भव और गुण कारणवाला, रूपी पदार्थो को साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान अवधि-ज्ञान है।

(४) जिसमे मोह की शेष प्रकृतियो का क्षय चालू हो, वह क्षपक श्रेणी है।
—तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ ३७४

(५) जिस अवस्था मे मोह की शेष प्रकृतियो का उपशम चालू हो वह उपशमक श्रेणी है।
—तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ ३७४

(६) प्रशस्त पुद्गल द्रव्य जन्य विशुद्ध निष्पाप कार्यकारी और व्याघात बाधारहित होता है तथा वह चौदह पूर्व वाले मुनि को ही पाया जाता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।
—तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ ११४-११५

(७) पुलाकलब्धि[1] (८) परिहार विशुद्धिचारित्र[2] (९) सूक्ष्मसंपराय-चारित्र[3] (१०) यथाख्यातचारित्र[4]।

इस आरे मे शलाकापुरुष नही होते। जातिस्मरण अवधिज्ञान विद्यमान होते हुए भी समय के प्रभाव से बहुत कम देखने मे आते हैं। इस काल मे मनुष्य पापी, अधर्मी, रागी, धर्मद्वेषी और मर्यादारहित होते हैं और गाँव स्मशानतुल्य, नगर ग्रामतुल्य, कुटुम्बी दासतुल्य और राजा यमतुल्य होते है। निर्धन को बहुत बाल-बच्चे होते हैं और धनवान निष्पुत्र होते हैं। धनाढच को मदाग्नि का रोग रहता है और दुर्भागी दृढ अग्नि वाले और दृढ शरीर वाले होते हैं। इसी प्रकार मूर्ख भी दृढ अग वाले, निरोगी और शास्त्रज्ञ कृश शरीर वाला होता है। खल जन स्वेच्छया विलासी होते है। रात्रि को प्रजाजनो को चोर पीडा पहुँचाते हैं और दिन को राज्याधिकारी। राजा प्राय मिथ्यादृष्टि वाले, हिंसक और शिकार आदि मे रुचि लेने वाले होते है। विप्र असयत और ठग होते हैं। मिथ्या विश्वास लोगो मे फैल जाता है और श्रावक लोग भी उनके शिकार हो जाते हैं। उनकी उत्कृष्ट आयु १३० वर्ष और ऊँचाई ७ हाथ होती है।[5]

---

(१) पुलाक लब्धि—जिससे चक्रवर्ती के सैन्य को भी चूर्ण कर देने के लिए मुनि समर्थ होता है, ऐसी शक्ति को पुलाकलब्धि कहते है।
—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ४८३

(२) परिहारविशुद्धि—एक सयम विशेष
—पाइअसद्दमहण्णवो, पृष्ठ ६९९

(३) सूक्ष्मसंपराय—लोभ रूप कषाय जिस मे अति सूक्ष्म रूप मे शेष हो उसे सूक्ष्म सपरायचारित्र कहते हैं।
—स्थानाङ्ग सटीक ४२८, पत्र ३२४–२

(४) यथाख्यात—उपशान्ति मोह और क्षीण मोह छद्मस्थ को तथा सयोगी अयोगी केवली को होता है सर्वथा कषाय विना जो शुद्ध सयम है, उसे यथाख्यात सयम कहते हैं।
स्थानाग सटीक ४२८

(५) काललोक प्रकाश पृष्ठ ५९२

दुषम-दुषम

पांचवें दुषम-आरा की समाप्ति के बाद दुषम-दुषम नाम का छठाँ आरा प्रारम्भ होता है। इस काल मे समस्त वस्तुओ का क्षय होता है। यह काल अति कठिन, अत्यन्त भयकर, असह्य और प्राणहारी होता है। बारबार दिशाएँ धूम्रमय होती हैं, चारो तरफ धूल से अधकारमय हो जाता है। इस काल मे सूर्य-चन्द्रमा का तेज असह्य और अहितकारी हो जाता है। चन्द्रमा अति शीतल हो जाता है और सूर्य मे अत्यन्त उष्णता आ जाती हैं। ये सूर्य और चन्द्रमा जो जगत का हित करने वाले हैं, वे दुख देने वाले हो जाते हैं। इस काल मे बरसात का पानी नमकीन होता है। इसके अतिरिक्त खट्टा रस वाला पानी, अग्नि की तरह दाह करने वाला, विषमय रस वाला पानी बरसता है। जैसे वज्र पहाड भेदने मे समर्थ होता है, उस प्रकार ऐसी वर्षा होती है कि, उसका जल पर्वत को भेद देता है। बारम्बार बिजली पडती है और विविध प्रकार के रोग, वेदना और मृत्यु देनेवाली बरसात पडती है। 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' मे इन मेघो के नाम निम्नलिखित दिये है —

अरसमेघ, विरसमेघ, क्षारमेघ, क्षतिमेघ, विषमेघ

कालसप्तति-प्रकरण मे वर्णन मिलता है कि क्षार, अग्नि, विष, अम्ल विद्युत् इन पांच प्रकार के मेघ सात-सात दिन बरसते है।

छठें आरे के प्रारम्भ मे पृथ्वी अगार के समान तप्त हो जाती है। कोई आदमी उसे स्पर्श नहीं कर सकता। इस काल मे पुरुष कुरूप, निर्लज्ज, कपट, वैर तथा द्रोह करने मे तत्पर, मर्यादाहीन, अकार्यकारी, अन्यायी-क्लेश-उत्पात आदि मे रुचि रखने वाले विनय-गुण से हीन, तथा दुर्बल होते हैं। मनुष्य की उत्कृष्ट आयु पुरुष की २० वर्ष और स्त्री की १६ वर्ष की होती है तथा ऊँचाई २ हाथ की होती है।

भूमि अति तप्त और असह्य हो जाती है। वैताढ्य पर्वत के उत्तर ओर गगा-सिंधु के दोनो तटो पर ९-९ बिलें (गुफाएँ) और दक्षिण ओर गगा-सिंधु के दोनो तटो पर ९-९ बिलें होती हैं। बचे-खुचे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि ताप से बचने के लिए इन ७२ बिलो में शरण लेते हैं।[1]

---

(१) काललोकप्रकाश पृष्ठ ६०६

इस प्रकार ६ आरो के समाप्त होने पर अवसर्पिणी पूर्ण होती है और उसके बाद उत्सर्पिणी का प्रारम्भ होता है। उसमे यह काल-क्रम उलटे अनुक्रम से ६, ५, ४, ३, २, और १ होता है अर्थात् दुषम-दुषम, दुषम, दुषम-सुखम, सुखम सुखम-सुखम। उनका वर्णन भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए[1]

जैन-शास्त्रो मे काल-गणना बडे विस्तृत रूप मे मिलती है।

समय[2] से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक के काल-संख्या का कोष्टक

१ निर्विभाज्य काल = समय[2]

१—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सटीक पत्र ११८-१७१ में इन आरो का वर्णन आता है।

(२) भगवतीसूत्र, शतक ६, उद्देश ७, पत्र २७४

(ब) समए आवलिआ आए पाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से वाससहस्स पुव्वगे पुव्वे तुडिअगे तुडिए अडडगे अडडे अववगे अवगे हुहुअगे हुहुए उप्पलगे उप्पले पउमगे पउमे णलिणगे णलिणे अत्थनिऊरगे अत्थनिऊरे अउअगे अउए नउअगे नउए पउअगे पउए चूलिअगे चूलिआ सीसपहेलिअगे सीस पहेलिया पलिओवमे सागरोवमे ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पोग्गलपरिअट्टे अतीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा . . . (मूल सूत्र ११४)

—अनुयोगद्वारसूत्र सटीक पृष्ठ ६६

(२) अद्धारूप समयोऽद्धा समय वक्ष्यमाणपट्टसाटिकादिपाटनदृष्टान्तसिद्धः सर्वसूक्ष्म पूर्वापरकोटिविप्रमुक्तो वर्त्तमान एक कालाश . . । (सूत्र ६७)

—अनुयोगद्वारसूत्र सटीक पृष्ठ ७४

कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो त तु जाण समय तु।... य काल 'परम निरुद्ध' परम निकृष्ट एतदेव व्याचष्टे—'अविभज्य' विभक्तुम-शक्य, किमुक्त भवति? यस्य भूयोऽपि विभाग कर्त्तु न शक्यते स काल परमनिरुद्ध, तमित्यम्भूत परमनिरुद्ध कालविशेष समय जानीहि, स च समयो दुरधिगम त हि भगवन्तः केवलिनोऽपि साक्षात् केवलज्ञानेन विदन्ति।

—ज्योतिष्करण्डक पृष्ट—५

असख्यात समय	=	१ आवलिका
सख्यात आवलिका	=	१ उच्छ्‌वास
"	=	१ नि श्वास
१ उच्छ्‌वास-नि श्वास	=	१ प्राण
७ प्राण	=	१ स्तोक
७ स्तोक	=	१ लव
७७ लव	=	१ मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ दिन
१५ अहोरात्र	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ मास
२ मास	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ वर्ष
५ वर्ष	=	१ युग
२० युग	=	१०० वर्ष
दस सौ वर्ष	=	१००० वर्ष
सौ हजार वर्ष	=	१ लाख वर्ष
चौरासी लाख वर्ष	=	१ पूर्वांग
" पूर्वांग	=	१ पूर्व
" पूर्व	=	१ त्रुटितांग
" त्रुटितांग	=	१ त्रुटित
" त्रुटित	=	१ अड्डांग
" अड्डांग	=	१ अड्ड
" अड्ड	=	१ अववांग
" अववांग	=	१ अवव
" अवव	=	१ हूहूकांग
" हूहूकांग	=	१ हूहूक
" हूहूक	=	१ उत्पलांग

चौरासी लाख	उत्पलाग	=	१ उत्पल
,,	उत्पल	=	१ पद्माग
,,	पद्माग	=	१ पद्म
,,	पद्म	=	१ नलिनाग
,,	नलिनाग	=	१ नलिन
,,	नलिन	=	१ अर्थनिपुराङ्ग
,,	अर्थनिपुराङ्ग	=	१ अर्थनिपुर
,,	अर्थनिपुर	=	१ अयुताग
,,	अयुताग	=	१ अयुत
,,	अयुत	=	१ प्रयुताग
,,	प्रयुताङ्ग	=	१ प्रयुत
,,	प्रयुत	=	१ नयुताग
,,	नयुताग	=	१ नयुत
,,	नयुत	=	१ चूलिकाग
,,	चूलिकाग	=	१ चूलिका
,,	चूलिका	=	१ शीर्षप्रहेलिकाग
,,	शीर्षप्रहेलिकाग	=	१ शीर्ष प्रहेलिका[1]

(१) शीर्षप्रहेलिकाङ्का. स्युश्चतुर्णवति युक्शत ।
अङ्कस्थानाभिधाश्चेमा श्रित्वा माथुरवाचनाम् ॥ १२ ॥
—काललोकप्रकाश, सर्ग २९, पृ० १४३

इस सख्या मे ५४ अक और १४० सिफर होती है । वह इस प्रकार है —
७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६-
६८४८०८०१८३२९६००००००००००००००००००००००००००००००-
०००-
०००-
००००००००००००००००००००००००००००००००
—काललोकप्रकाश, पृष्ठ १४; अज्ञानतिमिरभास्कर, पृष्ठ १४९

(पृष्ठ १७ की पादटिप्पणि का शेषांश)

भगवती सूत्र सटीक शतक ६, उद्देसा ७, पत्र २७६—२, अनुयोगद्वारसूत्र सटीक पत्र १७९—२; जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक वक्षस्कार २, सूत्र १८, पत्र ९१ आदि मे यही अक क्रम है।

वल्लभी—वाचनानुसार कालसख्या-क्रम—

पुव्वाण सयसहस्स [पुव्व] चुलसीइगुण भवे लयगमिह।
तेसिपि सहसहस्स चुलसीइगुणं लया होइ ॥ ६४ ॥
तत्तो महालयाण चुलसीइ चेव सयसहस्साणि।
नलिणग नाम भवे एत्तो वोच्छ समासेण ॥ ६५ ॥
नलिण महानलिणग हवइ महानलिणमेव नायव्व।
पउमग तह पउम तत्तोय महापउम अग ॥ ६६ ॥
हवइ महा पउम चिय तत्तो कमलगमेव नायव्व
कमल च महाकमलगमेव परतो महाकमल ॥ ६७ ॥
कुमुयग तह कुमुय तत्तो या तहा महा महाकुमुयअग।
ततो य परतोय महा कुमुय तुडियग बोधव्व ॥ ६८ ॥
तुडिय महातुडियग महतुडिय अडडग मडड पर।
परतोय महाडडअग तत्तो य महाअडडमेव ॥ ६९ ॥
उहगपिय ऊह हवइ महल्ल च ऊहग तत्तो।
महाऊहं हवइ हु सीसपहेलिया होइ नायव्वा ॥ ७० ॥
एत्थ सयसहस्साणि चुलसीई चेव होइ गुणकारो।
एक्केक्कमि उ ठाणे अह सखा होइ कालमि ॥ ७१ ॥

—ज्योतिष्करण्डक सटीक, अधिकार २, पृष्ठ ३९

वल्लभी वाचनानुसार शीर्षप्रहेलिका मे ७० अक और १८० सिफर होते हैं। वह इस प्रकार है :—

१८७९५५१७९५५०११२५९५४१९००९६९९८१३४३०७७०७९७४६५-
४९४२६१९७७७४७६५७२५७३४५७१८६८१६०००००००००००००००-
००००००००००००००००००००००००००००००००००-
००००००००००००००००००००००००००००००००००-
००००००००००००००००००००००००००००००००००-
०००००००००००००००००००००००००००००००००-

काल लोकप्रकाश, पृष्ठ (१४४ प्रकाशक जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर)

इतना ही काल गणित का विषय हैं। आगे का काल औपमिक है। ([1])

औपमिक काल के दो भेद हैं। 'पल्योपम' और 'सागरोपम' ([2])

सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन न किया जा सके, ऐसे 'परमाणु' को सिद्ध पुरुष सब प्रमाणो का 'आदि प्रमाण' कहते है।

अनन्त परमाणुओ का समुदाय	=	१ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका
८ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	=	१ उर्ध्वरेणु
८ उर्ध्वरेणु	=	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु
८ रथरेणु	=	१ देवकुरु और उत्तरकुरुके मनुष्य का वालाग्र
८ देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्य का वालाग्र	=	१ हरिवर्ष और रम्यक् के मनुष्य का वालाग्र

१—एसो पण्णवणिज्जो कालो सखेज्जओ मुणेयव्वो।
वोच्छामि असखेज्ज काल उवमाविसेसेण ॥ ७२ ॥

२—सत्थेण सुतिक्खेणवि छित्तु भित्तु व ज किर न सक्का।
त परमाणु सिद्धा वयति आइ पमाणाण ॥ ७३ ॥
परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गय च वालस्स।
लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥ ७४ ॥
जवमज्झा अट्ठ हवन्ति अगुल छच्च अगुला पाओ।
पाया य दो विहत्थी दोय विहत्थी हवइ हत्थो ॥ ७५ ॥
दड धणु जुगं नालिया य अक्ख मुसल च चउहत्था।
अट्ठेव धणुसहस्सा जोयणमेग माणेण।
एय धणुप्पमाण नायव्वं जोयणस्स य पमाण।
कालस्स परीमाण एत्तो उद्ध पवक्खामि ॥ ७७ ॥
ज जोयणविच्छिण्ण त तिगुण परिरएण सविसेस।
त जोयणमुव्विद्ध जाण पलिओवम नाम ॥ ७८ ॥
—ज्योतिष्करण्डक सटीक, अधिकार २, पत्र ४१-४२

८ हरिवर्ष और रम्यक् के मनुष्य का वालाग्र	=	१ हैमवत ऐरवत के मनुष्य का वालाग्र
८ हैमवत ऐरवत मनुष्य का वालाग्र	=	१ पूर्व विदेह के मनुष्य का वालाग्र
८ पूर्वविदेह के मनुष्य का वालाग्र	=	१ वालाग्र
८ वालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यवमध्य
८ यवमध्य	=	१ अगुल
६ अगुल	=	१ पाद
१२ अगुल	=	१ वितस्ति (वालिश्त)
२४ अगुल	=	१ हाथ
४८ अगुल	=	१ कुक्षि
९६ अगुल	=	१ दण्ड, धनु, यूप, नालिका अक्ष अथवा मूसल
२००० धनुष्य का	=	१ कोस
४ कोस का	=	१ योजन
दस कोटाकोटी पल्योपम	=	१ सागरोपम (१)
,, सागरोपम	=	१ उत्सर्पिणी।
,, ,,	=	१ अवसर्पिणी
बीस कोटाकोटी ,,	=	१ कालचक्र

(१) सागरोपम वर्ष की व्याख्या करते हुए जैन-शास्त्रो मे कहा गया है कि एक योजन लम्बा-चौड़ा और गहरा प्याले के आकार का एक गड्ढा (पल्य) खोदा जाये जिसकी परिधि ३ योजन हो, और उसे उत्तर कुरु के मनुष्य के १ दिन से ७ दिनो तक के वालाग्र से इस प्रकार भरा जाये कि उसमे अग्नि, जल तथा वायु तक प्रवेश न कर सके। उस गड्ढे मे से १००-१०० वर्ष से एक वालाग्र निकाला जाये और इस प्रकार एक-एक वालाग्र निकालने पर जितने काल मे वह पल्य खाली हो जाये उसे एक पल्योपम वर्ष कहते हैं। ऐसे दस कोटा-कोटी पल्योपम वर्ष का एक सागरोपम होता है।

—भगवतीसूत्र सटीक शतक ६, उद्देश ७, सूत्र २४८ भाग १, पत्र २७५-२७६

—लोकप्रकाश, सर्ग १, श्लोक ७३, पृष्ठ १२

ऋषभदेव

इस सुषमा-दुषमा आरे मे जब पल्योपमका $\frac{1}{8}$ काल शेष रहता है, तो कुलकी स्थापना करने के स्वभाववाले, विशिष्ट बुद्धिवाले, लोकव्यवस्था करनेवाले पुरुष विशेष 'कुलकरो' का जन्म अनुक्रम से होता है[1]। जैन-शास्त्रो मे ७, १४ अथवा १५ कुलकरो के नाम मिलते है[2]। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति मे उनके नाम इस प्रकार दिये हैं —

१ सुमति, २ प्रतिश्रुति, ३ सीमङ्कर, ४ सीमंधर, ५ क्षेमङ्कर, ६ क्षेमंधर, ७ विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी, १० अभिचन्द्र, ११ चन्द्राभ, १२ प्रसेनजित्, १३ मरुदेव, १४ नाभि, १५ ऋषभ[3]

जिन ग्रन्थो मे सात कुलकरो के नाम मिलते हैं, उन मे निम्नलिखित नाम आते हैं —

१–विमलवाहन २–चक्षुष्मान ३–यशस्वी ४–अभिचन्द्र ५–प्रसेनजित ६–मरुदेव ७–नाभि[4]

---

(१) स्थानाङ्गसूत्रवृत्ति, सूत्र ७६७, पत्र ५१८–१

(२) 'तत्र सप्तैव कुलकरा, क्वचित्पञ्चदशापि दृश्यन्ते इति'। स्थानाङ्गसूत्र, वृत्ति, पत्र ५१८–१

(३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पत्र १३२–२
१४ कुलकरो का उल्लेख पउमचरिय, उद्देसा ३, श्लोक ५०-५५ मे मिलता है। उस मे ऋषभदेव की गणना कुलकरो मे नही की गयी है।

(४) स्थानाङ्ग सूत्रवृत्ति सूत्र, ५५६, पत्र ३९८–१
आवश्यक चूर्णि, पत्र १२९, आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ २४, श्लोक ८१, त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २ श्लोक १४२-२०६

वस्तुत: यह वाचनाभेद है

दिगम्बर-ग्रन्थों में भी १४ कुलकर गिनाये गये हैं[१]। इन्हें दिगम्बर १४ 'मनु' भी कहते हैं।

जैन-शास्त्रों के अनुरूप ही वैदिक-शास्त्रों में भी ७ मनुओं के होने की चर्चा मिलती है। उनके नाम हैं :—

१– स्वायम्भू २– स्वारोचिष ३– उत्तम ४– तामस ५– रैवत ६– चाक्षुप और ७– वैवस्वत[२]

कुछ वैदिक ग्रन्थों में १४ मनु गिनाये गये हैं :—

१– स्वायम्भुव २–स्वारोचिष, ३–औत्तमि, ४–तापस, ५–रैवत, ६–चाक्षुप ७–वैवस्वत, ८–सावर्णि, ९, दक्षसावर्णि १०–ब्रह्मसावर्णि, ११–धर्मसावर्णि, १२–रुद्रसावर्णि, १३–रौच्य देवसावर्णि, १४–इन्द्र सावर्णि[३]

दण्डनीति[४]

कुलकरों की दण्डनीति-व्यवस्था के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि विमलवाहन तथा चक्षुष्मान की 'हकार'[५] नीति थी, यशस्वी और अभिचन्द्र की 'मकार'[६] नीति थी तथा प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि की

(१) महापुराण जिनसेनाचार्यरचित, खण्ड १, पृष्ठ ५१-५९

(२) मनुस्मृति, अध्याय १, श्लोक ६२, ६३

(३) मोन्योर-मोन्योर-विलियम-संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृष्ठ ७८४

(४) दण्ड: अपराधिनामनुशासनं, तत्र तस्य वा स एव वा नीति: नयो दण्डनीति:' अपराधियों को शिक्षा करने की नीति को दण्डनीति कहते हैं।

—स्थानाङ्गसूत्र पत्र ३९९–१

(५) 'ह इत्यधिक्षेपार्थस्तस्य करणं हकार' 'ह' का अर्थ है निन्दा। अत: निन्दा करना 'हकार' नीति हुई। —स्थानाङ्गसूत्र वृत्ति—पत्र ३९९–१

(६) 'मा इत्यस्य निषेधार्थस्य करणं अभिधानं माकार' मकार का अर्थ है मना करना। निषेध करने को ही मकारनीति कहते हैं।

—स्थानाङ्गसूत्रवृत्ति—पत्र ३९९–१

'हकार', 'मकार' और 'धिक्कार'[१] नीति थी।

तीसरे आरे के जब चौरासी लाख पूर्व (८४ लाख वर्ष=१ पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग=१ पूर्व) और नवासी पक्ष (तीन वर्ष साढे आठ महीने) शेष रहे, तब आषाढ कृष्ण चतुर्दशी के दिन उत्तराषाढा नक्षत्र मे चन्द्रयोग आने पर, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव मरुदेवा के गर्भ मे आये और नौ महीने साढे आठ दिन गर्भ मे रहने के पश्चात्, जब चन्द्रयोग उत्तराषाढा नक्षत्र में स्थित हुआ, तब चैत्र के कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन, आधी रात के समय, नाभि कुलकर के यहाँ, मरुदेवा की कुक्षि से, आपका जन्म हुआ। आपके जघे मे 'ऋषभ' का चिह्न था, इसलिये आपका नाम ऋषभदेव पडा[२]। आपके साथ ही सुमङ्गला का जन्म हुआ।

जब भगवान् की उम्र एक वर्ष से कुछ कम थी, तभी एक दिन सौधर्मेन्द्र उनके समक्ष आया। स्वामी के समक्ष खाली हाथ न जाना चाहिये, इस विचार से वह एक गन्ना (इक्षु) अपने साथ लेता आया। ऋषभदेव उस समय नाभिराज की गोद में बैठे थे। उन्होंने इन्द्र की भावना समझ कर इक्षु लेने के लिए हाथ बढा दिया। ऋषभदेव ने इक्षु ग्रहण किया, इसलिए सौधर्मेन्द्र ने उनके कुल का नाम 'इक्ष्वाकुवश'[३] रख दिया। और, भगवान् के पूर्वज इक्षु-रस पीते थे, इसलिए उनके गोत्र का नाम 'काश्यप'[४] पडा।

जब भगवान् की उम्र एक वर्ष से कुछ कम थी, तब की बात है कि एक

---

(१) 'धिगधिक्षेपार्थएवतस्य करणं उच्चारणं धिक्कार.' अत्यन्त निन्दा करने की नीति को धिक्कार-नीति कहते हैं।

—स्थानाङ्गसूत्रवृत्ति—पत्र ३९९–१

(२) त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र पर्व १, सर्ग २, श्लोक ६४७-६५३

(३) (अ) आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति पूर्व भाग–पत्र १२५–२

(ब) आवश्यक सूत्र मलयगिरी की टीका पूर्व भाग—पत्र १९२–२

(क) आवश्यक–निर्युक्ति—पृष्ठ २९, श्लोक ११९, १२०

(ड) आवश्यक चूर्णि—पत्र १५२

(४) आवश्यक-निर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्तिः पूर्व भाग, पत्र १२५–२

युगल अपनी युगल संतान को ताड के वृक्ष के नीचे रखकर, रमण करने की इच्छा से कदली-गृह मे गया। हवा के झोंके से ताड का एक फल बालक के सिर पर गिरा और वह मर गया। अब बालिका माता-पिता के पास अकेली रह गयी। थोड़े दिनो के बाद बालिका के माता-पिता का भी देहान्त हो गया। बालिका वनदेवी की तरह वन मे अकेली घूमने लगी। देवी की तरह सुन्दर रूपवाली, उस बालिका को युगल-पुरुषो ने आश्चर्य से देखा और फिर वे उसे नाभि कुलकर के पास ले गये। नाभि कुलकर ने उन लोगो के अनुरोध से बालिका को यह कह कर रख लिया कि, भविष्य में यह ऋषभ की पत्नी बनेगी[1]। इस कन्या का नाम सुनन्दा रखा गया।

कालान्तर मे २० लाख पूर्व कुमारावस्था मे रहने के बाद, ऋषभदेव का सुमगला और सुनन्दा के साथ विवाह हुआ। यह इस अवसर्पिणी मे विवाह-व्यवस्था[2] का प्रारम्भ था।

ऋषभदेव का विवाह हो जाने के पश्चात्, नाभिराज से अनुमति लेकर युगलियो ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक करने का निश्चय किया। युगलिये अभिषेक के लिए जब जल लाने गये, तब इन्द्र ने आकर भगवान् को सुन्दरतम वस्त्राभूषणो से सुशोभित करके, उनका अभिषेक कर दिया। अभिषेक के पश्चात् युगलिये कमल-पत्र में जब जल लेकर लौटे, तो उन्होंने भगवान् के उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणो पर जल डालना उचित न समझ कर, उनके चरणो पर ही जल अर्पित कर दिया। उन युगलियों के इस विनीत-रूप को देख कर इन्द्र ने कुबेर को एक नगरी बसाने की आज्ञा दी। और, उसका नाम 'विनीता' रखने को कहा और इस देश का नाम, 'इक्खागभूमि'[3], 'विनीतभूमि'[4] हुआ। कालान्तर मे यही भूमि 'मध्यदेश' नाम से विख्यात हुई[5]।

---

(१) आवश्यक चूर्णि पत्र १५२–१५३
(२) त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २, श्लोक ८८१
(३) (अ) आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका १६३–१।
(आ) आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका पत्र १२०–२।
(४) आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका पत्र १५७–२।
(५) आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका श्लोक १५१ पत्र १०९–२।

भगवान् ऋषभदेव

इन्द्र के आदेश पर, कुबेर ने १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी 'विनीता' नगरी बसायी और उसका दूसरा नाम 'अयोध्या' रखा। यह अयोध्या नगरी लवण समुद्र से ११४ योजन ११ कला की दूरी पर है और वैताढ्य से भी उतनी ही दूरी पर है। यह चूल हिमवत पर्वत से ४०२ योजन से कुछ अधिक दूरी पर है। राज्याभिषेक के समय ऋषभदेव की उम्र बीस लाख वर्ष पूर्व[1] थी।

भगवान् ऋषभदेव के लिए शास्त्रों में 'पढम राया' प्रथम राजा, 'पढम भिक्खायरे' प्रथम भिक्षाचर, 'पढम जिणे' प्रथम जिन, 'पढम तित्थंकरे' प्रथम तीर्थंकर सज्ञा मिलती है।[2]

ऋषभदेव ने ही कुम्भकार की, लुहार की, चित्रकार की, जुलाहे की और नापित की कलायें प्रचलित करायी।

उनके सम्बन्ध में कल्पसूत्र मे आता है —

"उसभे णं अरहा कोसलिए दक्खे दक्खपइण्णे पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमार वासमज्झे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं रज्जवासमज्झे वसइ, तेवट्ठिं च पुव्वसयसहस्साइं रज्जवास मज्झे वसमाणे लेहाइआअ गणियप्पहाणाओ सऊणरूय-पज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ, चउसट्ठिं महिलागुणे, सिप्पसयं च कम्माणं, तिन्नि वि पयाहि आए उवदिसइ......"

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सूत्र २११, पत्र ४४४।

दक्ष, सत्यप्रतिज्ञावाले, सुन्दर रूपवाले, सरल परिणामवाले और

---

(१) आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १२७–१।
आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका, पत्र १९५–२।
आवश्यक निर्युक्ति मूल, श्लोक १३१।
आवश्यक चूर्णि पत्र, १५४।
वसुदेव हिंडी पृष्ठ, १६२।
विविध तीर्थकल्प पृष्ठ, २४।

(२) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ४४१।

विनयवान् अर्हन् कौशलिक ऋषभदेव प्रभु बीस लाख पूर्व तक कुमारावस्था मे रहे। फिर, तिरसठ लाख पूर्व तक राज्यावस्था मे रहते हुए उन्होंने पुरुषो की ७२ कलाएँ, महिलाओ के ६४ गुण तथा १०० शिल्पो की शिक्षा दी।

७२ कलाओ का उल्लेख समवायाङ्गसूत्र (समवाय ७२) मे निम्न-लिखित रूप मे है।

१ लेहं = लेख
२ गणियं = गणित
३ रूव = रूप
४ नट्टं = नाटय
५ गीयं = गीत
६ वाइयं = वाद्य
७ सरगय = स्वर जानने की कला
८ पुक्खरगयं = ढोल इत्यादि बजाने की कला
९ समतालं = ताल देना
१० जूयं = जूआ
११ जणवाय = वार्तालाप की कला
११ पोक्खच्चं = नगर के रक्षा की कला
१३ अट्टावय = पासा खेलने की कला
१४ दगमट्टियं = पानी और मिट्टी मिलाकर कुछ बनाने की कला
१५ अन्नविहिं = अन्न उत्पन्न करने की कला
१६ पाणविहीं = पानी उत्पन्न करने और शुद्ध करने की कला
१७ वत्थविहिं = वस्त्र बनाने की कला
१८ सयणविहीं = शय्या-निर्माण की कला
१९ अज्जं = संस्कृत-कविता बनाने की कला
२० पहेलियं = प्रहेलिका रचनेकी कला
२१ मागहियं = छंद विशेष बनाने की कला
२२ गाहं = प्राकृत-गाथा रचने की कला
२३ सिलोगं = श्लोक बनाने की कला
२४ गंधजुत्ति = सुगंधित पदार्थ बनाने की कला
२५ [illegible]
२६ आभरणविहीं = अलङ्कार बनाने अथवा पहनने की कला

२७ तरुणीपडिकम्मं=स्त्रीको शिक्षा देनेकी कला

२८ इत्थीलक्खणं=स्त्री-लक्षण

२९ पुरिसलक्खणं=पुरुष-लक्षण

३० हयलक्खणं=अश्व-लक्षण

३१ गयलक्खणं=हस्ति-लक्षण

३२ गोलक्खणं=गो-लक्षण

३३ कुक्कुडलक्खणं=कुक्कुट-लक्षण

३४ मिंढयलक्खणं=मेढे के लक्षण

३५ चक्कलखणं=चक्र-लक्षण

३६ छत्तलक्खणं=छत्र-लक्षण

३७ दंडलक्खणं=दड-लक्षण

३८ असिलक्खणं=तलवार-लक्षण

३९ मणिलक्खणं=मणि-लक्षण

४० कागणिलक्खणं=काकिणी (चक्रवर्ती का रत्न-विशेष) का लक्षण जानना

४१ चम्मलक्खणं=चर्म-लक्षण

४२ चंदलक्खणं=चद्र-लक्षण

४३ सूरचरिय=सूर्यकी गति आदि जानना

४४ राहुचरियं=राहु की गति आदि जानना

४५ गहचरियं=ग्रहो की गति जानना

४६ सोभागकरं=सौभाग्य का ज्ञान

४७ दोभागकरं=दुर्भाग्य का ज्ञान

४८ विज्जागय=रोहिणी, प्रज्ञप्ति-विद्या सबधी ज्ञान

४९ मंतगय=मत्रसाधना ज्ञान

५० रहस्सगयं=गुप्त वस्तुका ज्ञान

५१ सभासं=हरवस्तु की हकीकत जानना

५२ चारं=सैन्य का प्रमाण आदि जानना

५३ पडिचारं=सेना को युद्ध मे उतारने की कला

५४ वूह=व्यूह रचने की कला

५५ पडिवूहं=व्यूह के सामने उसे पराजित करनेवाले व्यूह की रचना

५६ खंधावारमाणं=सेना के पडाव का प्रमाण जानना

५७ नगरमाण=नगर-निर्माण

५८ वत्थुमाणं=वस्तुका प्रमाण जानना

५९ खंधावारनिवेसं=सेना के पडाव आदि का ज्ञान

६० वत्थुनिवेसं=हर वस्तु के स्थापन कराने का ज्ञान

६१ नगरनिवेसं=नगर वसाने का ज्ञान

६२ ईसत्थं=थोडे को वहुत करके दिखाने की कला

६३ छरुप्पवायं=तलवार की मूंठ वनाने की कला

६४ आससिक्ख=अश्व-शिक्षा

६५ हत्थि सिक्खं=हस्ति-शिक्षा

६६ धणुवेय्यं=धनुर्वेद

६७ हिरण्णपागं, सुवन्नपागं, मणिपागं, धातुपागं=हिरण्यपाक, सुवर्ण-पाक, मणिपाक, धातुपाक

६८ वाहुजुद्धं, दंडजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, जुद्धं, निजुद्धं, जुद्धाइं जुद्धं=वाहुयुद्ध, दडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध

६९ सुत्ताखेड, नालियाखेड, वट्टखेडं, धम्मखेडं चम्मखेडं=सूत्रखेड (सूत वनाने की कला), नालिका खेड (नली वनाने की कला), वर्तखेड (गेंद खेलने की कला), धर्मखेड, (वस्तु का स्वभाव जानने की कला) चर्मखेड (चमडा वनाने की कला)

७० पत्तच्छेज्ज, कडगच्छेज्जं=पत्र-छेदन, वृक्षाग विशेप छेदने की कला

७१ सजीव, निज्जीव=सजीवन, निर्जीवन

७२ सउणरूय=शकुनरुत-(पक्षी के शब्द से) शुभाशुभ जानने की कला

नायाधम्मकहा पृष्ठ २१, राजप्रश्नीय पत्र ३४०, औपपातिक सूत्र ४०, पत्र १८५ तथा नंदीसूत्र (सूत्र ४२) पत्र १९४ के अतिरिक्त कल्पसूत्र सुवोधिका टीका पत्र ४४५, ४४६, कल्पसूत्र सन्देह विषौषधि टीका पत्र १२२-१२३, कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी टीका पृष्ठ २२९ तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सूत्र ३० की टीका में भी कुछ हेर-फेर से ७२ कलाओं का उल्लेख मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति पृष्ठ ३२, श्लोक १३४-१३७ में पुरुप की केवल ३९ कलाए गिनायी गयी हैं। आवश्यक की मलयगिरि की टीका (पूर्व भाग) में (पत्र १९५-२) में भी ३९ कलाएँ हैं।

स्त्रियो की ६४ कलाओ की चर्चा श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका मे (वक्षस्कार २, पत्र १३९-२, १४०-१) मे इस प्रकार आयी है।

१ नृत्य

२ औचित्य

३ चित्र

४ वादित्र

५ मन्त्र
६ तन्त्र
७ ज्ञान
८ विज्ञान
९ दम्भ
१० जलस्तम्भ
११ गीतमान
१२ तालमान
१३ मेघवृष्टि
१४ फलाकृष्टि
१५ आरामरोपण
१६ आकारगोपन
१७ धर्मविचार
१८ शकुनसार
१९ क्रियाकल्प
२० संस्कृत जल्प
२१ प्रासादनीति
२२ धर्मरीति
२३ वर्णिका वृद्धि
२४ स्वर्णसिद्धि
२५ सुरभितैलकरण
२६ लीलासञ्चरण
२७ हयगज परीक्षण
२८ पुरुष स्त्रीलक्षण
२९ हेमरत्न भेद
३० अष्टादश लिपि परिच्छेद
३१ तत्कालबुद्धि
३२ वास्तुसिद्धि
३३ कामविक्रिया
३४ वैद्यकक्रिया
३५ कुम्भभ्रम
३६ सारिश्रम
३७ अंजनयोग
३८ चूर्णयोग
३९ हस्तलाघव
४० वचनपाटव
४१ भोज्यविधि
४२ वाणिज्यविधि
४३ मुखमण्डन
४४ शालिखण्डन
४५ कथाकथन
४६ पुष्पग्रन्थन
४७ वक्रोक्ति
४८ काव्यशक्ति
४९ स्फारविधिवेष
५० सर्वभाषाविशेष
५१ अभिधानज्ञान
५२ भूषणपरिधान
५३ भृत्योपचार
५४ गृहाचार
५५ व्याकरण
५६ परनिराकरण
५७ रन्धन
५८ केशबन्धन
५९ वीणानाद
६० वितण्डावाद

६१ अंकविचार
६२ लोकव्यवहार
६३ अन्त्याक्षरिका
६४ प्रश्नप्रहेलिका

विवाह के पश्चात् ६ लाख से कुछ न्यून पूर्व वर्ष तक भगवान् ने सुमगला-सुनन्दा के साथ विषय-सुख भोगते हुए, १०० पुत्र और २ पुत्रियो को जन्म दिया। उनके नाम इस प्रकार हैं —

१ भरत, २, बाहुबलि, ३ शङ्ख, ४ विश्वकर्मा, ५ विमल, ६ सुलक्षण, ७ अमल, ८ चित्राङ्ग, ९ ख्यातकीर्ति, १० वरदत्त, ११ दत्त, १२ सागर, १३ यशोधर, १४ अवर, १५ थवर, १६ कामदेव, १७ ध्रुव, १८ वत्स, १९ नन्द, २० सूर, २१ सुनन्द, २२ कुरु, २३ अंग, २४ वंग, २५ कोसल, २६ वीर, २७ कलिङ्ग, २८ मागध, २९ विदेह, ३० सङ्गम, ३१ दशार्ण, ३२ गभीर, ३३ वसुवर्मा, ३४ सुवर्मा, ३५ राष्ट्र, ३६ सुराष्ट्र, ३७ बुद्धिकर, ३८ विविधकर, ३९ सुयश, ४० यश कीर्ति, ४१ यशस्कर, ४२ कीर्तिकर, ४३ सुषेण, ४४ ब्रह्मसेन, ४५ विक्रान्त, ४६ नरोत्तम, ४७ चंद्रसेन, ४८ महसेन, ४९ सुसेण, ५० भानु, ५१ कान्त, ५२ पुष्पयुत, ५३ श्रीधर, ५४ दुर्द्धर्ष, ५५ सुसुमार, ५६ दुर्जय, ५७ अजयमान, ५८ सुधर्मा ५९ धर्मसेन, ६० आनन्दन, ६१ आनंद, ६२ नन्द, ६३ अपराजित, ६४ विश्वसेन, ६५ हरिषेण, ६६ जय, ६७ विजय, ६८ विजयन्त, ६९ प्रभाकर, ७० अरिदमन, ७१ मान, ७२ महाबाहु ७३ दीर्घबाहु, ७४ मेघ, ७५ सुघोष, ७६ विश्व, ७७ वराह, ७८ वसु, ७९ सेन, ८० कपिल, ८१ शैलविचारी, ८२ अरिञ्जय, ८३ कुञ्जरबल, ८४ जयदेव, ८५ नागदत्त, ८६ काश्यप, ८७ बल, ८८ वीर, ८९ शुभ मति, ९० सुमति, ९१ पद्मनाभ, ९२ सिंह ९३ सुजाति, ९४ सञ्जय, ९५ सुनाभ, ९६ नरदेव, ९७ चित्तहर, ९८ सुरवरः ९९ दृढरथ, १०० प्रभञ्जन

दो पुत्रीयो के नाम १ ब्राह्मी और २ सुन्दरी हैं।

—श्रीकल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१-२-१५२-१

तिरसठ लाख पूर्व वर्ष तक राज्य करने के पश्चात्, भगवान् ने भरत आदि को राज्य सौंप दिया और चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन विनीता-नगरी के मध्य से निकल कर सिद्धार्थवन नामक उद्यान मे गये, जहाँ अशोक नाम का वृक्ष था। वहाँ उन्होंने चार मुष्टि लोच किया।

चौविहार छठ[1] का तप करके उत्तराषाढा नक्षत्र मे चन्द्रयोग प्राप्त होने पर, भगवान् ने इन्द्र का दिया देवदूष्य लेकर दीक्षा ग्रहण की।

उस काल मे लोग भिक्षा दान को नही जानते थे और एकान्त सरल थे। अत १ वर्ष तक भगवान् को भिक्षा प्राप्त नही हुई। १ वर्ष बीत जाने पर, सब से पहले हस्तिनापुर मे श्रेयासकुमार से प्रभु ने ईख का ताजा रस ग्रहण किया। जगत में यही भिक्षा-प्रथा का प्रारम्भ था।

दीक्षा के दिन से एक हजार वर्ष तक प्रभु का छद्मस्थ काल जानना चाहिए। उसमे सब मिलाकर प्रमाद काल केवल १ दिन-रात का था। इस तरह आत्म-भावना भाते हुए १ हजार वर्ष पूर्ण होने पर, शरद ऋतु के चौथे महीने, सातवें पक्ष, फाल्गुन मास की कृष्ण एकादशी के दिन सुबह के समय पुरितमाल (प्रयाग) नगर मे शकटमुखी नामक उद्यान मे वट के वृक्ष के नीचे चौविहार अट्ठम[2] तप किये हुए, उत्तराषाढा नक्षत्र मे चन्द्रयोग प्राप्त होने पर, ध्यानान्तर मे वर्तते हुए, प्रभु को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन उत्पन्न हुए।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने बीस लाख पूर्व कुमारावस्था, तिरसठ लाख पूर्व राज्यावस्था, तिरासीलाख पूर्व गृहस्थावस्था, एक हजार वर्ष छद्मस्थ-पर्याय, एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक केवली-पर्याय, एक लाख पूर्व चारित्र्यपर्याय, इस प्रकार कुल चौरासी लाख पूर्व का सर्वायु पूर्ण होने पर वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म के क्षय हो जाने पर, इसी अवसर्पिणी

---

(१) विला जल ग्रहण किये दो दिनो का उपवास

(२) विला जल ग्रहण किये तीन दिनो का उपवास

में सुषमा-दुषमा नामक तीसरे आरे मे, केवल तीन वर्ष और साढे आठ महीने शेष रहने पर (तीसरे आरे के नवानी पक्ष शेष रहने पर) शरद ऋतु के तीसरे महीने, पांचवे पक्ष मे माघ मास की कृष्ण त्रयोदशी के दिन, अष्टापद पर्वत के शिखर पर दश हजार साधुओ के साथ चौविहार, छ. उपवासो का तप करके अभिजित नामक नक्षत्र मे चन्द्रयोग प्राप्त होने पर, प्रात समय पल्यङ्कासन[1] से वैठे हुए निर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान ऋषभदेव के पश्चात् क्रमश ये तीर्थङ्कर हुए —

२ अजित, ३ संभव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि (पुष्पदन्त), १० शीतल, ११ श्रेयांस (श्रेयान्) १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्त (अनन्तजित), १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत (सुव्रत), २१ नमि, २२ नेमि (अरिष्टनेमि)

इनके पश्चात् २३-वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् हुए।

---

(१) पद्मासन

(४)

भगवान् पार्श्वनाथ

आर्यक्षेत्र मे ही तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, वलदेव, प्रतिवासुदेव आदि ६३ शलाका पुरुष जन्म लेते रहे है। भगवान् महावीर के पूर्व तक के तीर्थ-करो का वर्णन करते हुए 'कल्पसूत्र' मे आता है—

सेसेहिं इक्कवीसाए तित्थयरेहिं इक्खागुकुल समुप्पन्नेहिं कासव-गुत्तेहिं (कल्पसूत्र, सूत्र २, सुबोधिका टीका, पत्र २५) अर्थात् २१ तीर्थकरो का जन्म इक्ष्वाकुकुल और काश्यप-गोत्र मे हुआ और केवल मुनिसुव्रत और नेमिनाथ हरिवंश मे जन्मे।

इसी आर्यक्षेत्र मे स्थित, काशी जनपद की वाराणसी नामक राजधानी मे अश्वसेन नामक राजा राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकु-वश और काश्यप-गोत्र के थे। उनकी पत्नी का नाम वामादेवी था। फाल्गुन शुक्ला ४ की रात्रिको प्राणत नामक दशम देवलोक मे च्यवकर के पुरुपादानीय[1] भगवान् पार्श्वका जीव माता वामादेवी की कुक्षि मे गर्भरूप मे आया। उनके गर्भ मे आने पर वामादेवी ने चौदह स्वप्न देखे। वामादेवी ने महाराज मे जब स्वप्नो की बात कही, तो महाराज अश्वसेन ने उत्तर दिया—"आप तीन भुवन के स्वामी तीर्थकर को जन्म देनेवाली है।"

---

१ (अ) पासे अरहा 'पुरिसादाणीए' पुरुषाणां प्रधान पुरुषोत्तम इति। अथवा समवायाङ्गवृत्तावुक्तम्—"पुरुषाणां मध्ये आदानीय—आदेय पुरुषादानीय" (पत्र १४-२) उत्तराध्ययन वृहद्वृत्तौ—"पुरुषश्चासौ पुरुषाकारवर्तितया आदानीयश्च आदेयवाक्यतया पुरुषादानीय, पुरुष-

भगवान् जव गर्भ में थे, तव उनकी माता ने रात को पार्श्व में सरकता हुआ काला सर्प देखा। स्वप्न देखते ही उनकी नींद खुल गयी। उन्होंने यह वात जव महाराज से कही तो महाराज ने कहा—"आप महातेजस्वी महा-गुणी एव महाज्ञानी पुत्र को जन्म देनेवाली हैं। अत आपको वडी साव-धानी से गर्भ की रक्षा करनी चाहिए।"

(पृष्ठ ३३ की पादटिप्पणि का शेपाश)

विशेषण तु पुरुष एव प्रायस्तीर्थंकर इति स्यापनार्थम्। पुरुषैर्वा आदा-नीय —आदानीयज्ञानादिगुणतया पुरुषादानीय (पत्र २७०-२)

—पवित्रकल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द्रसूरिप्रणीत कल्पसूत्र टिप्पनकम् पृष्ठ १७

(आ) पुरुषाणा मध्ये आदानीय, आदेयो ग्राह्यनामा पुरुषादानीय इति पूज्या, पुरुषश्चासौ पुरुषाकारवर्तितया आदानीयश्चादेयवाक्यतया पुरुषादानीय।

—कल्पसूत्र, सन्देह-विषौपधि-टीका, पत्र ११९

(इ) पुरिसादाणीए त्ति पुरुषादानीय पुरुषश्चासौ पुरुषाकार-वर्त्तितया आदानीयश्च आदेयवाक्यतया पुरुषादानीय —पुरुषप्रधान इत्यर्थ, पुरुष विशेषण तु पुरुष एव प्रायस्तीर्थंकर इति स्यापनार्थं पुरुषैर्वादानीयो ज्ञानादिगुणतया स पुरुषादानीय।

—कल्पसूत्र-किरणावलि, पत्र १३२-१

(उ) पुरुषश्वासौ आदानीयश्च आदेयवाक्यतया आदेयनामतया च पुरुषादानीय पुरुषप्रधान इत्यर्थ।

—कल्पसूत्र, सुवोधिका-टीका, सूत्र १४९, पत्र ३६९

(ए) पुरुषाणा मध्ये आदानीय —आदेय पुरुषाऽऽदानीय

—भगवतीसूत्र, अभयदेवसूरी की टीका, भाग १, शतक ५, उद्देशा ९, पत्र २४८-२

(ओ) मुमुक्षूणा पुरुषाणामादानीया आश्रयणीया पुरुषाऽऽदानीया। महतोऽपि महीयासो भवन्ति।

—सूत्रकृताङ्ग, १ श्रु, अ ९, पत्र १८६-१

भगवान् महावीर के निर्वाण से ३५० वर्ष, पूर्व, पौष वदि १० के दिन, विशाखा नक्षत्र का योग होने पर, माता वामादेवी ने एक बड़े सुन्दर और तेजस्वी बालक को जन्म दिया। स्वप्न-सूचना के अनुसार उनका नाम पार्श्वकुमार[1] रक्खा गया।

---

(१) इतिहासकार भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष के रूपमे मानते हैं। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया', जिल्द १, पृष्ठ १५३ मे 'द' हिस्ट्री आव जैनाज' में जार्ल कार्पेण्टियर ने ,लिखा है—"प्रोफेसर याकोबी तथा अन्य विद्वानो के मत के आधार पर, पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष और जैनधर्म के सच्चे स्थापनकर्ता के रूप मे माने जाने लगे हैं। कहा जाता है कि महावीर से २५० वर्ष पूर्व उनका निर्वाण हुआ। वे सम्भवत ईसा पूर्व ८-वी शताब्दी में रहे होगे।" डॉ० याकोवी ने भगवान् पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक पुरुष होने का समर्थन 'सेक्रेड बुक आव द' ईस्ट' (जैन-सूत्राज) भाग ४५, पृष्ठ XXI-XXII मे किया है। 'स्टडीज इन जैनिज्म' सख्या १, पृष्ठ ६ मे उन्होने लिखा है—

"परम्परा की अवहेलना किये विना हम महावीर को जैन-धर्म का सस्थापक नही कह सकते। . उनके पूर्व के पार्श्व (अतिम से पूर्व के तीर्थंकर) को जैनधर्म का सस्थापक मानना अधिक युक्तियुक्त है। .. पार्श्व के परम्परा के शिष्यो का उल्लेख जैन-आगम ग्रथो में मिलता है। .. इससे स्पष्ट है कि पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं .." 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर आव इण्डियन पीपुल' खण्ड २ मे 'जैनिज्म' में डॉक्टर ए० एम० घाटगे ने (पृष्ठ ४१२) लिखा है-"पार्श्व का ऐतिहासिकत्व जैन-आगम-ग्रथो से सिद्ध है।" विमलचरण ला ने भी 'इण्डालाजिकल स्टडीज' भाग ३ पृष्ठ २३६-२३७) मे भी उनके ऐतिहासिक पुरुष होने का समर्थन किया है।

भगवान् जब युवावस्था को प्राप्त हुए तो कुशस्थल (कन्नौज)[1] के राजा प्रसेनजित की पुत्री परम सुन्दरी प्रभावती के साथ उनका विवाह हुआ।

एक दिन वे दोनो प्रासाद के झरोखे में बैठ कर नगर का निरीक्षण कर रहे थे, तो उन लोगो ने नगर-निवासियो को पूजा-सामग्री लेकर नगर के बाहर की ओर जाते देखा। कुतूहलवश कुमार ने पूछा—"लोग कहाँ जा रहे हैं ?" उत्तर मिला—"नगर से बाहर कमठ नामका एक तपस्वी आया है। वह उग्र पचाग्नि तप कर रहा है। सब उसकी पूजा करने के लिए जा रहे हैं।"

पार्श्वकुमार भी उन लोगो के साथ हो लिये। वहाँ पहुँचने पर पार्श्वकुमार ने तपस्वी को पचाग्नि तपस्या करते देखा। उनकी दृष्टि लकडियो के बीच मे जलते एक बडे सर्प पर पडी। पार्श्वकुमार का दिल द्रवित हो उठा और उन्होने उस तपस्वी का ध्यान उस जलते हुए सर्प की ओर आकृष्ट किया। उनकी बात सुन कर तपस्वी बोला—"राजकुमार, आप धर्म के बारे मे क्या जानें ? आप राजकुमार हैं। हाथी-घोडे से खेलें और धर्म के विषय में अनधिकार चेष्टा न करें।" उस तपस्वी की बात सुनकर पार्श्वकुमार के मन मे बडा आश्चर्य हुआ कि जिस व्यक्ति के मन मे दया न हो, वह किस प्रकार अपने को धार्मिक व्यक्ति कह सकता है। उन्होने उस लकडी को आग से बाहर निकलवाया और उस अधजले सर्प को बाहर निकाल कर उसे नवकार मन्त्र दिलाया, जिसके प्रभाव से मर कर वह धरणेन्द्र नामक देव हुआ। और, अज्ञान-तप के कारण कमठ मर कर मेघमाली नामक देव हुआ।

---

(१) (अ) कन्यकुब्ज[1] महोदयम्[2] ॥ ९७३ ॥
कन्याकुब्जं[3] गाधिपुर[4] कौश[5] कुशस्थलं[6] च तत् ॥ ९७४ ॥
अभिधान चितामणि, (अहमदाबाद) तिर्यक्काण्ड, ४, पृष्ठ २२०

(आ) कुशस्थल कान्यकुब्जं।
अमरकोष, (व्यकटेश्वर प्रेस) भूमिवर्ग, द्वितीयकाण्ड, श्लोक १३, पृष्ठ २७९

एक दिन पार्श्वकुमार उद्यान मे गये, तो वहाँ उनकी दृष्टी वन-भवन की दीवाल पर अकित नेमिनाथ के एक चित्र पर गयी। नेमिनाथ के गृहत्याग से प्रेरित होकर, पार्श्वकुमार नें गृहत्याग का निश्चय किया। उस दिन रात्रि मे जब वे लेटे, तो उन्होंने जगत मे ज्ञान-प्रसार का सकल्प किया और दूसरे दिन प्रात काल उठने पर, माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर लेने के बाद, वार्षिक दान करना प्रारम्भ कर किया। इसके बाद, महोत्सव पूर्वक अशोक वृक्ष के नीचे जाकर लुचन किया। इस प्रकार ३० वर्ष की उम्र मे ३०० मनुष्यो के साथ, पौष वदि ११ के दिन पार्श्वकुमार ने दीक्षा अगीकार की।

वहाँ से विहार करते हुए पार्श्वकुमार कलिगिरि नामक पर्वत के नीचे स्थित कादम्बरी नामक वन मे गये और एक सरोवर के तट पर तपस्या में लीन हो गये। इसी अवसर पर महीधर नामक एक हाथी वहाँ आया और अपने पूर्वभव का स्मरण करके, उसने एक कमल तोडकर भगवान् के चरणो पर अर्पित किया। लोगो ने यह बात चम्पा के राजा करकण्डु से कही। समाचार सुनकर राजा भगवान् के प्रति आदर प्रकट करने के लिए वहाँ गये। देवताओ ने उस स्थल पर भगवान् की एक मूर्ति स्थापित की और राजा ने उस पर एक विशाल चैत्य का निर्माण कराया। वह सरोवर उस दिन से वहुत वडा तीर्थ हो गया और कलि-गिरि-कुड सरोवर के निकट होने के कारण उसका नाम 'कलिकुड' पड गया।[१]

भगवान् पार्श्वनाथ वहाँ से शिवपुरी गये और कौशाम्ब नामक वन में कायोत्सर्ग की मुद्रा मे ध्यान मे स्थिर हो गये। धरणेन्द्र अपने पूर्वभव का स्मरण करके भगवान् के प्रति आदर प्रकट करने के लिए वहाँ उपस्थित हुआ। तीन दिनो तक धूप से रक्षा करने के लिए, वह भगवान् पर छत्र लगाये रहा। उस समय से उस स्थान का नाम 'अहिच्छत्रा'[२] पड गया।

वहाँ से भगवान् राजपुर गये। यहाँ ईश्वर नामक राजा उनके प्रति आदर प्रकट करने के लिए आया। भगवान् को देखते ही राजाको अपने पूर्वभव का स्मरण हो गया।

---

(१) देवभद्रसूरि-रचित पासनाह-चरिय पत्र, १८७

(२) पार्श्वनाथ-चरित्र भावदेव सूरिकृत, सर्ग ६, श्लोक १४४,

जिस स्थान पर भगवान् कायोत्सर्ग में लीन थे, उस स्थान पर ईश्वर ने एक विशाल चैत्य निर्मित कराया और उसने भगवान् की मूर्ति स्थापित की। वह चैत्य 'कुक्कुटेश्वर'[1] के नाम से विख्यात हुआ।

उसके बाद भगवान् पुनः विहार के लिए निकले। विहार करते हुए वे एक ग्राम में पहुँचे और एक तापस के आश्रम में गये। वहाँ कूएँ के समीप वट के वृक्ष के नीचे ध्यान में खड़े हो गये। यहाँ मेघमालि ने अपने पूर्वभव का स्मरण करके नाना प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये। उसने पहले शेर, हाथी और बिच्छुओं से भगवान् पर आक्रमण किया। पर, जब भगवान् में भय का कोई लक्षण प्रकट न हुआ, तो वह स्वयं लज्जित हो गया। फिर मेघमाली ने अपार वृष्टि की। अवधि-ज्ञान से धरणेन्द्र ने मेघमाली के उपसर्गों को देखा और अपने सात फनों से उसने भगवान् को छत्र लगाकर उनकी रक्षा की। धरणेन्द्र ने यहाँ भगवान् की बड़ी स्तुति की। परन्तु, मेघमालि के उपसर्ग और धरणेन्द्र की स्तुति दोनों पर ही भगवान् तटस्थ रहे। हार कर मेघमाली भी भगवान् के चरणों में आ गिरा[2]। वहाँ से भगवान् काशी आश्रमपद उद्यान में गये। यहाँ दीक्षा लेने के बाद (८३ दिनों तक आत्मचिन्तन करते हुए ८४ वें दिन) घाति कर्मों के क्षय हो जाने पर, चैत्र वदि ४ के दिन, भगवान् को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुए। अश्वसेन, उनकी पत्नी वामा, तथा पार्श्वकुमार की पत्नी प्रभावती भगवान् के प्रति आदर प्रकट करने के लिए वहाँ आये[3]।

केवल-ज्ञान के बाद भगवान् गजेनपुर[4], मथुरा[5], वीतभय[6],

---

(१) पार्श्वनाथ-चरित्र, भावदेव सूरि-रचित, सर्ग ६, श्लोक १९७
(२) पार्श्वनाथ-चरित्र, भावदेव सूरि-रचित, सर्ग ६ श्लोक २१३
(३) पार्श्वनाथ-चरित्र, भावदेव सूरि-रचित सर्ग ६, श्लोक २४४-२४५
(४) [illegible], [illegible] पत्र २२१
(५) ,, ,, ,, पत्र ४८०, वर्तमान मथुरा।
(६) [illegible] में इसे सिन्धु-सौवीर की राजधानी बताया गया है।

श्रावस्ती[१], गजपुर[२], (हस्तिनापुर), मिथिला[३], काम्पिल्य[४], पोतनपुर, चम्पा[५], काकन्दी, शुक्तिमती[६], कोशलपुर[७], रत्नपुर[८], आदि नगरो में विहार करते हुए वाराणसी[९], गये। वाराणसी से आप आमलकप्पा[१०] और सम्मेतशिखर[११] गये। यही पर आपका निर्माण हुआ।

---

(१) जैन-ग्रन्थो मे इसे कुणाल की राजधानी बताया गया है।

(२) जैन-ग्रन्थो मे इसे कुरु की राजधानी बताया गया है। यह स्थान मेरठ जिले मे है।

(३) जैन ग्रन्थो में इसे विदेह की राजधानी बताया गया है।

(४) यह पाचाल की राजधानी थी। फरुखाबाद जिले मे कायमगज से पाँच कोस की दूरी पर स्थित है।

(५) यह अग देश की राजधानी थी। भागलपुर जिले में आज भी इसी नाम से विख्यात है।

(६) यह चेदि की राजधानी थी।

(७) यह कौशल की राजधानी थी। वर्तमान अयोध्या।

(८) यह रत्नपुर (नौराई) अयोध्या से १४ मील की दूरी पर है।

(९) पासनाह-चरिअ, पत्र ४८१

(१०) बौद्ध-ग्रन्थो मे इसे बुलिय जाति की राजधानी वताया गया है। यह १० योजन विस्तृत था। इसका सवध वेठद्वीप के राजवश से वताया गया है। श्री वील का कथन है कि वेठद्वीप का द्रोण ब्राह्मण शाहावाद जिले में मसार से वैशाली जानेवाले मार्ग मे रहता था। अत अल्लकप्प वेठद्वीप से वहुत दूर न रहा होगा (सयुक्त-निकाय, वुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय, पृष्ठ ७)। यह अल्लकप्प ही जैन-साहित्य मे वर्णित आमलकप्पा है। यहां नगर से वाहर अवसाल चैत्य मे महावीर का समवसरण हुआ था। यहां महावोर ने सूर्याभ के पूर्वभव का निरूपण किया था।

(११) पार्श्वनाथ पर्वत।

भगवान् पार्श्वनाथ के आठ गणधर[1] थे। (१) शुभ[2] (शुभदत्त) (२) आर्यघोष (३) वसिष्ठ (४) ब्रह्मचारी (५) सोम (६) श्रीधर (७) वीरभद्र (८) यशस्वी। उनके १६०० साधु थे, उनमे प्रमुख आर्यदत्त थे। ३८००० साध्वियाँ थी, उनमें प्रमुख पुष्पचूला थी। १६४००० व्रतधारी श्रावक थे—उनमे प्रमुख सुव्रत थे। ३२७००० श्राविकाए थी—उनमें प्रमुख सुनन्दा थीं। इनके अतिरिक्त उनके और भी परिवार थे।

---

(१) (अ) तस्याष्टौ 'गणा' समानवाचनक्रिया [साधु] समुदायाः, अष्टौ 'गणधरा' तन्नायका सूरय। इद च प्रमाण स्थानाङ्गे (सूत्र ६१७) पर्युषणाकल्पे (सूत्र १५६) च श्रूयते। दृश्यते च किल आवश्यके अन्यथा, तत्र चोक्तम्—"दसनवग, गणाण माण जिणिंदाणं।" (निर्यु० गा० २६८) ति, कोऽर्थ ? पार्श्वस्य दश गणा गणधराश्च, तदिह द्वयोरल्पायुपत्वादिकारणेनाविवक्षाऽनुमातव्येति।

—पवित्र कल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द्र सूरि-प्रणीत कल्पसूत्र-टिप्पनकम्, पृष्ठ १७

(आ) श्रीपार्श्वस्य अष्टौ, आवश्यके (आवश्यक निर्युक्ति गाथा २९०) तु दश गणा, दश गणधराश्चोक्ता।

इह स्थानाङ्गे च द्वौ अल्पायुष्कत्वादि कारणान्नोक्तौ इति टिप्पनके व्याख्यात —कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र ३८१

आवश्यक निर्युक्ति मे गणधरों की संख्या १० बतलायी गयी है, पर उनमे दो अल्पायु होने के कारण यहाँ नहीं गिनाये गये हैं। ऐसा ही उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति की मलयगिरि की टीका (पत्र २०९), एक विंशति स्थान प्र[illegible]म् (पत्र ३०), प्रवचनसारोद्धार पूर्वभाग (पत्र ८६) मे भी आया है।

(२) [illegible] पार्श्वनाथ के गणधरों के नाम हैं। वहाँ प्रथम गणधर का नाम शुभ है। पार्श्वनाथ-चरित्र मे उनका नाम शुभदत्त है। (पत्र २०२) [illegible] 'दिन्न' शब्द भी [illegible] नहीं द्योतित करता [illegible] नाम [illegible] तथा आर्यदत्त दोनों रूपों मे आया है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने चतुर्याम[1] धर्म का उपदेश दिया।

(१) प्राणातिपात विरमण—किसी भी जीव की हिंसा न करना
(२) मृषावाद विरमण —किसी प्रकार का झूठ न बोलना
(३) अदत्तादान विरमण—किसी प्रकार की चोरी न करना
(४) परिग्रह विरमण —आरभ-समारभ की वस्तुओ का त्याग[2]

साधनावस्था के ८३ दिन निकाल कर शेष ७० वर्षों तक भगवान् ने धर्मोपदेश किया।

३० वर्ष गृहस्थावस्था, ८३ दिन छद्मावस्था, ८३ दिन कम ७० वर्प केवली अवस्था—इस प्रकार कुल १०० वर्षों का आयुष्य बिताकर श्रावण सुदि ८ दिन (७७७ ई० पू) मे सम्मेतशिखर नामक पर्वत पर एक मास का अनशन करके ३३ पुरुषो के साथ भगवान् पार्श्वनाथ ने समाधिपूर्वक निर्वाण-पद प्राप्त किया।

जैन शास्त्रो में भगवान् महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व भगवान् पार्वनाथ का निर्वाण बतलाया गया है।

आर्य-क्षेत्र

सब से पहले हमे इस प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए कि, 'आर्यावर्त'

पृष्ठ ४० की पादटिप्पणि का शेषाश

स्पष्ट है कि शुभ, शुभदत्त, दत्त तथा आर्यदत्त वस्तुत एक ही व्यक्ति के नाम है।

---

(१) चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पच सिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी॥ २३॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, त्रयोविंशतिमध्ययनम् 'नेमिचन्द्राचार्यकृत टीका' पत्र २९७–१

(२) 'वय'त्ति व्रतानि-महाव्रतानि तानि च द्वाविंशतिजिनसाधूना चत्वारि, यतस्ते- एव जानन्ति यत् अपरिगृहीताया स्त्रिय भोगाऽसभवात् स्त्री अपि परिग्रह एवेति, परिग्रहे प्रत्याख्याते स्त्री प्रत्याख्यातय, प्रथमचरमजिनसाधूना तु तथा ज्ञानाऽभावात् पञ्च व्रतानि।
—कल्पसूत्र, सुवोधिका-टीका पत्र, ५

अथवा 'मध्यदेश' की सीमा क्या थी और जैन, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थो मे उसकी व्याख्या किस रूप मे उपलब्ध है।

(क) जैन-दृष्टिकोण।

१—'वृहत् कल्पसूत्र सटीक'[1] मे आर्य-देश और उनकी राजधानियाँ इस प्रकार गिनायी गया है —

रायगिह मगह चपा अंगा तह तामलित्ति वंगा य।
कंचणपुर कलिंगा वाणारसी चेव कासी य॥
साकेत कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य।
कपिल्ल पंचाला अहिछत्ता जगला चेव॥
बारवई य सुरट्ठा विदेह महिला य वच्छ कोसंबी।
नदिपुरं संडिल्ला भद्दिलपुरमेव मलया य॥
वेराड मच्छ वरुणा अच्छा तह मत्तियावइ दसन्ना।
सुत्तीवई य चेदि वीयभयं सिंधुसोवीरा॥
महुरा या सूरसेणा पावा भंगी य मासपुरि वट्टा।
सावत्थी य कुणाला कोडीवरिसं च लाढा य॥
सेयविया वि य नगरी केगइअद्ध च आरियं भणियं।

आर्यदेश	राजधानी
१ मगव	राजगृह
२ अग	चम्पा
३. वग	ताम्रलिसि
४ कलिग	काचनपुर
५ काशी	वाराणसी
६ कोशल	साकेत
७ कुरु	गजपुर- (हस्तिनापुर)

१–वृहत् कल्पसूत्र सटीक, आगमप्रभाकर मुनिराज पुण्यविजय-सपादित, विभाग ३, पृष्ठ ९१३।

८ कुशार्त (१)　　　　　　सोरिक (सौरिपुर)

१—'सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट" खण्ड २२, (पृष्ठ २७६) मे डाक्टर याकोबी ने लिखा है कि, प्राकृत का 'सोरिअपुर' संस्कृत का 'शौरिकपुर' है। निश्चित रूप से यह कृष्ण का नगर है। उसी ग्रथमाला के खण्ड ४५ (पृष्ठ ११२ मे उन्होंने लिखा है कि, ब्राह्मण-ग्रथो के अनुसार वसुदेव मथुरा मे रहते थे। जैनो ने इस नगर का जो नाम दिया है, वह 'शौरी' शब्द से बना है—जो 'कृष्ण' का समानार्थी है। कृष्ण के दादा का नाम 'सूर' था। अत 'सोरिअपुर' को 'शौरिकपुर' अथवा 'शौर्यपुर' होना चाहिए था। बाद के टीकाकारो ने जिस रूप मे शब्द-निर्माण किया, वह अशुद्ध है।

याकोबी महोदय ने 'सोरिअपुर'-सम्बन्धी इस टिप्पणी मे दो भूलें की हैं। एक तो यह कि, मथुरा और सोरिअपुर को एक नगर मान लिया है, जब कि वे दो नगर थे, एक नही। 'मथुरा' के लिए जैन-साहित्य मे 'महुरा' शब्द आया है (वसुदेव-हिण्डी, पृष्ठ ३६९)। यह मथुरा शूरसेन देश मे थी और 'सौरिपुर' कुशार्त-देश मे, जो एक पथक् राज्य था और जिसका वर्णन २५॥ आर्य देशो मे है।

दूसरी बात यह है कि, 'शौरि' शब्द 'कृष्ण' का समानार्थक मानकर, याकोबी ने 'सोरिअपुर' का सम्बन्ध कृष्ण से जोड दिया। पर, वस्तुत बात यह थी कि, 'सोरिअपुर' नगर कृष्ण के पितामह सोरी ने बसाया था (वासु-देव-हिण्डी पृष्ठ १११, ३५७)। वह कृष्ण से तीन पीढी पहले से ही इसी नाम से बसा हुआ था। और, रही मथुरा—वह तो सोरिअपुर के बसने से भी बहुत पूर्व से बसी हुई थी। कृष्ण के पितामह शूर से भी सैकडो वर्ष पूर्व से शूरसेन जनपद था (मथुरा-परिचय, कृष्णदत्त वाजपेयी-लिखित पृष्ठ १४) और उस जनपद की राजधानी मथुरा थी। अत कहना चाहिए कि, मथुरा और सोरिअपुर को एक करने का प्रयास डाक्टर याकोबी की भ्राति थी। 'अभिधान-चिंतामणि-कोश' (पृष्ठ २२३) मे मथुरा के तीन नाम आये हैं—मथुरा, मधुरापघ्न और मधुरा।

डा० याकोबी के मत का ही समर्थन जार्ल कार्पेंटियर ने उत्तराध्ययन सूत्र (पृष्ठ ३५८) मे किया है। उन्होने भी तथ्य की खोज-बीन करने का प्रयास नही किया।

९ पाचाल	काम्पिल्य
१०. जगल (जागल) (¹)	अहिच्छत्रा
११ सौराष्ट्र	द्वारावती
१२ विदेह	मिथिला
१३ वत्स	कौशाम्बी
१४ शाडिल्य	नन्दिपुर
१५ मलय	भद्दिलपुर
१६ मत्स्य	वैराट
१७ अत्स्य (अच्छ)	वरुणा
१८. दर्शाण	मृत्तिकावती
१९ चेदि	शुक्तिमती
२० सिन्धु-सौवीर	वीतभय
२१ शूरसेन	मथुरा
२२ भगी	पावा

१—'जागल' से तात्पर्य है—जगल मे वसा हुआ प्रदेश (वस्टं लैण्ड)। वह जिस देश मे होता है, उस देश के नाम से पुकारा जाता है, जैसे 'कुरु-जागल', 'माद्रेय जागल'। उत्तर पाचाल देश और गगा के बीच मे 'कुरु-जागल, देश वसा हुआ था।' और, उसमे काम्यक-वन था। 'कुरु' के ३ भाग थे—कुरु, कुरुक्षेत्र और कुरु-जागल। महाभारत के अनुसार अहिच्छत्रा उत्तर पाचाल की राजधानी थी।

कुछ विद्वान् अहिच्छत्रपुर अथवा अहिच्छत्रा को वर्तमान 'नागौर' (नाग-पुर) मानते हैं। 'नागौर' को 'नागपुर' का वाचक मान कर समानार्थक रूप देकर 'अहिच्छत्रा' की खोज का उनका प्रयास सर्वथा भ्रामक है। पुरातत्त्व-विभाग ने अब अहिच्छत्रा की अवस्थिति-सम्बन्धी सभी भ्रमो का निवारण कर दिया है। उत्तर प्रदेश के बरेली जिले के रामनगर गाँव के आसपास इसके अवशेष बिखरे पड़े हैं। यह स्थान आँवला नामक-रेलवे-स्टेशन से १० मील की दूरी पर है (अहिच्छत्रा, कृष्णदत्त वाजपेयी-लिखित, पृष्ठ १)

हमने कुरु-जागल का जो स्थान बताया है, वह रामायण के अयोध्या-काण्ड के ६८-वें सर्ग के १३-वें श्लोक, तथा महाभारत के आदिपर्व के १०९-वें सर्ग के पहले तथा २४-वें श्लोक और वन-पर्व के १०-वें सर्ग के ११-वें श्लोक, ५-वें सर्ग के ३-रे श्लोक और २३-वें सर्ग के ५-वें श्लोक से भी स्पष्ट है।

२३. वर्त्त (¹)	मासपुरी
२४ कुणाल	श्रावस्ती
२५ लाढ	कोटिवर्ष
२५॥ केकय	श्वेतविका

इसी मध्यखड के आर्यदेशो मे ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, और वलदेव आदि उत्तम पुरुष उत्पन्न होते है। (लोकप्रकाश, सर्ग १६, श्लोक ४५)

१–'पार्श्वनाथ-चरितम्' (श्री हेमविजय गणि-विरचित, पृष्ठ ९०) मे इसे (वृत्ता मासपुरी) 'वृत्त' रूप मे लिखा है। मूल प्रकृतरूप 'वट्ट' का सस्कृत में 'वृत्त' और 'वर्त्त' दोनो रूप बनते हैं। सम्भवत इसी कारण लेखक ने 'वृत्त' शब्द का प्रयोग किया है।

'काव्य-मीमासा' (गायकवाड-ओरियण्टल-सीरीज, तृतीयावृत्ति, अध्याय १७, पृष्ठ ९३, पक्ति २१) मे 'वर्त्तक' शब्द आया है। उसके सम्पादको ने (पृष्ठ XLI) मल्लवर्त्तक को एक देश के रूप मे माना है और परिशिष्ट १ (पृष्ठ ३०२) मे इस प्रदेश की अवस्थिति मल्लपर्वत अथवा पार्श्वनाथ पहाड़ी के आसपास वताया है। विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद द्वारा प्रकाशित काव्य-मीमासा मे अनुवादक केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने परिशिष्ट २, पृष्ठ २९३ में 'मल्लवर्त्तक' को अग्रेजी के अनुरूप एक साथ लिख डाला है। ऐसा ही भ्रामक प्रयोग 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित्र' [पत्र ३७-१, पर्व ४, सर्ग २, श्लोक ६९] मे भी हुआ है।

'काव्यानुशासनम्' (महावीर-जैन-विद्यालय वम्वई द्वारा प्रकशित) में (प्रथम खण्ड, १८२) सभी देशो के नाम एक साथ मिलाकर लिख दिये गये हैं। अनुक्रमणिका (पृष्ठ ५५५) मे 'वर्त्तक' शब्द लिख कर प्रश्नचिह्न देकर शका प्रकट की गयी है और पृष्ठ ५५१ पर 'मल्लवर्त्तक' एक साथ दिया है।

'मल्लवर्त्तक' वस्तुत एक ही देश का नाम नही है और ऐसा भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि, मल्लपर्वत का उस देश से कोई सम्वन्ध था।

'मल्ल' और 'वर्त्तक' दोनो को एक साथ मिलाना वस्तुत. जैन तथा वैदिक ग्रंथों के विरुद्ध है।

२—ये २५॥ आर्यदेश सर्वदा के हैं। (१) समय-समय पर इनमे परिवर्तन होते रहते हैं। जैन-ग्रथो मे ही १६ जनपदो की भी चर्चा मिलती है —

१. अगाण, २ वंगाण, ३ मगहाणं, ४. मलयाण ५. मालवगाणं ६. अच्छाण, ७ वच्छाणं, ८. कोच्छाणं, ९ पाढाणं, १०. लाढाणं, ११ वज्जाण, १२. मोलीणं, १३ कासीण, १४. कोसलाणं, १५. अवाहाण, १७ समुत्तराणं। (२)

१ अग, २ वग, ३ मगध, ४ मलय, ५ मालव, ६ अच्छ, ७ वच्छ, ८ कोच्छ, ९ पाढ, १० लाट-राढ, ११ वज्ज (वज्जी), १२ मोलि (मल्ल), १३ काशी, १४ कोशल, १५ अवाह, १६ सुम्भोत्तर(सम्होत्तर)। पर, इनमे 'महाजनपद' शब्द का प्रयोग नही हुआ है।

३—महावीर स्वामी के समय मे 'आर्यक्षेत्र' की मर्यादा इस रूप मे थी—

१—प्रज्ञापना-सूत्र-मलयगिरि कृत टीका पत्र ५५—२।
सूत्रकृताग सटीक, प्रथम भाग, पत्र १२२।
प्रवचन-सारोद्धार सटीक, पत्र ४४६ (१-२) आदि।
२—भगवती-सूत्र सटीक, १५-वाँ शतक, सूत्र ५५४ (पृष्ठ २७)।

(पृष्ठ ८५ की पादटिप्पणि का शेषांश)

महाभारत (सभापर्व) में भीम के दिग्विजय के प्रकरण मे (अध्याय ३१ श्लोक ३) पूर्व मे 'मल्ल' देश की अवस्थिति बतायी गयी है। वहाँ भी 'मल्ल' शब्द अकेला आया है, 'मल्लवर्त्तक' के रूप में नही।

'बृहत् कल्पसूत्र' (भाग ३, पृष्ठ ९१३) मे जहाँ २५॥ आर्य देश गिनाये गये हैं, वहाँ 'वर्त' नाम पृथक देश के रूप मे आया है।

'कल्पसूत्र' ('सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट", खण्ड २२, पृष्ठ २९०) मे इसी 'मासपुरी' मे 'मासपुरिका' शाखा का प्रारम्भ बताया गया है। डाक्टर याकोबी ने इस 'मासपुरिका' शब्द को अशुद्ध रूप मे 'मानपूरिका' लिखा है। वस्तुतः शब्द का शुद्धरूप 'मासपुरिका' होना चाहिए।

'प्रवचन-सारोद्धार' की टीका मे (पत्र ८८९-२) आया है— 'मासपुरी वट्टा य वच्छा।' यहा 'वर्त' देश के रूप मे आया है। इसका 'मल्ल' से कोई सम्बन्ध नहीं है।

'भगवती-सूत्र' (१५-वा शतक) मे जहाँ जनपदो के नाम गिनाये गये हैं, वहाँ भी मल्ल नाम अकेला आया है, 'मल्लवत्तक' के रूप मे नहीं।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंग-मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ, पच्चत्थिमेण जाव स्थूणाविसयाओ, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए। एताव ताव कप्पइ। एताव ताव आरिए खेते। णो से कप्पइ एत्तो बाहिं। तेण परं जत्थ नाण-दसण-चरित्ताइं उस्सप्पति त्ति बेमि॥ (१)

—अस्य व्याख्या—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां पूर्वस्यां दिशि यावदङ्ग-मगधान् 'एतु" विहर्तुम्। अङ्गानां—चम्पा-प्रतिबद्धो-जनपद। मगधा—राजगृहप्रतिबद्धो देश। दक्षिणस्यां दिशि यावत् कौशाम्बीमेतुम्। प्रतीच्यां दिशि स्थूणाविषयं यावदेतुम्। उत्तरस्यां दिशि कुणालाविषयं यावदेतुम्। सूत्रे पूर्वदक्षिणादिपदेभ्यस्तृतीया-निर्देशो लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्। एतावत् तावत क्षेत्रमवधीकृत्य विहर्तुं कल्पते। कुतः? इत्याह—एतावत् तावद् यस्मादार्य क्षेत्रम्। नो "से" तस्य निर्गन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा कल्पते 'अत:' एवविधाद् आर्यक्षेत्राद् बहिर्विहर्तुम्। 'ततः पर' बहिर्देशेषु अपि सम्प्रतिनृपति-कालादारभ्य यत्र ज्ञान–दर्शन–चरित्राणि 'उत्सर्पन्ति' स्फातिमासादय-न्ति तत्र विहर्त्तव्यम्। 'इति:' परिसमाप्तौ। ब्रवीमि इति तीर्थंकर-गणधरोपदेशेन, न तु स्वमनीषिक्रयेति सूत्रार्थ। २

ऊपर के पाठ के अनुसार आर्यक्षेत्र की सीमा पूर्व दिशा मे मगध तथा अग की सीमा तक, दक्षिण मे कौशाम्बी की सीमा तक, पश्चिम मे स्थूणा (कुरुक्षेत्र) की सीमा तक तथा उत्तर मे कुणाल देश की सीमा तक थी। इसी आर्यक्षेत्र मे साधुओ और साध्वियो को विहार करने का आदेश था।

४—केवल-ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भगवान् महावीर ने आर्यक्षेत्र की सीमा इस प्रकार बाँधी —

१–बृहत्त कल्पसूत्र वृत्तिसहित, विभाग ३, पृष्ठ ९०५–९०६।
२–वही, पृष्ठ ९०७।

मगहा कोसंबी या थूणाविसओ कुणालविसओ य।
एसा विहारभूमी एतावताऽरियं खेत्तं ॥ (1)

यह आर्यक्षेत्र धर्मप्रधान भूमि है। पर, आर्यक्षेत्र की सीमा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। एक काल का आर्यक्षेत्र दूसरे काल में अनार्य-क्षेत्र और एक काल का अनार्यक्षेत्र दूसरे काल मे आर्यक्षेत्र घोषित होते रहते हैं।

५—'पृथ्वीचन्द्र-चरित्र' में श्री लब्धिसागरसूरि ने लिखा है :—

विहाराद्विरहात्साधोरार्या भूता अनार्यकाः।
अनार्या अभवन्देशाः कत्यार्या अपि संप्रति। (2)

६—इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध है। सम्राट् सम्प्रति के समय में—भगवान् महावीर के समय के—बहुत से अनार्यदेश आर्य हो गये।

'ततः परं' बहिर्देशेषु अपि सम्प्रतिनृपतिकालादारभ्य यत्र ज्ञान-दर्शन-चारित्राणि 'उत्सर्पन्ति' स्फातिमासादयन्ति तत्र विहर्तव्यम्। 'इति' परिसमाप्तौ। ब्रवीमि इति तीर्थकर-गणधरोपदेशेन, न तु स्व-मनीषिकयेति सूत्रार्थः। (3)

(ख) बौद्ध-दृष्टिकोण

बौद्ध आधार पर भारत के भूगोल और आर्यदेश की चर्चा करते हुए 'सुत्त-निपात' की भूमिका में श्री भिक्षु जगदीश काश्यप ने लिखा है[4]—

"बुद्धकाल में भारतवर्ष तीन मंडलों, पांच प्रदेशों और सोलह महाजनपदों में विभक्त था। महामण्डल, मध्यमण्डल और अन्तर्मण्डल ये तीन मंडल थे। जो क्रमशः ९००, ६००, और ३०० योजन विस्तृत थे। सम्पूर्ण भारत-

---

१—[illegible] भाग ३, पृष्ठ ९१३ (आत्मानन्द जैन सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित)

२—[illegible], पृष्ठ ९८।

३—[illegible] (सघदास का भाष्य) भाग ३, पृष्ठ ९०७।

४—[illegible]

वर्ष (जम्बूद्वीप) का क्षेत्रफल १०,००० योजन था। मध्यप्रदेश, उत्तरापथ, अपरान्तक, दक्षिणापथ और प्राच्य—ये पाँच प्रदेश थे। हम यहाँ इनका सक्षेप में वर्णन करेंगे, जिससे बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय प्राप्त हो सके।

"मध्यम देश"

"‥ बुद्ध ने मध्यम देश मे ही विचरण करके बुद्धधर्म का उपदेश किया था। तथागत पदचारिका करते हुए पश्चिम मे मथुरा (अगुत्तर निकाय ५, २, १०। इस सूत्र मे मथुरा नगर के पाँच दोष दिखाये गये हैं) और कुरु के थुल्लकोट्ठित (मज्झिम निकाय, २, ३, ३२। दिल्ली के आसपास का कोई तत्कालीन नगर) नगर से आगे नही बढे थे। पूरब मे कजगला निगम के मुखेलु वन (मज्झिम निकाय ३ ५ १७। ककजोल, सथाल परगना, बिहार) और पूर्व-दक्षिण की सललवती नदी (वर्तमान सिलई नदी, हजारीबाग और वीरभूमि) के तीर को नही पार किया था। दक्षिण मे सुसुमारगिरि (चुनार, जिला मिर्जापुर) आदि विंध्याचल के आसपास वाले निगमो तक ही गये थे। उत्तर मे हिमालय की तलहटी के सापुग (अगुत्तर निकाय ४ ४ ५ ४) निगम और उसीरध्वज (हरिद्वार के पास कोई पर्वत) पर्वत से ऊपर जाते हुए नही दिखायी दिये। विनयपिटक मे मध्यदेश की सीमा इस प्रकार बतलायी गयी है—"पूर्व [illegible] कजगला निगम . । पूर्व-दक्षिण मे सललवती नदी ‥ । दक्षिण दिशा मे सेतकण्णिक निगम (हजारीबाग जिले में कोई स्थान) ‥। पश्चिम मे थूण (आधुनिक थानेश्वर) नामक ब्राह्मणो का ग्राम…। उत्तर दिशा मे उसीरध्वज पर्वत (विनयपिटक ५ ३ २)

मध्यम देश ३०० योजन लम्बा और २५० योजन चौडा था। इसका परिमडल ९०० योजन था। यह जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) का एक वृहद् भाग था। तत्कालीन १६ जनपदो मे से १४ जनपद इसी मे थे—काशी, कोशल, अग, मगध, वज्जी, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक और अवन्ति। शेष दो जनपद गन्धार और कम्बोज उत्तरापथ मे पडते थे।"

गौतम बुद्ध को जब जन्म लेना हुआ तो उन्होंने कुल, देश आदि प्रश्नो पर विचार किया और निश्चय किया कि इसी मध्य देश मे बुद्ध, चक्रवर्ती, आदि जन्म लेते रहे हैं, वही मैं भी जन्म लूंगा। (निदान कथा, पृष्ठ ३८)

२–'महावग्ग' (भाग ५, पृष्ठ १२-१३) के अनुसार 'मज्झिम देश' की सीमा पूर्व मे कजगल तक (जिसके बाहर महासाल ([1]) नगर था), दक्षिण पूर्व मे सललवती (सारावती) नदी तक, दक्षिण मे सतकण्णिक नगर तक, और पश्चिम मे थूना (कुरुक्षेत्र) के ब्राह्मण-प्रदेश तक ([2]) और उत्तर में उशीरध्वज पर्वत तक थी। ([3])

३–'जातकट्ठ कथा' मे मज्झिम देश की परिभाषा निम्नलिखित रूप मे है —

मज्झिमदेसो नाम पुरत्थिमदिसाय कजंगलं नाम निगमो, तस्स अपरेन महासाला, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो, मज्झे पुब्ब-दक्खिणाय दिसाय सळ्लवती नाम नदी, ततो परं पच्चन्तिमा जन-पदा ओरतो मज्झे, दक्खिणाय दिसाय सेतकण्णिकं नाम निगमो, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, पच्छिमाय दिसाय थूनं नाम ब्राह्मणगामो, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, उत्तराय दिसाय उसीरद्धजो नाम पब्बतो, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झेति एवं विनये वुत्तो पदेसो।([4])

१–विमलचरण ला ने यहाँ 'महाशाल' से नगर का अर्थ लिया है, जब-दूसरो ने उसे 'वन' लिखा है। मेरे विचार से भी 'वन' ही ठीक है। 'हिस्टा-रिकल ज्यागरैफी आव इंडिया' (पृष्ठ १३) मे भी लेखक ने यही भूल की है।

२–श्री ला ने पश्चिम की सीमा लिखते हुए "टू द' ब्राह्मण डिस्ट्रिक्ट आव थून" लिखा है, पर मूल मे 'थून नाम ब्राह्मणगामो—थून नामक ब्राह्मणगांव—लिखा है। मेरे विचार से ला महोदय ने मूल का अर्थ भ्रामक रूप मे दिया है।

३–'ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृष्ठ १–२।

४–जातकट्ठ कथा–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ३८-३९।

–मध्यदेश के पूर्व दिशा मे कजगल नामक कस्वा है, उसके बाद बड़े शाल (के बन) हैं और फिर आगे सीमात देश। मध्य में सललवती नामक नदी है, उसके आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश है। दक्षिण दिशा मे सेतकण्णिक नामक कस्वा है, उसके बाद सीमान्त देश है। पश्चिम मे थून नामक ब्राह्मणो का गाँव है, उसके बाद सीमान्त देश है। उत्तर दिशा मे उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश। ([1])

४—आर्यदेश की यही परिभाषा अन्यत्र भी मिलती है। "मध्य देश की पूर्व दिशा मे कजगल नामक कस्वा है, उसके बाद बडे शाल' (के वन) हैं, फिर आगे सीमान्त देश। पूर्व-दक्षिण मे सललवती नामक नदी है, उसके बाद सीमान्त-देश, दक्षिण दिशा मे सेतकण्णिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त-देश, पश्चिम दिशा में थून नामक ब्राह्मण-ग्राम है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा मे उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश। इस प्रकार विनय (पिटक) मे मध्यदेश का वर्णन है। ([2])

५—बुद्ध के समय मे १६ महाजनपद थे, जिनमे निम्नलिखित १४ जनपद मज्झिम देश मे आते थे—और शेष दो जनपद गधार ([3]) (जिसकी राजधानी तक्षशिला थी) तथा कम्बोज ([4]) उत्तरापथ मे पडते थे। ([5])

१–बुद्धचर्य्या, पृष्ठ १।

२–जातक प्रथम खड, निदान–कथा, पृष्ठ ११६, (भदत आनद कौसल्यायन का हिन्दी-अनुवाद)।

३–जैन, बौद्ध और हिन्दू सभी साहित्यो मे गधार देशका वर्णन मिलता है और उसे उत्तरापथमे बताया गया है। यह 'विषय' पश्चिमी पजाब के रावलपिण्डी जिले से लेकर सीमा-प्रान्त के पेशावर जिले तक फैला रहा होगा। गधार की तीन राजधानियो के वर्णन मिलते है—
(१) पुष्कलावती (२) तक्षशिला तथा (३) पुरुषपुर

पुष्कलावती की पहचान चारसद्दा से की जाती है। ('ए गाइड टु स्कल्पचर्स इन इडियन म्यूजियम' भाग १, पृष्ठ १०४) तक्षशिला वर्तमान टैक्सिला और पुरुषपुर वर्तमान पेशावर हैं। (वही, पृष्ठ १०४)

(पृष्ठ ५१ की पादटिप्पणि का शेषांश)

उत्तराध्ययन की नेमिचन्द्राचार्य की टीका (अध्याय ६, पत्र १४१) मे पुण्ड्रवर्धन नगरका नाम आया है। यह भी वस्तुत पुष्कलावती का ही दूसरा नाम है। जैन-ग्रन्थोंमे 'पुक्खली' शब्दका भी प्रयोग मिलता है (दशवैकालिक चूर्णि, पत्र २१२-२१३)। यह पुक्खली भी वस्तुत पुष्कलावती का दूसरा नाम है।

'आइने-अकबरी' में भी 'पुक्खली' नाम आया है। 'ज़ेर-पेश' मे भूल करके सर जदुनाथ सरकार ने अपने अनुवाद खण्ड २, पृष्ठ ३९७ में इसे पक्खली लिख दिया है। उसकी सीमा 'आइने-अकबरी' मे इस प्रकार बतायी गयी है। पूर्व में काश्मीर, उत्तर में कटोर, दक्षिण में गक्खर, और पश्चिम में अटक-बनारस।

जैन-शास्त्रो मे नग्गती राजाका वर्णन मिलता है और उनकी राजधानी पुरुषपुर बतायी गयी है (उत्तराध्ययन चूर्णि, अ ९, पत्र १७८)। और, तक्षशिला के सम्बन्ध मे चर्चा आती है कि उसे भरत के भाई बाहुबलीने बसाया था (वसुदेवहिण्डी, खण्ड १, पृष्ठ १८६-१८७)

(४) कम्बोज भी उत्तरापथमे पड़ता था। जैन-ग्रन्थो मे उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचन्द्राचार्यवृत्ति (११, १६ पत्र १६९-२) तथा राजप्रश्नीय (कण्डिका १६०, पत्र ३०१) मे भी कम्बोज का उल्लेख मिलता है। बौद्ध-ग्रन्थोंमे इसकी राजधानी द्वारका बतायी गयी है। (रीज-डेविस कृत 'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृष्ठ २१) जिसकी पहचान दरवाज से की जाती है (सार्थवाह, पृष्ठ ११)। जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने अपनी पुस्तक 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा', भाग १ (पृष्ठ ४७५) मे लिखा है कि "गलचा क्षेत्रको कम्बोज माना जा सकता है।" राय चौधरी ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इण्डिया' (पाँचवाँ सस्करण, पृष्ठ १४९) में लिखा है, "कम्बोजका जो विवरण मिलता है, वह युआनच्वाङ् के राजपूर के विवरणसे बहुत मेल खाता है।" 'वैदिक-इडेक्स' भाग १ में दिये नक्शे मे कम्बोज को गवार से उत्तर मे दिखाया गया है।

(५) अंगुत्तरनिकाय खण्ड १, पृष्ठ २१३; खण्ड ४, पृष्ठ २५२, २५६, २६०।

—सयुक्त निकाय (महाबोधि सभा, सारनाथ) प्रथम भाग, भूमिका पृष्ठ १.

महाजनपद	राजधानी
१ काशी	वाराणसी
२. कोशल	साकेत
३. अग	चम्पा
४ मगध	राजगृह
५ वज्जी	वैशाली
६. मल्ल	कुशीनारा और पावा
७ चेतिय (चेदि)	सोत्थिवथी
८ वश (वत्स)	कौशाम्बी
९ कुरु	इन्दपट्टन
१० पञ्चाल	अहिछत्र (उत्तर की)
	काम्पिल्य (दक्षिण की)
११ मच्छ (मत्स)	विराट
१२ शूरसेन	मथुरा
१३ अस्सक (अश्वक)	पोतन
१४. अवन्ती	उज्जैनी

(ग) वैदिक दृष्टिकोण

बौधायन के घर्मशास्त्र मे वर्णित आर्यावर्त्त वस्तुत वही है, जिसे बाद मे मज्झिम देश की सज्ञा दी गयी। वह प्रदेश जहाँ सरस्वती नदी लुप्त हो जाती है, उसके पूर्व तक और कालकवन के पश्चिम तक (प्रयाग के आसपास का कोई प्रदेश) पारिपात्र के उत्तर तक तथा हिमालय के दक्षिण तक माना जाता था। (१) पतजलि ने अपने महाभाष्य (१२ ४ १,) मे आर्यावर्त्त की जो परिभाषा दी है, वही घर्मसूत्रो और घर्मशास्त्रो मे भी है।

१—मनु ने आर्यावर्त का प्रसार इस रूप मे बताया है—

---

(१) 'ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृष्ठ १।
'हिस्टारिकल ज्यागरैफी आव इडिया', पृष्ठ १२।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तित ॥[1]

—अर्थात् उत्तर मे हिमालय तक, दक्षिण में विन्ध्य तक, पश्चिम मे विनशन तक और पूर्व मे प्रयाग तक ।

२—वराहमिहिर ने मध्यदेश के अन्तर्गत निम्नलिखित देशो की गणना की है :—

भद्रारिमेदमाण्डव्यसाल्वनीपोज्जिहानसङ्ख्याताः ।
मरुवत्सघोषयामुनसारस्वतमत्स्यमाध्यमिकाः ॥
माथुरकोपज्योतिषधर्मारण्यानि शूरसेनाश्च ।
गौरग्रीवोद्देहिकपाण्डुगुडाश्वत्थपाञ्चालाः ॥
साकेतकङ्ककुरुकालकोटिकुकुराश्च पारियात्रनगः ।
औदुम्बरकापिष्ठलगजाह्वयाश्चेति मध्यमिदम् ॥[2]

—भद्र, अरिमेद, माडव्य, साल्व, नीप, उज्जिहान, सख्यात, मरु, वत्स, घोष, यमुना तथा सरस्वती से सम्बद्ध प्रदेश, मत्स्य, माध्यमिक, मथुरा, उपज्योतिष, धर्मारण्य, शूरसेन, गौरग्रीव, उद्देहिक, पाण्डु, गुड, अश्वत्थ, पाञ्चाल, साकेत, कक, कुरु, कालकोटि, कुकुर, परियात्र पर्वत, औदुम्बर, कापिष्ठल, और हस्तिनापुर मध्यदेशान्तर्गत प्रदेश हैं ।

इसी आर्यक्षेत्र में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बल्देव ६३ शलाका पुरुष और महापुरुष जन्म लेते रहे हैं ।

विदेह

इस मध्यदेश अथवा आर्यावर्त के अन्तर्गत एक प्रदेश विदेह था, इसके सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थो में पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं ।

---

(१) मनुस्मृति, २-२१ ।

(२) वृहत्संहिता, अध्याय १४—श्लोक २, ३, ४ ।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥[1]

—अर्थात् उत्तर मे हिमालय तक, दक्षिण में विन्ध्य तक, पश्चिम मे विनशन तक और पूर्व मे प्रयाग तक।

२—वराहमिहिर ने मध्यदेश के अन्तर्गत निम्नलिखित देशो की गणना की है .—

भद्रारिमेदमाण्डव्यसाल्वनीपोज्जिहानसङ्ख्याताः ।
मरुवत्सघोषयामुनसारस्वतमत्स्यमाध्यमिकाः ॥
माथुरकोपज्योतिषधर्मारण्यानि शूरसेनाश्च ।
गौरग्रीवोद्देहिकपाण्डुगुडाश्वत्थपाञ्चालाः ॥
साकेतकङ्ककुरुकालकोटिकुकुराश्च पारियात्रनगः ।
औदुम्बरकापिष्ठलगजाह्वयाश्चेति मध्यमिदम् ॥[2]

—भद्र, अरिमेद, माडव्य, साल्व, नीप, उज्जिहान, सख्यात, मरु, वत्स, घोष, यमुना तथा सरस्वती से सम्बद्ध प्रदेश, मत्स्य, माध्यमिक, मथुरा, उपज्योतिष, धर्मारण्य, शूरसेन, गौरग्रीव, उद्देहिक, पाण्डु, गुड, अश्वत्थ, पाञ्चाल, साकेत, कक, कुरु, कालकोटि, कुकुर, परियात्र पर्वत, औदुम्बर, कापिष्ठल, और हस्तिनापुर मध्यदेशान्तर्गत प्रदेश हैं।

इसी आर्यक्षेत्र में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और वल्देव ६३ शलाका पुरुष और महापुरुष जन्म लेते रहे हैं।

विदेह

इस मध्यदेश अथवा आर्यावर्त के अन्तर्गत एक प्रदेश विदेह था, इसके सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थों में पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।

(१) मनुस्मृति, २-२१।
(२) बृहत्संहिता, अध्याय १४-श्लोक २, ३, ४।
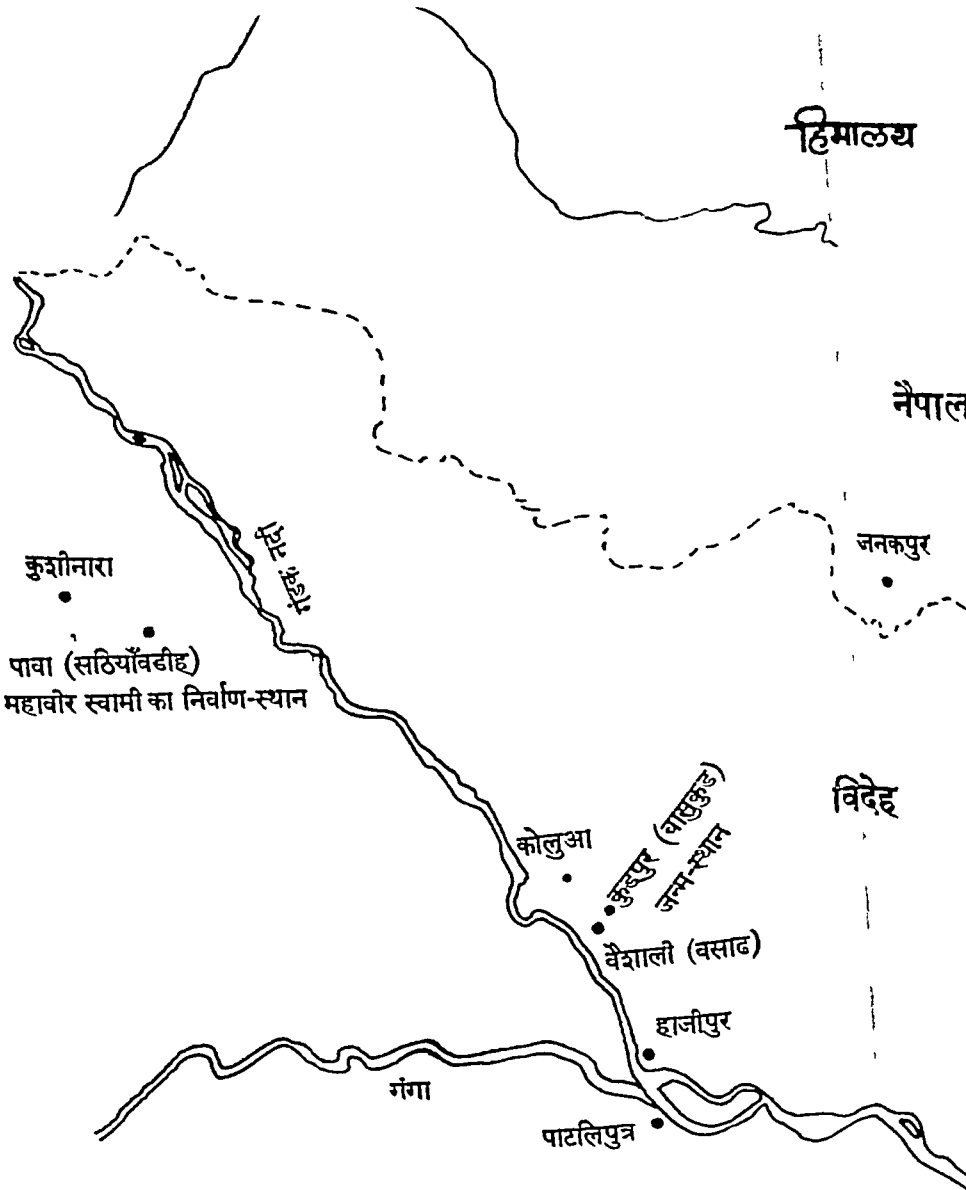
हिमालय
नैपाल
जनकपुर
गंडक नदी
कुशीनारा
पावा (सठियाँवडीह)
महावीर स्वामी का निर्वाण-स्थान
विदेह
कोलुआ
कुंडपुर (वासुकुंड)
जन्म-स्थान
वैशाली (वसाढ)
हाजीपुर
गंगा
पाटलिपुत्र
मगध

(क) जैन-दृष्टिकोण

जैंनो के मतानुसार 'विदेह' एक जनपद था और उसकी राजधानी मिथिला थी।[1]

१—"इहेव भारहे वासे पुव्वदेसे विदेहा नाम जणवओ, संपइ काले तीरहुत्तिदेसो त्ति भण्णइ। जत्थ पइगेहं महुरमंजुलफलभारोणयाणि कयलीवणाणि दीसंति। पहिया य चिविडयाणि दुद्धसिद्धाणि पायसं च भुंजंति। पए पए वावीकूवतलायनईओ अ महुरोदगा, पागयजणा वि सक्कयभासविसारया अणेगसत्थपसत्थ अइ निउणा य जणा। तत्थ रिद्धित्थमिअसमिद्धा मिहिला नाम नयरी हुत्था। संपयं जगइ[2] त्ति पसिद्धा। एयाए नाइदूरे जणयमहारायस्स भाउणो कणयस्स निवा॰ट्ठाणं कणइपुरं वट्टइ।[3]

इसी भारतवर्ष में पूर्व देश मे विदेह नाम का देश है, जो (ग्रन्थकार के समय—विक्रमी १४-वी शताब्दी—मे) तिरहुत के नाम से प्रसिद्ध है। जहाँ प्रत्येक घर मे मीठे और सुन्दर फलो के भार से नमे हुए केले के वन दृष्टि-गोचर होते हैं। पथिक दूध में पकाये हुए चिवडे और खीर खाते हैं। स्थान-स्थान पर मीठे पानी वाले कूएँ, बावडी, तालाब और नदियाँ हैं। सामान्य जन भी सस्कृतज्ञ तथा शास्त्र-प्रशास्त्र में प्रवीण हैं और अनेक ऋद्धियो से समृद्ध मिथिलानाम की नगरी है। इस समय 'जगई' नाम से प्रसिद्ध है। उसके समीप जनक महाराजा के भाई कनक का निवास-स्थान कनकीपुर है।

२— 'मिहिल विदेहा य'—मिथिला नगरी विदेहा जनपदः।[4]

इसी प्रकार विदेह देश के अनेक उल्लेख प्रज्ञापना-सूत्र सटीक, सूत्रकृताङ्ग टीका, त्रिषष्टिशालाका पुरुष-चरित्र (पर्व २) इत्यादि ग्रन्थो मे मिलते है।

---

(१) इसी में मल्लिनाथ भगवान्, श्री नेमिनाथ भगवान्, अकम्पित गणधर और नमि नामके प्रत्येकबुद्ध हुए हैं। यहाँ महावीर स्वामी ने ६ चौमासे किये थे।

(२) आज भी उसे 'जगती' कहते हैं।

(३) विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ३२।

(४) प्रवचन सारोद्धार वृत्ति सहित पृष्ठ ४४६

(ख) बौद्ध-दृष्टिकोण

बौद्ध-ग्रन्थो मे विदेह की चर्चा इस रूप मे मिलती है :—

१—विदेह देश ३०० योजन विस्तार वाला था और इसकी राजधानी मिथिला का विस्तार सात योजन था। इस विदेह देश में १६००० ग्राम, १६००० भाण्डार, १६००० नर्तकियाँ थी। विदेह से चम्पा तक एक सीधी सड़क थी, जिसकी लम्बाई ६० योजन थी। विदेह देश के पार्श्व मे काशी और कोशल नाम के देश थे।[1]

२—"ज्यागरफी आव अर्ली बुद्धिज्म' में विदेह की चर्चा निम्नलिखित रूप में मिलती है —

"मिथिला विदेहो की राजधानी थी। पौराणिक कथाओ मे उसे महाराज जनक का देश कहा गया है ...।[2]

(ग) वैदिक दृष्टिकोण

"वेदो के ब्राह्मण-खण्ड से प्रतीत होता है कि, विदेह लोग बड़े ही सुसंस्कृत और सभ्य थे। यह भूखण्ड संहिताओ के काल में भी 'विदेह' नाम मे ही विख्यात था। यजुर्वेद-संहिता में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि, विदेह की गाऍं[3] प्राचीन काल में बडी विख्यात[4] थी।" इसी प्रकार का उल्लेख महाभारत मे भी आया है।[5]

१—ब्राह्मण-ग्रन्थो से प्रकट होता है कि, विदेह-माथव द्वारा बसाये जाने के कारण इनका नाम विदेह पडा। शतपथ-ब्राह्मण में आता है —

---

(१) गन्धार जातक (४०६) बंगला-अनुवाद खंड ३, पृष्ठ २०८, गन्धार जातक (४०६) हिन्दी-अनुवाद खंड ४, पृष्ठ २६, 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', भाग २, पृष्ठ ६३५, ८७६।

(२) 'ज्यागरफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृष्ठ ३०

(३) कृष्ण-यजुर्वेद (कीथ का अनुवाद) खंड १, पृष्ठ १३८।

(४) 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इंडिया', पृष्ठ २३५।

(५) महाभारत, (निर्णयसागर प्रेस मे मुद्रित), शांतिपर्व, अध्याय २३३, श्लोक २०।

"सहोवाच। विदेघो (हो) माथ (ध) व क्वाहंभवानीत्यत एवहे प्राचीनं भुवनमिहिहोवा च। सैषा तर्हि कोशलविदेहानां मर्यादा तेहि माथ (ध) वा. ।१७।[1]

२—'शक्ति-सङ्गम-तन्त्र' में लिखा है —

गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभू समाख्याता तीरभुक्त्याभिधो मनु ॥

—गण्डकी नदी से लेकर चम्पारन तक का प्रदेश विदेह अथवा तीरभुक्ति के नाम से प्रसिद्ध था।

३—'बृहद् विष्णु-पुराण' के मिथिला-खण्ड मे विदेह के सम्बन्ध मे निम्नलिखित उल्लेख मिलता है —

एषा तु मिथिला राजन् विष्णुसायुज्यकारिणी
वैदेही तु स्वयं यस्मात् सकृद् ग्रन्थिवमोचिनी ॥[2]

उसी ग्रन्थ मे और उल्लेख आया है —

गङ्गाहिमवतोर्मध्ये नदीपञ्चदशान्तरे।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः ॥
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै।
योजनानि चतुर्विंशत् व्यायामः परिकीर्त्तितः ॥
गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्।
विस्तारः षोडशः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन ॥
मिथिला नाम नगरी तत्रास्ते लोकविश्रुता।
पञ्चभिः कारणै पुण्या विख्याता जगतीत्रये ॥ (३)

इन श्लोको के अनुसार विदेह के पूर्व मे कौशिका (आधुनिक कोशी), वम मे गण्डकी, दक्षिण मे गङ्गा और उत्तर मे हिमालय प्रदेश था। उसका विस्तार पूर्व से पश्चिम तक १८० मील (२४ योजन) और उत्तर से दक्षिण तक १२५ मील (१६ योजन) था। इस तीरभुक्ति अथवा विदेह मे मिथिला नामक नगर था।

---

(१) शतपथ-ब्राह्मण, प्रथम काण्ड, अ० ४, आ० १, १७।
(२) बृहद् विष्णु-पुराण, 'मिथिला खड'।
(३) वही।

४—इसी पुराण मे मिथिला के १२ नाम गिनाये गये हैं।

मिथिला तैरभुक्तिश्च, वैदेही नैमिकाननम्।
ज्ञानशीलं कृपापीठं, स्वर्णलाङ्गलपद्धतिः॥
जानकी जन्मभूमिश्च, निरपेक्षा विकल्मषा।
रामानन्दकटी, विश्वभावनी नित्यमङ्गला॥
इति द्वादश नामानि मिथिलाया॥
सदाभुवनसम्पन्नो नदीतीरेषु सस्थितः।
तीरेषु भुक्तियोगेन तैरभुक्तिरिति स्मृत॰॥ (१)

—नदी के किनारे पर स्थित भुक्ति (प्रान्त) होने के कारण इसका नाम 'तीरभुक्ति' रखा गया–जिसका आधुनिक रूप तिरहुत है।

५—भविष्यपुराण मे आता है कि, निमि के पुत्र मिथि ने मिथिला वसायी थी।

निमे पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृत.।
पूर्वं भुजवलैर्येन तैरहूतस्य पार्श्वत॥
निर्मित स्वीयनाम्ना च मिथिलापुरमुत्तमम्।
पुरीजननसामर्थ्याज्जनक स च कीर्तित॥ (२)

६—श्रीमद्भागवत् मे निमि के पुत्र जनक द्वारा मिथिला अथवा विदेह के वसाये जाने का उल्लेख है।

अराजकभ नृणां मन्यमाना महर्षय।
देह ममन्थु. स्म निमे कुमार समजायत॥
जन्मना जनक सोऽभूत वैदेहस्तु विदेहज।
मिथिर्मो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥ (३)

७—'भारत-भूगोल' [illegible] विदेह-देश की सीमा इस प्रकार वतायी गयी है—

[illegible] उत्तरतः विदेहदेश। देशोऽयं वेदोपनिषत्पुराणगी-[illegible] जनकानां राज्यम। अस्यैव नामान्तरं मिथिला। राज्यस्य

---

(१) [illegible]।
(२) [illegible]—'भारत-भूगोल' पृष्ठ ३७ [illegible]।
(३) श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९, अध्याय १३, श्लोक १२, १३।

राजधान्या अपि मिथिलैव नामधेयं बभूव। सम्प्रति नेपालदेश-सन्निकृष्टा (१) जनकपुरी नाम नगरी जनकानां राजधानी सम्भाव्यते मिथिलानाम्ना नृपतिना स्थापितं मिथिलाराज्यमिति पुराणानि कथयन्ति। (२)

—अर्थात् गङ्गा के उत्तर मे विदेह-देश है। इसका नामान्तर मिथिला है। इसकी राजधानी भी मिथिला थी। वर्तमान जनकपुरी ही प्राचिन राजधानी थी। पुराणो के अनुसार मिथिला नामक राजा ने मिथिला राज्य की स्थापना की थी।

ऊपर के उदाहरणो से स्पष्ट है कि, विदेह एक प्रान्त था। जिसके १२ नामो मे 'तीरभुक्ति' भी एक नाम था। 'भुक्ति' का अर्थ 'प्रान्त' होता है। गुप्तकालीन शिलालेखो मे भी एक स्थान पर 'भुक्ति' 'प्रान्त' के अर्थ मे आया है। (३) अत स्पष्ट है कि, आर्यावर्त मे विदेह नामक एक प्रान्त था, जिसकी राजधानी मिथिला थी।

---

(१) जनकपूर नेपाल राज्य के अन्तर्गत है, न कि, उसके निकट—देखिये 'सर्वे आव इण्डिया' का मानचित्र सख्या ७२ एफ (स्केल १" = ४ मील)

(२) भारत-भूगोल, पृष्ठ ३७।

(३) पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेट इंडिया (हेमचन्द्र राय चौधरी-लिखित) ५-वाँ सस्करण, पृष्ठ ५६०

(ख) वैदिक-दृष्टिकोण

१—रामायण में आता है —

इक्ष्वाकोऽस्तु नरव्याघ्रपुत्र· परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुत·॥
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरीकृता[१]।

—अर्थात् इक्ष्वाकु की रानी अलम्बुषा के पुत्र विशाल नें विशाला नगरी वसायी।

जिस समय विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को लेकर जनकपुर जा रहे थे, उन्हे रास्ते मे वैशाली पडी थी। उन्होने राम-लक्ष्मण को वैशाली के उन्नत शिखर और भव्य भवन दिखलाये थे और एक रात्रि वही व्यतीत की थी। रामायण मे उल्लेख है कि उस समय वहाँ सुमति नाम का राजा राज्य करता था[२]। इस प्रकार सुमति अयोध्या के राजा दशरथ का समकालीन था। विष्णु-पुराण मे सुमति विशाल की दसवी पीढी मे वताया गया है[३]।

२—श्रीमद्भागवत-पुराण में भी विशाल द्वारा वैशाली वसाये जाने का उल्लेख है —

"विशालो वंशकृद् राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्[४]।"

३—विष्णुपुराण मे भी विशाल द्वारा इस नगर के वसाये जाने का उल्लेख है[५]।

४—पाणिनी ने अपने अष्टाध्यायी-व्याकरण मे भी वैशाली के शासक वृजियोका उल्लेख किया है—देखो—'मद्रवृज्यो कन्' (सूत्र ४-२-१३१)

५—इन प्रमाणोंसे वैशाली की प्राचीनता सिद्ध है। इस वैशाली गण-

---

(१) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, आदि काण्ड, सर्ग ४७, श्लोक—११-१२
(२) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, भाग १, टी० एम० कृष्णाचार्य-सम्पादित वालकाण्ड, सर्ग ४७ श्लोक १७, १८, १९
(३) 'हिस्ट्री ऑव तिरहुत', पृष्ठ २१ (श्यामनारायण-रचित)
(४) श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्व ९, अ० २, श्लोक ३३
(५) विष्णुपुराण (विल्सन-अनूदित), खड ३, पृष्ठ २४६

तंत्रकी स्थापना कब हुई, इस सम्बन्ध मे प्रोफेसर सूरजदेवनारायण तथा प्रो. हरिरजन ने अपना मत इस रूपमे प्रकट किया है।

"इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वैशाली गण की स्थापना वैशाली के राजा सुमति का आतिथ्य स्वीकार करने वाले रामायण के नायक राम और महाभारतयुद्ध के बीच के समयमे हुई।... राम के पुत्र कुश के बाद से बृहद्बल तक-जो उस वशका अन्तिम राजा था और महाभारत युद्ध मे अभिमन्यु द्वारा मारा गया-अट्ठाइस राजाओ की सूचि पुराणो मे मिलती है (देखिये वी० रगाचार्य लिखित-प्री मुस्लिम इडिया' पृष्ठ ३९४-३९५) उस युद्धकी निश्चित तिथि का ढूंढ निकालना किसी प्रकार भी आसान नही है। किन्तु महाकाव्यो एव पुराणो के प्रमाणो के आधार पर डा० हेमचद्र रायचौधरी का विचार है कि अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का राज्याभिषेक करीब १४-वी सदी ई० पू० के मध्य हुआ था (हेमचंद्र रायचौधरी लिखित 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंण्ट इण्डिया', पृष्ठ १६) यदि ऐसी बात हो तो बुद्ध के कई शताब्दी पूर्व वैशाली प्रजातत्रका अस्तित्व मानना पडेगा।"[१]

६—केन्द्रीय सरकारकी राजधानी नेपालकी तराई मे स्थित जनकपुर[२] से उठकर वैशाली (मुजाफरपुर जिले मे स्थित बसाढ) आगयी जो ६-व शताब्दी ई० पू० में बडे महत्व का नगर हो गया ([३])।

(ग) जैन-दृष्टिकोण

१— इतश्च वसुधावध्वा मौलिमाणिक्यसन्निभा।
वैशालीति श्रीविशाला नगर्यस्त्यगरीयसी॥
आखडल इवाखंडशासन पृथ्वीपति।
चेटीकृतारिभूपालस्तत्र चेटक इत्यभूत्॥([४])

(१) वैशाली-अभिनदन-ग्रन्थ पृष्ठ, १००-१०१।

(२) राइस डेविड्स की मान्यतानुसार विदेह की राजधानी मिथिला वैशालीसे उत्तर-पश्चिम मे ३५ मीलकी दूरी पर थी। (बुद्धिस्ट इडिया, पृष्ठ २६) और जातको के अनुसार चम्पा से मिथिला ६० योजन दूर थी। (जातक, हिन्दी-अनुवाद भाग ६, पृष्ठ ३६)

(३) 'हिस्ट्री आव तिरहुत' एस. एन सिंह-लिखित पृष्ठ ३४-३५।

(४) त्रिषष्टिशालाका पुरुष-चरित्र, पर्व १०, पृष्ठ ७७, श्लोक १८४, १८५।

—अर्थात् धन-धान्य से भरपूर और विशाल वैशाली नगरी थी। उस पर चेटक का शासन था।

२—तए णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दन्तिसहस्सेहिं तेत्तीसाए आससहस्सेहिं तेत्तीसाए रहसहस्सेहिं तेत्तीसाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्वड्ढिए जाव रवेणं सुभेहिं वसईहिं सुभेहिं पायरासेहिं नाइविगिट्ठेहिं अन्तरावासेहिं वसमाणे वसमाणे अगजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव विदेहे जणवए, जेणेव वेसाली नयरी, तेणेव पहारेत्थ गमणाए (१)

—अर्थात् तब राजा कूणीय ३३ हजार हाथियो, ३३ हजार घोडो, ३३ हजार रथो, और ३३ करोड मनुष्यो सहित, बडे ठाठ-बाठ से थोडी-थोडी दूर पर ठहर कर कलेवा आदि करता हुआ अग (२) जनपद के बीचो-बीच मे से निकल कर विदेह जनपद मे होता हुआ वैशाली नगरी की ओर बढा।

वैशाली अथवा आधुनिक बसाढ़

चाहे राजा विशाल द्वारा बनाये जाने के कारण इसका नाम विशाला अथवा वैशाली पडी हो, अथवा दीवारो को तीन बार हटा कर विशाल किये जाने के कारण इसका नाम वैशाली रखा गया हो, पर यह सिद्ध है कि, प्राचीन काल मे 'वैशाली' एक मुख्य नगरी थी। आज कल यह स्थान—

१–निरयावलियाओ, पृष्ठ २९।

२–डा० त्रिभुवनदास ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतवर्ष' मे अङ्ग देश को मध्य भारत बताया है। इसी पुस्तक के प्रथम भाग (पृष्ठ ४९) के नकशे के अनुसार यदि कूणिय राजा के मार्ग को निर्धारित करना चाहें, तो राजा कूणिय को मगध देश के बीच मे से होकर जाना पडा होगा। पर, ऊपर दिये 'निरयावलियो' के प्रमाण के अनुसार अङ्गदेश से विदेह जाने के लिए बीच मे कोई देश नहीं पडता। अत निश्चित है कि, डाक्टर साहब की स्थापना केवल कल्पना मात्र है।

मुजफ्फरपुर जिले मे—वसाढ़ के नाम से प्रसिद्ध है। वसाढ के आसपास कोसो तक फैसे हुए पुराने अवशेष इसकी पुष्टि करते हैं। वसाढ के आसपास वनिया, कोलुआ, कूमन छपरागाछी, वासुकुण्ड वस्तुतः वैशाली के निकट के वाणिज्यग्राम, कोल्लाग-सन्निवेश, कर्मारग्राम और कुण्डपुर की अवस्थिति की सूचना देते हैं।

यह वसाढ गाँव ही प्राचीन काल की वैशाली थी, इस ओर सब से पहिले कनिंघम का ध्यान गया।[1] वीवियन द' सेंट मार्टिन ने भी उनसे सहमति प्रकट की।[2] यद्यपि कुछ अन्य यूरोपीय विद्वानो ने कुछ अन्य मान्यताएँ स्थापित की, पर विसेंट स्मिथ ने उन्हे निराधार सिद्ध करके वसाढ़ को ही वैशाली सिद्ध कर दिया।[3] स्मिथ ने अपनी मान्यता के समर्थन मे निम्नलिखित प्रमाण पेश किये हैं :—

१—केवल थोड़े से परिवर्तन से प्राचीन नाम अब भी प्रचलित है।

२—पटना तथा अन्य स्थानो से भौगोलिक सम्बन्धो पर विचार करने से भी वसाढ़ ही वैशाली ठहरता है।

३—सातवी शताब्दी के चीनी यात्री युआन च्वाङ द्वारा दिये गये वर्णन से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

४—वसाढ की खुदाई मे 'सीलें' (मुहरें) मिली हैं, जिन पर 'वैशाली' नाम दिया हुआ है।[4]

१–'आर्क्यालाजिकल–सर्वे–रिपोर्ट', प्रथम भाग, पृष्ठ ५५–५६, भाग १६, पृष्ठ ६।

'इडालाजिकल-स्टडीज', भाग ३, पृष्ठ १०७।

२–'इंडालाजिकल-स्टडीज', भाग ३, पृष्ठ १०७।

३–'जर्नल आव रायल एशियाटिक-सोसाइटी', १९०२, पृष्ठ २६७।

४–'एंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन एँड एथिक्स', भाग १२, पृष्ठ ५६७–५६८।

स्मिथ महोदय का अन्तिम तर्क पूर्णत अकाट्य है।

भारत के पुरातत्त्व-विभाग ने वनाढ की जो खुदाई की है, उससे वैशाली की स्थिति मे किञ्चित् मात्र शका की गुजाइश नहीं रह जाती। खुदाई मे प्राप्त मुहरो मे स्पष्ट रूप से 'वैशाली' नाम आया है और एक मुहर ऐसी भी मिली है, जिसमे वैशाली के साथ 'कुण्ड' शब्द भी जुटा है। उस पर लिखा है —

'वेशाली नाम कुंडे कुमारामात्याधिकरण (स्य)' [1]

वज्जीगणतन्त्र[2] की राजधानी वैशाली थी। इस देश के शासक लिच्छिवि क्षत्रिय थे[3] और वे गगा के उत्तर विदेह देश मे बसते थे। कुछ जैन लोग लछुआर (जिला मुगेर, मोदागिरि) को लिच्छिवियो की राजधानी मानते रहे हैं; पर आगे दिये गये प्रमाणो के प्रकाश मे पाठक स्वय अपनी बुद्धि से निर्णय कर सकते हैं कि उनकी धारणा कितनी भ्रामक है .—

१—राजेन्द्रसूरि-स्मारक-ग्रन्थ, 'महावीर की वास्तविक जन्मभूमि' योगेन्द्र मिश्र-लिखित, पृष्ठ ५८४।

२—लिच्छिवि और विदेहो के राष्ट्र का नाम 'वज्जी' था। वज्जी कोई अलग जाति नही थी। 'महापरिनिव्वान सुत्त' की टीका मे लिखा है। —

'रठस्स पन वज्जी समञ्ञा' अर्थात् वज्जी राष्ट्र का नाम था।

३—'दिव्यावदान' मे इसका रूप 'लिच्छवी' है, परन्तु 'महावस्तु' मे इसी को 'लेच्छवी'-रूप मे लिखा है। बौद्ध-ग्रन्थो का जो अनुवाद चीनी-भाषा में हुआ है, उनमे लिच्छवि के लिए जो चीनी शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे 'लिच्छवी' और 'लेच्छवी' दोनो रूप होते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग' और 'कल्पसूत्र' आदि जैन-शास्त्रो में इसका प्राकृत-रूप 'लेच्छई' है, जिसका टीकाकारो के अनुसार सस्कृत-रूप 'लेच्छकी' होता है। कुल्लूकभट्ट और राघवानन्द बगाली टीकाकारो ने इसे 'निच्छिवि' लिखा है, जो कि सम्भवत प्राचीन बगला के 'ल' और 'न' के साहश्य से भ्राति हो गयी प्रतीत होती है। मनुसहिता में जाली और बुहलर दोनो ने 'लिच्छिवि' पाठ रखा है (देखो 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इडिया', पृष्ठ २९४-२९६)। कुल्लूक भट्ट से मेघातिथि ६०० वर्ष पूर्व

(क) वैशाली लिच्छिवियो की राजधानी थी[१] और लिच्छिवियो की राजधानी होने के कारण यह मगध अथवा अग देश मे नही हो सकती, क्योकि वहाँ लिच्छिवियो का राज्य कभी नही रहा है। उनका राज्य, गगा के उत्तर, विदेह मे था।

(ख) वज्जी (लिच्छिवि और विदेहो का राष्ट्र) और मगध जनपदो के बीच गगा नदी की सीमा थी।[२]

(ग) बिम्बिसार ने राजगह (राजगृह) से लेकर गगा तक का पूरा मार्ग झण्डो और बन्दनवारो से सजाया था। उसी तरह से लिच्छिवियो ने वैशाली से लेकर गगा तक का मार्ग तोरण आदि से सज्जित किया था।[३]

(घ) मगध के उत्तर और गगा के उस पार वज्जियो का राज्य था (मुख्य नगर—वैशाली) और उससे भी उत्तर की ओर मल्ल बसते थे।[४]

(पृष्ठ ६६ की पादटिप्पणि का शेषाश)

और गोविन्दराज ३०० वर्ष पूर्व हुए है। इन दोनो ने 'लिच्छवी' पाठ दिया है। 'पाइअसद्दमहण्णवो' में 'लिच्छवि' और 'लेच्छइ' दोनो पर्यायवाची हैं, और 'लेच्छइ' का सस्कृत-रूप 'लेच्छकि' लिखा है।

'लिच्छवि' और 'वज्जी' (सस्कृत 'वृज्जि') पर्यायवाची हैं। (देखिये 'ट्राइब्स इन ऐशेंट इडिया', पृष्ठ ३११)

मनु ने लिच्छिवियो को 'व्रात्य' लिखा है। (मनुस्मृति अध्याय १०, श्लोक १०) अर्थात् लिच्छवि—मनु के मत से—हीन क्षत्रिय थे। परन्तु, लिच्छवि हीन क्षत्रिय नही थे। मनु ने उन्हे व्रात्य इसलिए लिखा प्रतीत होता है, क्योंकि ये लोग ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी न होकर अर्हतो और चैत्यो की पूजा करते थे। इसका वर्णन अथर्ववेद में भी मिलता है।

---

(१) 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स' भाग २, पृष्ठ ९४०।

(२) सयुत्त निकाय, पहला भाग, पृष्ठ ३।

(३) 'ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृष्ठ १०।

(४) 'लाइफ आव बुद्ध', ई० जे० टामस-रचित, पृष्ठ १३।

(८) लिच्छिवि-वंश की शक्तिशाली राजधानी वैशाली (बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ) नगर प्रारम्भिक दिनों में बौद्ध-धर्म का एक दुर्ग था।[१]

इस वज्जीसघ में बहुत से इतिहासकार ८ कुल मानते हैं।[२] मिश्रबंधुओं ने उन कुलों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—विदेह, लिच्छिवि, ज्ञात्रिक, वज्जी, उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकु और कौरव।[३]

पर, तथ्य यह है कि, आर्यों के केवल ६ ही कुल थे। प्रज्ञापनासूत्र सटीक में उनका उल्लेख इस प्रकार आया है :—

कुलारिया छव्विहा पं., तं—उग्गा, भोगा, राइन्ना, इक्खागा, णाया, कौरव्वा सेत्तं कुलारिया। (४)

इसी प्रकार का उल्लेख स्थाङ्गसूत्र में भी मिलता है—

छव्विधा कुलारिता मणुस्सा पं, तं.—उग्गा, भोगा, राइन्ना, इक्खागा णाता, कोरव्वा (५) (सूत्र ४९७)

—आर्यों के ६ कुल थे। वे इस प्रकार थे—उग्र, भोग, राजन्य, ऐक्ष्वाकु ज्ञातृ (लिच्छिवि, वैशालिक) तथा कौरव।

इतिहासकारों द्वारा ८ कुल गिनाने का कारण यह है कि, सुमंगल-विलासिनी (६) में एक स्थान पर 'अट्ठकुलका' (७) शब्द आता है।

---

(१) '२५०० इयर्स आव बुद्धिज्म', पृष्ठ ३२०।
(२) 'द ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इण्डिया,' कनिंघम-रचित, पृष्ठ ५१२–५१६। 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इंडिया,' ला-रचित, पृष्ठ ३११
(३) बुद्धपूर्व का भारतीय इतिहास, पृष्ठ ३७१।
(४) प्रज्ञापना सूत्र (सटीक) पत्र ५६।१।
(५) स्थानाङ्ग सूत्र (सटीक) पत्र ३५८।१।
(६) सुमङ्गल विलासिनी, भाग २, पृष्ठ ५१९।
(७) 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', भाग २, पृष्ठ ८१३।

परतु, इस 'अट्ठकुलका' शब्द का वज्जी-सघ के कुलो से कोई सम्बन्ध नहीं था— यह 'अष्टकुलिक' शब्द वस्तुत 'न्याय की समिति' के लिये व्यवहार में आया है। ([१])

डाक्टर वी० ए० स्मिथ ने लिच्छिवियो को तिब्बती ([२]) लिखा है और डाक्टर सतीशचद्र विद्याभूषण के उन्हे ईरानी ([३]) बताया है। इन दोनो की मान्यताएँ भ्रमपूर्ण हैं। लिच्छिवि विशुद्ध क्षत्रिय थे—यह बात पूर्णरूप से निर्विवाद है। ([४])

बुद्ध के निधन के बाद, जब अस्थि लेने के लिए विभिन्न राष्ट्रो के लोग उपस्थित हुए, तो लिच्छिवियो ने स्वय अपने सम्बन्ध मे कहा था—

"भगवा पि खत्तियो, मयं पि खत्तिया
मयं पि अरहाम भगवतो सरीरानं भागं
मयं पि भगवतो सरीरानं थूप च
मह च करिस्सामा" ति।

दीघनिकाय, खण्ड २ (महावग्गो), पृष्ठ १२६।

"भगवान् भी क्षत्रिय (थे), मैं भी क्षत्रिय (हूँ), भगवान् के शरीरो (=अस्थियो) में मेरा भाग भी वाजिब है। मैं भी भगवानु के शरीरो का स्तूप बनवाऊँगा और पूजा करूँगा।"[५]

लिच्छियो का गोत्र वाशिष्ठ था। महावस्तु मे आता है कि, बुद्ध ने लिच्छिवियो के लिए—"वाशिष्ठ गोत्र वालो..." का प्रयोग किया था।[६]

---

(१) दीघनिकाय, राहुल-जगदीश-कृत हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ११८।
(२) 'इडियन ऐंटीक्वैरी', १६०३, पृष्ठ २३३।
(३) इडियन ऐंटीक्वैरी', १६०८, पृष्ठ ७६।
(४) महावस्तु, जे० जे० जेन्स-कृत अग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृष्ठ २०६।
(५) दीघनिकाय, राहुल साकृत्यायन तथा जगदीश काश्यप कृत हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १५०, महापरिनिब्बान सुत्त, स्तूप-निर्माण।
(६) महावस्तु, जे० जे० जेन्स-कृत अग्रेजी-अनुवाद, भाग १, पृष्ठ २२५, २३५, २४८।

मुद्गलायन ने भी लिच्छिवियो को इसी रूप में सम्बोधित किया था ।[1] वैशाली के लिच्छिवि-वंश की ही भगवान् महावीर की माता थीं । 'कल्पसूत्र' मे उल्लेख आया है—"महावीरस्स माया वासिट्ठसगुत्तेणं"[2] । इसी प्रकार का उल्लेख 'आचाराङ्ग' मे भी है ।[3]

'महावस्तु' मे भी आता है—"**वैशालकानां (वैशालिकानां) लिच्छवीनां वचनेन**"[4] । इससे स्पष्ट है कि, विशाल राजा के कुल वाले वैशालिक और लिच्छिवि दोनो ही समानार्थी शब्द थे और उन दोनो मे कोई अन्तर नही था । महाराज विशाल क्षत्रिय थे और उनके पूर्वज अयोध्या से आये थे । (देखिये पृष्ठ ६२) अत किसी भी रूप में लिच्छिवियो को विदेशी नहीं माना जा सकता ।

बसाढ़ मुजफ्फरपुर जिले के रत्ती परगने मे है । यहाँ जथरिया नामक एक जाति बसती है । राहुल साकृत्यायन की कल्पना है कि, यह 'जथरिया' शब्द 'ज्ञातृक' का ही विकृत रूप है[5] । इस 'ज्ञातृ' कुल में पैदा होने के कारण महावीर 'नात-पुत्र' अथवा 'ज्ञातपुत्र' के नाम से विख्यात हुए । राहुल साकृत्यायन की यह भी कल्पना है कि यह 'रत्ती' शब्द 'ज्ञातृकों' की 'नादिका' का विकृत रूप है । उसका रूप-परिवर्तन राहुलजीने इस रूप मे दिया है—नादिका=ज्ञातृका=नातिका=लातिका=रत्तिका=रत्ती (बुद्धचर्य्या, पृष्ठ ४९३) वस्तुत ये 'ज्ञात' इस रत्ती परगने के ही राजा थे ।

बुद्ध के समय मे वैशाली गगा से ३ योजन (२४ मील) की दूरी पर थी और बुद्ध ३ दिनों में गगा-तट से वैशाली पहुँचे थे ।[6] युआन च्वाङ ने गंगा से

(१) 'लाइफ आव बुद्ध' राकहिल-रचित, पृष्ठ ९७ ।

(२) कल्पसूत्र, १०९ ।

(३) आचाराङ्ग सूत्र । श्रुतस्कंध २, अध्याय १५, सूत्र ४ ।

(४) महावस्तु, सेनार्ट-सम्पादित, भाग १ ।२५४ ।

(५) बुद्धचर्या, पृष्ठ १०४, ४९३ ।

(६) 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स,' भाग २, पृष्ठ ९४१ ।

वैशाली की दूरी १३५ ली (२७ मील) लिखी है।[1] आजकल मुजफ्फरपुर जिले मे स्थित वसाढ गाँव पटना से २७ मील और हाजीपुर से २० मील उत्तर है। इससे दो मील की दूरी पर स्थित वखरा के पास अशोक-स्तम्भ है। सवसे पहले सेट मार्टिन और जनरल कनिघम ने इस स्तम्भ का निरीक्षण किया था। और, इन्ही लोगो ने वसाढ के ध्वसावशेषो की ओर ध्यान आकृष्ट कराया।

१६०३-४ मे डा० व्लाख की देख-रेख मे खोदायी का काम हुआ। वाद में १६१३-१४ मे डाक्टर स्पूनर ने यहाँ खोदायी शुरू की। विशालगढ की खुदाई में वहुत सी मुहरें तथा ऐसे पदार्थ मिले, जिससे वैशाली की स्थिति पूर्ण रूप से सुदृढ हो गयी। और, अव तो यहाँ बुद्ध की अस्थियाँ मिल जाने से, उसके वारे मे किञ्चित् मात्र शका नही की जा सकती। इस अस्थि की चर्चा चीनी यात्री युवान च्वाङ् ने भी की है। उसके यात्रा-वर्णन के आधार पर पुरातत्ववेत्ता वर्षों से उसे ढूंढ निकालने के प्रयास में थे।[2]

यह स्थान अव तक राजा 'विशाल के गढ' के नाम से प्रसिद्ध है। यह आयताकार है और ईंटो से भरा है। इसकी परिधि लगभग एक मील है। डाक्टर व्लाख के अनुसार यह गढ उत्तर की ओर ७५७ फुट, दक्षिण की ओर ७८० फुट, पूर्व की ओर १६५५ फुट और पश्चिम की ओर १६५० फुट लम्वा है। पास के खेतो की अपेक्षा खडहरो की ऊँचाई लगभग ८ फुट हैं। दक्षिण को छोड कर इसके तीन ओर खाई है। इस समय यह खाई १२५ फुट चौडी है, परन्तु कनिघम ने इसकी चौडाई २०० फुट लिखी है। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस किले के तीन ओर खाई थी। वर्षा और जाडो मे किले का रास्ता दक्षिण पार्श्व की ओर से रहा होगा।

गढ के निकट लगभग ३०० गज दक्षिण-पश्चिम मे एक स्तूप है। यह

---

(१) 'ऐंशेण्ट ज्यागरैफी आव इडिया'—कनिघम-रचित पृष्ठ ६५४।

(२) 'इलस्ट्रेटेड वीक्ली आव इडिया', १३ जुलाई १६५८, पृष्ठ ४६-४७, 'एक्सकैवेशस ऐट वैशाली', ए० एस० अल्टेकर-लिखित।

इँटो का बना है और आस-पास के खेतो से २३ फुट ८ इंच ऊँचा है। धरती पर इसका व्यास १४० फुट है। चीनी यात्रियो ने इसकी चर्चा नही की है। स्तूप के किनारे खोदने पर, मध्य युग के, सुन्दर काम किये, प्रस्तर के दो स्तम्भ मिले हैं।

गढ़ से पश्चिम की ओर बावन पोखर के उत्तरी भीटे पर एक छोटा-सा आधुनिक मन्दिर है। वहाँ बुद्ध, बोधिसत्त्व, विष्णु, हर-गौरी, गणेश, सप्तमातृका एव जैन-तीर्थङ्करो की कितनी ही खण्डित मध्यकालीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

इन मूर्तियो के अतिरिक्त यहाँ जो अत्यन्त महत्वपूर्ण चीज मिली है, वह राजाओ, रानियों तथा अन्य अधिकारियो के नाम सहित सैंकडो मुद्राएँ हैं। इन मे से कुछ मुद्राओ पर निम्नलिखित आलेख उत्कीर्ण हैं :—

१ महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त-पत्नी महाराजश्रीगो-
विन्दगुप्तमाता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी।

—महाराज श्री चन्द्रगुप्त की पत्नी, महाराज श्री गोविन्दगुप्त की माता महादेवी ध्रुवस्वामिनी।

२ युवराज भट्टारक-पादीय बलाधिकरण।
—माननीय युवराज की सेना का कार्यालय।

३ श्री परमभट्टारक पादीय कुमारामात्याधिकरण।
—राजा की सेवा में लीन कुमार के मत्री का कार्यालय।

४ दण्डपाशाधिकरण।
—दण्डाधिकारी का कार्यालय।

५ तीरभुक्त्युपरिकाधिकरण।
—तिरहुत (तीरभुक्ति) के राज्यपाल का कार्यालय।

६ तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थापकाधिकरण।
—तिरहुत (तीरभुक्ति) के समाचार-सशोधक का कार्यालय।

७ वैशाल्यधिष्ठानाधिकरण ।
—वैशाली नगरी के राज्य-शासन का कार्यालय ।

जनश्रुति के अनुसार, वहाँ वावन पोखरे (पुष्करिणियाँ) थे । परन्तु, कनिंघम ५२ मे केवल १६ का पता पा सके । वैशाली के राजाओ के राज्याभिषेक के लिए इन पोखरो का जल काम मे लाया जाता रहा होगा ।

बनिया और चकरामदास

वसाढ गढ के उत्तर-पश्चिम मे, लगभग एक मील की दूरी पर, बनिया गाँव है, इसका दक्षिणी भाग चकरामदास है । एच० वी० डब्ल्यू० गैरिक ने यहाँ प्राप्त दो प्रस्तर मूर्तियो का उल्लेख किया है—जो माप में २'–२" × १४" × ३" और १'–१०" × १' × ३" थी । यहाँ सिक्के, मृत्तिका-पात्र आदि भी प्राप्त हुए हैं । यहाँ मिली वस्तुओ मे मिट्टी का बना दीवट भी है । गले के आभूषण भी यहाँ मिले हैं । गढ और चकरमदास के बीच लगभग आधा मील लम्बा पोखर है, जो घुडदौड के नाम से प्रसिद्ध है । चकरामदास के दक्षिण-पश्चिम मे कुछ ऊँचे स्थल हैं, जिन पर प्राचीन खडहर हैं ।

कोलुआ

गढ से उत्तर-पश्चिम मे लगभग १ मील की दूरी पर कोलुआ नामक स्थान में अशोक का स्तभ (वखरा से दक्षिण-पूर्व दिशा में १ मील की दूरी पर), स्तूप, मर्कटह्रद (आधुनिक नाम—रामकुण्ड) है । वैशाली के सम्बन्ध मे युवान च्वाङ ने जो वर्णन लिखा है, उनसे इन सव स्थानो का ठीक-ठीक मेल वैठता है । युआन च्वाङ ने वैशाली के राज-प्रासाद की परिधि ४-५ 'ली' लिखी है । वर्तमान गढ की परिधि ५००० फुट से कुछ कम है । ये दोनो स्थितियाँ एक-दूसरे के अत्यत निकट हैं । युआन च्वाङ ने लिखा है— "उत्तर-पश्चिम मे अशोक द्वारा वनवाया हुआ एक स्तूप है और ५०-६० फुट ऊँचा पत्थर का एक स्तम्भ है, जिसके शिखर पर सिह की मूर्ति है । स्तम्भ के दक्षिण में एक तालाव है । जव बुद्ध इस स्थान पर रहते थे, तव उनके ही उपगोग के लिए यह निर्मित किया गया था । पोखर से कुछ दूर पश्चिम

मे एक दूसरा स्तूप है। यह उस स्थान पर बना है, जहाँ बन्दरो ने बुद्ध को मधु अर्पित किया था। पोखर के उत्तर-पूर्व कोने पर बन्दर की एक मूर्ति है।"[१]

आजकल की स्थिति यह है कि, कोलुआ में एक स्तम्भ है, जिस पर सिंह की मूर्ति है, इसके उत्तर में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप है, स्तूप के दक्षिण की ओर रामकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध पोखर है, जो कि बौद्ध-इतिहास मे 'मर्कट-ह्रद' के नाम से ज्ञात है।

यहाँ की जनता अशोक-स्तम्भ को 'भीम की लाठी' कहती है। यह भूमि से २१ फुट ९ इच ऊँचा है। स्तम्भ का शीर्ष भाग घंटी के आकार का है और २ फुट १० इच ऊँचा है। इसके ऊपर एक प्रस्तर-खण्ड पर उत्तराभिमुख सिंह बैठा है। जनरल कनिंघम ने १४ फुट नीचे तक इसकी खुदाई की थी और तब भी स्तम्भ उन्हें उतना ही चिकना मिला था, जितना कि, वह ऊपर है। स्तम्भ से उत्तर में २० गज की दूरी पर एक ध्वस्त स्तूप है। यह १५ फुट ऊँचा है। धरती पर इसका व्यास ६५ फुट है। इसमें लगी ईंटों का आकार १२"×९॥"×२॥" है। स्तूप के ऊपर एक आधुनिक मन्दिर है, इसमे बोधिवृक्ष के नीचे भूमिस्पर्श-मुद्रा में बैठी बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, जो मुकुट, हार और कर्णाभूषण पहने है। बुद्ध के सिर के दोनो ओर बैठी मूर्तियाँ मुकुट और आभूषण पहने हैं। उनके हाथ इस प्रकार हैं, मानो वे प्रार्थना कर रही हों। इन दोनो छोटी मूर्तियों में प्रत्येक के नीचे निम्नलिखित पंक्तियाँ नागरी में लिखी हैं —

१ देयधर्म्मोऽयम प्रवरमहायानयायिन. करणिकोच्छाह- (=उत्साहस्य) मा (णि) णाक्य-सुतस्य.

२ यदत्रपुण्यम तद् भवत्वाचार्योपाध्याय-मातापितोरात्मनश्च पूर्व्वंगमम (कृ)—

३ त्वा सकल-स (त्) त्वराशेरनुत्तर-ज्ञानावाप्तयेति।"

(१) "बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आव वेस्टर्न इंडिया", द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ६७-६८

—अर्थात् माणिक्य के पुत्र, लेखक और महायान के परम अनुयायी उत्साह का धर्मपूर्वक किया गया यह दान है। इससे जो भी पुण्य हो, वह आचार्य, उपाध्याय, माता-पिता और अपने से लेकर समस्त प्राणिमात्र के अनन्त कल्याण की प्राप्ति के लिए हो।

स्तम्भ से ५० फुट पर ही रामकुण्ड अथवा मर्कटह्लद है, जिसके किनारे कूटागारशाला थी। इस कूटागारशाला मे ही, बुद्ध ने आनन्द को अपने निर्वाण की सूचना दी थी। वहाँ खुदाई करने पर पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली एक मोटी दीवार पायी गयी है, जो कि पक्की ईंटो की है। इसकी ईंटें १५॥″×९॥″×२″ की हैं। दीवार के पश्चिमी छोर पर एक छोटे स्तूप के अवशेष पाये गये है। इस स्तूप की ईंटें इधर-उधर बिखरी पडी थी। इसमे ७। इच व्यास की एक गोलाकार ईंट मिली थी, जिसका ऊपरी भाग गोल था। इसके बीच मे एक चौकोर छेद था। कनिंघम का मत है कि यह स्तूप के शिखर की ईंट रही होगी। कोलुआ, बनिया और बसाढ से पश्चिम मे 'न्योरी-नाला' नामक नदी का पुराना पाट बहुत दूर तक चला गया है। अब इसमे खेती होती है।

यहाँ जन-श्रुति प्रसिद्ध है कि, प्राचीन वैशाली के चारो कोनो पर चार शिवलिङ्ग स्थापित थे। इसका आधार क्या है, इसे नही कहा जा सकता और इस सम्बन्ध मे कोई प्रमाण भी उपलब्ध नही है। उत्तर-पूर्वी 'महादेव' जो कूमनछपरागाछी मे हैं, वास्तव मे बुद्ध की मूर्ति हैं, जो चतुर्मुख है। उत्तर-पश्चिम मे एक सगमरमर का लिङ्ग बना है, जो बिलकुल आधुनिक है। इन दोनो को यहाँ की जनता बहुत भक्ति-भाव से पूजती है।

चीनी यात्रियों के काल में वैशाली

फाहियान और युआन च्वाङ् दोनो ही ने अपने यात्रा-ग्रथो मे वैशाली का उल्लेख किया है।

फाहियान ने लिखा है—"वैशाली नगर के उत्तर स्थित महावन मे कूटागार-विहार (बुद्धदेव का निवास-स्थान) है। आनन्द का अर्द्धाङ्ग स्तूप है। इस

नगर मे अम्बपाली वेश्या रहती थी, उसने वुद्ध का स्तूप वनवाया है। वह अव तक वैसा ही है। नगर के दक्षिण तीन 'ली' पर अम्बपाली वेश्या का वाग है, जिसे उसने वुद्धदेव को दान दिया था कि, वे उसमे रहे। वुद्धदेव, परिनिर्वाण के लिए, जव सव शिष्यो सहित वैशाली नगर के पश्चिम द्वार से निकले, तो दाहिनी ओर घूमकर नगर को देखकर शिष्यो से कहा—'यह मेरी अन्तिम विदा है।' पीछे लोगो ने वहाँ स्तूप वनवाया।

"यहाँ से पश्चिम की ओर तीन-चार 'ली' पर एक स्तूप है। वुद्धदेव के परिनिर्वाण से सौ वर्ष पीछे, वैशाली के भिक्षुओ ने विनय—दश शील—के विरुद्ध आचरण किया।

" इस स्थान से ४ योजन चल कर पाँच नदियो के संगम पर पहुँचे। आनन्द मगध से परिनिर्वाण के लिए वैशाली चले। देवताओं ने अजातशत्रु को सूचना दी अजातशत्रु तुरत रथ पर चढ कर सेना के साथ नदी पर पहुँचा। वैशाली के लिच्छिवियो ने आनन्द का आगमन सुना, तो उन्हे लेने के लिए नदी पर पहुँचे। आनन्द ने सोचा—'आगे वढता हूँ, तो अजातशत्रु वुरा मानता है और लौटता हूँ, तो लिच्छिवि रोकते हैं।' परिणामस्वरूप आनन्द ने नदी के वीच मे ही 'तेजोकसिण' [1] (तेज कृत्स्न) योग के द्वारा परिनिर्वाण लाभ किया। शरीर को दो भागो मे विभक्त कर एक-एक भाग दोनो किनारो पर पहुँचाया गया। दोनो राजाओं को आधा-आधा शरीरांश मिला। वे लौट आये और उन्होंने अपने-अपने स्थानो पर स्तूप वनवाए।"

युआन च्वाङ् ने लिखा है—"इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५ हजार 'ली' है। भूमि उत्तम तथा उपजाऊ है, फल-फूल वहुत अधिक होते हैं—विशेषकर आम और मोच (केला) अधिकता से होते हैं और मँहगे विकते हैं। जलवायु सहज और मध्यम प्रकार की है तथा मनुष्यो का आचरण शुद्ध और सच्चा है। वौद्ध और वौद्धेतर दोनो ही मिलकर रहते हैं। यहाँ कई

१—यह एक प्रकार का योगाभ्यास है, जिसमे आँख का तेज टुकडे पर लगा कर धीरे-धीरे सारे भूमण्डल को देखने की भावना करने मे आती है।
—वुद्धचर्या पृष्ठ ५८३।

सौ सघाराम है, परन्तु सब-के-सब खडहर हो गये हैं। तीन या पांच ऐसे है जिनमे बहुत-ही कम सख्या मे साधु रहते हैं। दस-बीस मन्दिर देवताओ के हैं, जिनमे अनेक मतानुयायी उपासना करते हैं। जैन धर्मानुयायी काफी संख्या में है।

"वैशाली की राजधानी बहुत-कुछ खँडहर है। पुराने नगर का घेरा ६० से ७० 'ली' तक है और राजमहल का विस्तार ४-५ 'ली' के घेरे मे है। बहुत थोडे-से लोग इसमे निवास करते हैं। राजधानी से पश्चिमोत्तर ५-६ 'ली' की दूरी पर एक सघाराम है। इसमे कुछ साधु रहते हैं। ये लोग सम्मतीय सस्था के अनुसार हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी है।[१]

क्षत्रियकुण्ड

वसाढ के निकट वासुकुण्ड स्थान है, जो प्राचीन कुण्डपुर (जिसमे क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड दो भाग थे) का आधुनिक नाम है। जैन-शास्त्रो मे इसका स्थान-निर्देश करते हुए लिखा है—

१—अत्थि इह भरहवासे मज्झिमदेसस्स मण्डणं परमं।
सिरिकुण्डगामनयरं वसुमइरमणीतिलयभूयं ॥ ७ ॥

—नेमिचन्द्रसूरिकृत महावीरचरिय, पत्र २६

भारत के मज्झिम (मध्य) देश मे कुण्डग्राम नगर है।

२—जम्बूद्दीवे णं दीवे भारहे वासे.. दाहिणमाहिणकुंडपुर-संनिवेसाओ उत्तरखत्तियकुंडपुरसन्निवेसंसि नायाण खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठ-सगुत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करित्ता सुभाणं पुग्गलाण पक्खेवं करित्ता कुच्छिसि गब्भं साहरइ।

—आचाराङ्गसूत्र (टीका सहित), पत्र ३८८

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुरसन्निवेश से (चलकर)

(१) 'बुद्धिस्ट रेकार्ड आव वेस्टर्न वर्ल्ड', द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ६६-६७।

उत्तर क्षत्रियकुण्ड-सन्निवेश में ज्ञातृक्षात्रियो के काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ क्षत्रिय की (पत्नी) वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे अशुभ पुद्गलों को हटा कर शुभ पुद्गलो का प्रक्षेप करके गर्भ-प्रवेश कराता है।

३—भगवान् को आचाराङ्ग आदि सूत्रो मे 'विदेह' (विदेहवासी) कहा गया है। यद्यपि टीकाकारो ने इसके एकही-जैसे अर्थ किये हैं, पर वे ठीक नही हैं। नीचे हम 'कल्पसूत्र' के आधार पर 'विदेह' के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं। उससे पाठकगण अपना निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

(क) कल्पसूत्र में आया विदेह-सम्बन्धी पाठ निम्नलिखित रूप में है —

"नाए नायपुत्ते नायकुलचन्दे विदेह विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु।"—सूत्र ११०

यही पाठ आचाराङ्ग-सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावना अध्ययन, सू० ४०२ पत्र ३८६।२ मे भी है।

कल्पसूत्र की 'सुबोधिका-टीका' में श्री विनयविजय जी उपाध्याय ने 'विदेह' शब्द का अर्थ इस रूप मे किया गया है —

"(विदेहे) वज्रऋषभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानमनोहरत्वाद् विशिष्टो देहो यस्य स विदेह" (पत्र २६२, २६३)

पर, यह अर्थ सगत नही हैं। मालूम पडता है कि, 'आवश्यकचूणि' के पाठ की ओर उनका ध्यान नही गया। अगर गया होता, तो ऐसा अर्थ वे न करते। 'आवश्यक-चूणि' का पाठ इस रूप मे है :—

"...णाते णातपुत्ते णातकुलविणिवट्टे विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले सत्तुस्सेहे समचउरससठाणसहिते वज्जरिसभणारायसघयणे अणुलोमवायुवेगे कक्कग्गहणी कवोयपरिणामे।"

—ऋ. के पेढी रतलाम-प्रकाशित 'आवश्यक-चूणि,' पत्र २६२

इसमे 'विदेह' शब्द अलग होते हुए भी, 'कल्पसूत्र' के टीकाकार ने जो अर्थ किया है, वह यहाँ पृथक रूप से—

"समचउरंससंठाणसहिते वज्जरिसभणारायसंघयणे"

इन शब्दो मे निहित है। इससे मालूम पडता है, उनका लक्ष्य भगवान् की जन्मभूमि की तरफ—जो मुख्य विषय था—न जाते हुए, उनके मुख्य लक्षणो ('वज्र ऋषभनाराचसहनन' और समचतुरस्र सस्थान') की ओर अधिक गया।

डाक्टर याकोबी ने 'विदेह' शब्द का अर्थ बहुत ठीक किया है। उन्होंने 'सेक्रेड बुक आव द' ईस्ट' के २२-वें खण्ड के पृष्ठ २५६ पर इसका अर्थ 'विदेह-वासी' लिखा है। परन्तु, 'विदेहजच्चे' का उनका 'विदेह-निवासी' अर्थ ठीक नही है। 'विदेहजच्चे' का अर्थ 'विदेह देश मे श्रेष्ठ' होना चाहिए—कारण यह है कि, 'जच्चो जात्य', का अर्थ 'उत्कृष्ट' होता है (आवश्यक-निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका, पत्र १८३।१)

(ख) अब हम अपने समर्थन मे कल्पसूत्र की 'सन्देहविषौषधि-टीका' (जिनप्रभसूरि-कृत) का उद्धरण देते हैं :—

"एतेषां च पदानां क्वापि वृत्तिर्न दृष्टा, अतो वृद्धाम्नायादन्यथापि भावनीयानि" (पत्र ९२)

अर्थात्—'इन पदो की टीका कही भी नही देखी गयी है, अत. 'वृद्धाम्नाय' से भिन्न भी इसके अर्थ हो सकते हैं।' हमारी धारणा की पुष्टि उपर्युक्त उद्धरण से पूरी-पूरी होती है। इस मे सन्देह का किञ्चित् मात्र स्थान नही है।

(ग) हमारी मान्यता का समर्थन 'कल्पसूत्र' के बगला-अनुवाद (वसतकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०-कृत) से भी होता है। वे लिखते हैं—

"दक्ष, दक्षप्रतिज्ञ, आदर्श-रूपवान्, आलीन (कूर्मवत् आत्मगुप्त), भद्रक (सुलक्षण), विनीत, ज्ञात (सुविदित, प्रसिद्ध), ज्ञातिपुत्र, ज्ञातिकुलचन्द्र, वैदेह, विदेहदत्तात्मज, वैदेहश्रेष्ठ, वैदेहसुकुमार, श्रमण भगवान् महावीर त्रिशवत्सर विदेहदेशे काटाइया माता पितार देवत्वप्राप्ति हइले गुरुजन ओ महत्तर गणेर अनुमतिलइया स्वप्रतिज्ञा समाप्त कारिया छिलेन।"

(कल्पसूत्र, अनुवादक वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए० कलकत्ता-विश्वविद्यालय, सन् १९५३, पृष्ठ २७)

इन सब प्रमाणो से यही निष्कर्ष निकलता है कि, भगवान् का जन्म विदेह देश मे हुआ था—न कि, मगध देश में और न अग देश मे। इसकी पुष्टि दिगम्बर-ग्रथो से भी होती है।

(४) दिगम्बर-शास्त्रो मे भी कुण्डपुर की स्थिति जम्बूद्वीप, भारतवर्ष मे विदेह के अतर्गत वर्णित है —

(क) उन्मीलितावधिदृशा सहसा विदित्वा
तज्जन्मभक्तिभरत. प्रणतोत्तमाङ्गाः।
घण्टानिनादसमवेतनिकायमुख्यां
दिष्ट्या ययुस्तदिति कुण्डपुर सुरेन्द्रा ॥१७-६१॥
—महाकवि असग (९८८ ई०)-रचित 'वर्द्धमान-चरित्र'

(ख) सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्या प्रियकारिण्या सुस्वप्नान् संप्रदश्ये विभु. ॥४॥
—आचार्य पूज्यपाद (विक्रमी ५-वी शताब्दी)-रचित 'दशभक्ति', पृष्ठ ११६

(ग) अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यात. स्वर्गखण्डसम श्रियः ॥१॥
तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डनम्।
सुखांभ· कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥५॥
—आचार्य जिनसेन (विक्रमी ८-वी शताब्दी)-रचित 'हरिवश-पुराण' खण्ड १, सर्ग २।

(घ) .. . .
भरतेऽस्मिन विदेहाख्ये विषये भवनाङ्गणे ॥२५१॥
राज्ञ कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथु।
... ... ॥२५२॥

—आचार्य गुणभद्र (विक्रमी ९-वी शताब्दी)-रचित 'उत्तर पुराण' पृष्ठ ४६०, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित ।

(ङ) ... .

विदेहविषये कुण्डसञ्ज्ञायां पुरि भूपतिः ॥७॥
नाथो नाथकुलस्यैकः सिद्धार्थाख्यस्त्रिसिद्धिभाक् ।
तस्य पुण्यानुभावेन प्रियासीत् प्रियकारिणी ॥८॥

—उपर्युक्त, पृष्ठ ४८२

भगवान् के जन्मस्थान के सम्बन्ध मे शका करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि, दिगम्बर-ग्रथो मे 'कुण्डपुर' शब्द आता है, 'क्षत्रियकुण्ड' नही। पर, वस्तुत तथ्य यह है कि, श्वेताम्बर-ग्रथो मे भी मुख्य रूप से कुण्डपुर ही नाम आता है। उस ग्राम का मुख्य नाम कुण्डपुर ही था—क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड तो उसके दो विभाग थे। श्वेताम्बर-ग्रथो मे कुण्डपुर कितने स्थानो पर आया है, उसकी तालिका हम नीचे दे रहे हैं।

आवश्यक निर्युक्ति—पृष्ठ ६५, श्लोक १८०। पृष्ठ ८३, श्लोक ३०४। पृष्ठ ८६, श्लोक ३२४, ३३३। पृष्ठ ८७, श्लोक ३३६।

कल्पसूत्र सूत्र ६६, १०० (दो बार), १०१, ११५।

आवश्यक सूत्र (हारिभद्रीय टीका) पत्र १६०।२, १८०।१, १८०।१, १८३।१, १८३।१, १८३।२, १८४।१, २१९।२।

महावीर-चरियं—नेमिचन्द्र-कृत, पत्र २६।२ श्लोक ७, ३३।१ श्लोक ६६, ३५।२ श्लोक २७, ३६।१ श्लोक ४३।

महावीर-चरियं—गुणचन्द्रगणि-कृत, पत्र ११५।२, १२४।१, १३५।१ १४२।१, १४२।२।

पउमचरियं—विमलसूरि-कृत, उद्देसा २, श्लोक २१।

वराङ्ग-चरितम्—जटासिंह नन्दि-विरचित, पृष्ठ २७२, श्लोक ८५।

आवश्यकचूर्णी पूर्वार्द्ध २४३, २४४, २५० (तीन वार), २५६ (दो वार), २६५ (तीन वार), २६६ ४१६ ।

आवश्यकचूर्णी उत्तरार्द्ध १६४ ।

आवश्यक चूर्णी मे कुण्डपुर १३ स्थानो पर आया है, जब कि क्षत्रिय-कुण्ड केवल ३ स्थानो पर (पत्र २३९, २४०, २४३) और 'माहण' केवल २ स्थानो पर (पत्र २३६, २४०) । इसी से स्पष्ट है कि, कौन नाम मुख्य है ।

'आवश्यक निर्युक्ति' (पृष्ठ ८३ । श्लोक ३०४) मे महावीर स्वामी का जन्म-स्थान स्पष्टरूप से कुण्डपुर बताया गया है :—

> अह चित्तसुद्धपक्खस्स तेरसीपुव्वरत्तकालम्मि ।
> हत्थुत्तराहिं जाओ कुंडग्गामे महावीरो ॥३९४॥

—चैत्र सुदी १३ को मध्य-रात्रि के समय उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में महावीर-स्वामी का जन्म कुण्डग्राम में हुआ ।

इसी प्रकार पृष्ठ ६५ पर भी जहाँ तीर्थंकरो की जन्मभूमियाँ बतायी गयी हैं, वहाँ भी श्लोक १८० मे महावीर स्वामी का जन्मस्थान कुण्डपुर ही लिखा है ।

उपर्युक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि, भगवान् महावीर का जन्म कुण्डपुर नामक ग्राम मे हुआ । उसका उत्तर भाग 'क्षत्रिय कुण्ड' और दक्षिण भाग 'ब्राह्मण कुण्ड' के नाम से विख्यात था । और, वह मज्झिम देश तथा विदेह के अतर्गत था । हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि, मज्झिम देश आर्यावर्त्त का नामान्तर मात्र है । इसी के अन्तर्गत विदेह देश है । और, कुण्डपुर इस विदेह का एक नगर था ।

भगवान् को शास्त्रो मे 'वेसालिय' कहा गया है । अत इससे यह स्पष्ट है कि, वैशाली देश अथवा नगर से उनका सम्बन्ध होना आवश्यक है । और, चूंकि अब वैशाली की स्थिति स्पष्ट है, अत उसके सम्बन्ध मे किसी भी रूप मे शका करने की गुजाइश नही रह जाती ।

अब हम 'वेसालिय' शब्द पर विचार करेंगे। क्योंकि, कुछ लोग 'वेसालिय' शब्द के कारण भगवान् का जन्म-स्थान वैशाली नगर मानते हैं। 'वैशालिक' शब्द पर प्राचीन टीकाकारो ने भी विचार किया है—

(१) विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव वा
विशालं प्रवचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः ॥

—सूत्रकृताङ्ग शीलाकाचार्य की टीका, अ० २, उद्दे० ३, पत्र ७८-१।

जिसकी माता विशाला हैं, जिन्होंने विशाल राजा के कुल मे जन्म लिया है, जिसके वचन विशाल हैं, वह वैशालिक कहलाते हैं।

(२) वेसालिअसावए'त्ति—विशाला—महावीर-जननी तस्या, अपत्यं मिति वैशालिको भगवान्, तस्य वचनं शृणोति तद्रसिकत्वादिति वैशालिक श्रावकः

—भगवतीसूत्र, अभयदेव सूरि-कृत टीका
भाग १, शतक २, उद्देश १, पृष्ठ २४६
—भगवतीसूत्र, दानशेखर गणिकृत-टीका, पृष्ठ ४४

—विशाला (त्रिशला) महावीर स्वामी की माता थी। इससे (विशाला के पुत्र होने के कारण) वे 'वैशालिक' नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके रसपूर्ण वचन को जो सुनता है, वह वैशालिक-श्रावक है।

(३) विशालकुलोद्भवत्वाद् वैशालिकः

—सूत्रकृताङ्ग—शीलङ्काचार्य की टीका, पृष्ठ ७८-१

—विशाल कुल में उत्पन्न होने से भगवान् महावीर का नाम वैशालिक पडा।

यहाँ 'कुल' से तात्पर्य जनपद से है (अमरकोष, निर्णय सागर प्रेस, पृष्ठ २५०) अत 'विशालकुलोद्भवत्वाद्' का अर्थ हुआ—

विशालदेशोद्भवत्वाद् वैशालिकः

—विशाल देश में उत्पन्न होने से भगवान् का नाम वैशालिक पडा।

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि, भगवान का नाम 'वैशालिक' होने से यह सिद्ध नही होता कि, उनका जन्म विशाला नगरी मे हुआ था। जिस प्रकार

'वैशाली' नाम की नगरी थी, ठीक उसी प्रकार 'वैशाली' के नाम से वह जनपद भी विख्यात था। और, उस देश के निवासी 'वैशालिक' कहे जाते थे।

वह जनपद अथवा देश भी वैशाली कहा जाता था, हमारे इस मत के समर्थन मे कितने ही प्रमाण उपलब्ध है।

(१) अम्बपाली गणिका लिच्छिवियो से सभिक्षुसघ बुद्ध को दिये गये अपने निमत्रण को अपने लिए करवाने के लिए प्रार्थित होकर उनके उत्तर मे कहती है—

सचे'पि मे अय्यपुत्ता वेसालिं साहार दस्सथ एवंमहन्त भत्त न दस्सामी'ति'

'आर्य पुत्रो ! यदि वैशाली जनपद भी दो, तो भी इस महान भात (भोजन) को न दूंगी।"

—दीघनिकाय, महापरिनिब्बान-सुत्त, पृष्ठ १२८
(महाबोधि-ग्रन्थमाला, पुष्प ४, १९३६ ई०)

(२) इसी प्रकार प्रसिद्ध चीनी-यात्री युवान् च्वाङ् अपने यात्रा-वर्णन मे लिखता है :—

"वैशाली-देश की परिधि ५००० ली से भी अधिक है (१)

(३) महावस्तु भाग १, पृष्ठ २५४ में "वैशालकाना लिच्छिवीना वचनेन" का प्रयोग हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि, 'वैशाली' देश का नाम भी था।

(३) पार्जिटर ने लिखा है —

"राजा विशाल ने विशाला अथवा वैशाली नगरी को बसाया और राजधानी बनायी। .वह राज्य भी वैशाली ही कहा जाता था और राजा वैशालिक राजा कहे जाते थे। यह 'वैशालिक' शब्द उस कुल मे उत्पन्न सभी के लिए प्रयुक्त होता था। (२)

१—'बुद्धिस्ट रेकार्ड आव वेस्टर्न इडिया' खण्ड २, पृष्ठ ६६।

२—'ऐंशेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन', पृष्ठ ९७।

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि, 'वैशालिक' नाम के कारण भगवान् महावीर का जन्म-स्थान वैशाली नगर मानना पूर्णत त्रुटिपूर्ण होगा। और, हम ऊपर शास्त्रीय प्रमाणो से यह बात भी सिद्ध कर आये है कि, भगवान् का जन्म वैशाली देश में, कुण्डपुर के 'क्षत्रियकुण्ड-सन्निवेश' मे हुआ था। यह कुण्डपुर वैशाली का उपनगर नही था, बल्कि एक स्वतत्र नगर था।

अब हमे कुण्डपुर के ब्राह्मण-कुण्ड सन्निवेश और क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश की भी स्थिति समझ लेनी चाहिए। ब्राह्मणकुण्ड क्षत्रियकुण्ड के निकट था और दोनो के बीच मे बहुशाल चैत्य था। एक बार भगवान् विहार करते हुए ब्राह्मणकुण्ड आये और गाँव के निकट बहुशाल-चैत्य मे ठहरे थे। यह कथा भगवती-सूत्र के शतक ९, उद्देश्य ३३ मे वर्णित है। उसमे उल्लेख हैं

"तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं खत्तिय-कुंडग्गामे नामे नयरे होत्था !" (भगवती सूत्र, भाग ३, पृष्ठ १६५)

—ब्राह्मणकुण्ड ग्राम की पश्चिम दिशा में, क्षत्रियकुण्ड ग्राम मे जमालि नामक क्षत्रियकुमार रहता था। जब भगवान् के बहुशाल-चैत्य मे पहुँचने की सूचना क्षत्रियकुण्ड मे पहुँची, तो वहाँ से एक बडा जनसमूह क्षत्रियकुण्ड के बीच से होता हुआ, ब्राह्मणकुण्ड की ओर चला। जहाँ बहुशाल चैत्य था, वहाँ आया। इस भीड को देखकर जमालि भी वहाँ आया। 'भगवती-सूत्र' में लिखा है —

"जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे नयरे जेणेव बहुसालए चेइए..." (पृष्ठ १६७)

भगवान् के प्रवचन से जमालि के हृदय मे दीक्षा लेने की इच्छा हुई। इसलिए अपने माता-पिता से आज्ञा लेने के बाद एक विशाल जनसमूह के साथ—

सत्थवाहप्पभियओ पुरओ संपट्ठिया खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झं

मज्झेणं जेणेव माहणकुण्डग्गामे नयरे, जेणेव वहुसालए चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।" (पृष्ठ १७७)

—क्षत्रियकुण्ड के वीचो-वीच से निकल कर ब्राह्मणकुण्ड ग्राम की ओर वहुशाल चैत्य में—जहाँ महावीर स्वामी थे—वहाँ (जमालि) आया।

इससे स्पष्ट है कि, ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड एक दूसरे से अति निकट थे।

इस क्षत्रियकुण्ड ग्राम मे 'ज्ञातृ' क्षत्रिय रहते थे। इस कारण बौद्ध-ग्रन्थो मे इसका 'ज्ञातिक' 'ञातिक' अथवा 'नातिक' नाम से उल्लेख हुआ है। 'नातिक' के अतिरक्त कही-कही 'नादिक' शब्द भी आया है।

(१) 'सयुक्त-निकाय' की वुद्धघोष की 'सारत्थप्पकासिनी-टीका' मे आया है—

"ञातिकेति द्विन्नं ञातकानं गामे"

(२) 'दीघनिकाय' की 'सुमगल-विलासिनी-टीका' मे लिखा है —

नादिकाति एतं तळाकं निस्साय द्विण्णं चुल्लपितु महापितुपुत्तानं द्वे गामा। नादकेति एकस्मिं ञातिगामे।"

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि, 'ञातिक' और 'नादिक' दोनो एक ही स्थान के नाम हैं। ज्ञातृयो की वस्ती होने के कारण वही ज्ञातिग्राम अथवा 'ञातिक' कहलाया और तडाग (तालाव) के निकट हाने से वही 'नादिक' नाम से विख्यात हुआ।

'नातिक' की अवस्थिति के सम्बन्ध मे 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स' मे उल्लेख आया है कि, वज्जी देश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिग्राम के वीच मे यह स्थान स्थित था (१)। उसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड पृष्ठ ७२३ पर 'महापरिनिव्बान-सुत्त' के अनुसार राजगृह और कपिलवस्तु के वीच मे आये स्थानो को इस प्रकार गिनाया गया है —"कपिलवस्तु से राजगृह ६० योजन दूर था। राजगृह से कुशीनारा २५ योजन की दूरी पर था। महा-

१—'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड १, पृष्ठ ९७६

परिनिब्बान-सुत्त मे उन स्थानो के नाम आये हैं, जहाँ बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा मे ठहरे थे। उनका क्रम इस प्रकार है :—

"अम्बलत्थिका, नालन्दा, पाटलीग्राम, (जहाँ बुद्ध ने गङ्गा पार की), कोटिगाम, नादिका, वेसाली, भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बूगाम, भोगनगर, पावा। फिर ककुत्थ नदी—जिसके उस पार आम तथा साल के बाग थे। ये बाग मल्लो के थे।"

बुद्ध की इस अन्तिम यात्रा से स्पष्ट है कि, कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) अथवा ञातिक वज्जी (विदेह) देश के अतर्गत था। 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के चीनी-सस्करण मे इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट है। उस में लिखा है कि, यह वैशाली से ७ 'ली' की दूरि पर था।[१]

कनिंघम ने अपने ग्रथ 'ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इडिया' मे लिखा है कि, एक ली = $\frac{१}{५}$ मील।[२] अत कहना चाहिए कि वैशाली और कुण्डग्राम के बीच की दूरि १$\frac{२}{५}$ मील थी।[३]

१—'साइनो-इडियन-स्टडीज', वाल्यूम १। भाग ४, पृष्ठ १९५। जुलाई १९४५, 'कम्परेटिव स्टडीज इन द' परिनिब्बान सुत्त ऐंड इटस् चाईनीज वर्जन, फाच-लिखित।

२—'ऐंशेंट ज्यांगरैफी आव इडिया', पृष्ठ ६५८

३—इस नादिक अथवा नातिक ग्राम का उल्लेख ९-वी शताब्दी तक मिलता है। सुवर्ण दीप के राजा बालपुत्र ने दूत भेजकर देवपाल से नालदा मे निर्मित अपने विहार के लिए पाँच गाँव देने का आग्रह किया। अनुरोध को स्वीकार कर के देवपाल ने जो पाँच गाँव दिये थे, उनमे नाटिका और हस्तिग्राम भी थे। 'मेमायर्स आव द' आर्कालाजिकल सर्वे आव इडिया' सख्या ६६ 'नालदा एण्ड इट्स इपीग्राफिक मिटीरियल, मे हीरानन्द शास्त्री ने इन गाँवो की पहचान गगा के दक्षिण मे की है। पर, यह उनकी भूल है। ये गाँव गगा के उत्तर मे स्थित थे।

क्षत्रियकुण्ड के वज्जी देश में होनेवाली मेरी स्थापना की पुष्टि शास्त्रों मे, ऐतिहासिक प्रमाणो मे और पुरातत्त्व विभाग के प्रमाणो से होती है।

इन प्रमाणो द्वारा भगवान् महावीर के जन्मस्थान की सिद्धि कर चुकने के वाद, यह कहने की कोई आवश्यकता नही रह जाती कि, लिछुआड के निकट स्थित क्षत्रियकुण्ड, जो आजकल भगवान् महावीर की जन्मभूमि मानी जाती है, स्थापना-तीर्थ मात्र है—भगवान् का वास्तविक जन्मस्थान नही है। और, जो लोग यह कहकर कि, भगवान् अर्द्धमागधी वोलते थे, उन्हें मगधवासी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, वे नितान्त भ्राति पर हैं, क्योकि अर्द्धमागधी तो उस समय सम्पूर्ण २५।। आर्यदेशो की भाषा थी। सिद्ध है कि, सभी देशो मे अर्द्धमागधी-भाषा और ब्राह्मी-लिपि प्रचलित थी। बुद्ध शाक्य-देश के वासी थे, पर वे भी मागधी में ही उपदेश करते थे।[1] अत भाषा को आधार मानकर इन शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक प्रयत्नो को गलत सिद्ध करने की चेष्टा कुचेष्टा मात्र कही जायेगी।

शास्त्रो में भगवान् को विशाल राजा के कुल का कहा गया है। विशाल राजा वैशाली के राजा थे। अत भगवान् को वैशाली से हटाकर अग से सम्वद्ध करना पूर्णत भ्रामक है।

लिछुआड से क्षत्रियकुड जाने का मार्ग भी पहले नही था। पहले लोग मथुरापुर होकर क्षत्रियकुड जाया करते थे।[2] यह मार्ग तो १८७४ ई० मे मुर्शिदावाद वाले रायवहादुर धनपतसिंह के (लिछुआड में) मन्दिर और धर्मशाला वनवाने के वाद वना।[3]

लिच्छवियो की राजधानी वैशाली थी, लिछुआड नही। लिछुआड़ को लिच्छवियो से सम्वद्ध करना सिद्ध-इतिहास के पूर्णत विरुद्ध है। लिछुआड

१– 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', भाग २, पृष्ठ ४०४.

२– प्राचीन ,तीर्थमाला सग्रह, भाग १ मे, सकलित (१७५० वि०) सौभाग्य विजय-रचित तीर्थमाला।

३– मुंगेर जिला गजेटियर, पृष्ठ २२८।

के निकट की बहुआर नदी लम्बाई में ८-६ मील मात्र है।[1] उसकी गण्डकी से क्या तुलना की जा सकती है—जो १६२ मील लम्बी है।

एक लेखक ने लिखा है कि, गिद्धौर-नरेश अपने को राजा नन्दिवर्द्धन (महावीर स्वामी के सासारिक बडे भाई) का वशज बताते हैं।[2] यह भी तथ्यो के पूर्णत विपरीत स्थापना है। गिद्धौर के वर्तमान नरेश की वश-परम्परा के सम्बन्ध मे उल्लेख आया है :—

"यहाँ एक बहुत पुराने घराने के राजपूत जमींदार रहते हैं। इनके पूर्वज पहले बुन्देलखंड के महोबा राज्य के स्वामी थे। इनको दिल्ली के अन्तिम हिन्दू-राजा पृथ्वीराज ने हराया था। मुसलमानों से खदेड़े जाने पर ये लोग मिर्जापुर आये। यहाँ से वीर विक्रमशाह ने आकर मुंगेर जिले में अपना राज्य कायम किया। शुरू में इन लोगों ने खैरा पहाड़ी के पास अपना किला बनवाया, जहाँ अब भी उसके चिह्न मौजूद हैं।"[3]

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने 'हिन्दू भारत का उत्कर्ष' नामक ग्रन्थ मे भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है।[4]

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि, वर्तमान गिद्धौर-नरेश के पूर्वज बुन्देलखड के चन्देल थे। वे चन्द्रवशी थे। उनका गोत्र चन्द्रात्रेय था। उनकी राजधानी परषडा[5] नही, पटसडा[6] थी, और भगवान् के सम्बन्ध मे जो शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनके पूर्वज कोशल-देशवासी थे, उनकी पहले की राजधानी अयोध्या थी और उनका गोत्र काश्यप था। कल्पसूत्र मे आता है —

१—मानचित्र ७२ L—१।

२—क्षत्रियकुड, पृष्ठ ९।

३—मुगेर-जिला-दर्पण, पृष्ठ ४५-४६

४—हिंदूभारत का उत्कर्ष, पृष्ठ ६३।

५—क्षत्रियकुण्ड, पृष्ठ ९।

६—मानचित्र ७२।एल। १

"नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स कासवगुत्तस्स"

—श्री कल्पसूत्र, सूत्र २६,

उनका वश ज्ञातृवश था, जो कि, इक्ष्वाकु-वश का ही नामान्तर है। 'ज्ञातृवंश' का अर्थ आवश्यक चूर्णि मे 'वृषभ स्वामी के परिवार के लोग' किया गया है।

णाता णाम जे उसभसामिस्स सयणिज्जगा ते णातवंसा।

—आवश्यक चूर्णि, भाग १, पत्र २४५।

जिनप्रभसूरि कृत 'कल्पसूत्र' की 'सन्देह-विषौषधि-वृत्ति' (पत्र ३०, ३१) में भी इसका यही अर्थ किया गया है —

" तत्र ज्ञाताः श्रीऋषभस्वजनवंशजाः इक्ष्वाकु-वंश्या एव " "ज्ञाता इक्ष्वाकुवशविशेषाः।"

कुछ भ्रान्त धारणाएँ

डाक्टर हारनेल तथा डाक्टर याकोबी ने जैनशास्त्रो की विवेचना करते हुए कुछ भ्रान्त धारणाओ की स्थापनाएँ की हैं। डाक्टर हारनेल के मतानुसार—

(१) वाणियागाम (सस्कृत—वाणिज्यग्राम) यह वैशाली के नाम से प्रसिद्ध नगर का दूसरा नाम था।

—'महावीर तीर्थंकर नी जन्मभूमि' (डा० हारनेल का लेख)
जैन-साहित्य-सशोधक खण्ड १, अक ४, पृष्ठ २१८।

(२) कुण्डग्राम नाम भी वैशाली का ही था और वैशाली ही भगवान् की जन्मभूमि थी।

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख

(३) सन् १६३० मे डाक्टर याकोवी ने एक लेख लिखा था कि, वैशाली,—मूल वैशाली, वाणियागाम और कुण्डगाम—इन तीनो का समूह था। कुण्डगाम में कोल्लाग नामक एक मुहल्ला था।

—भारतीय विद्या (सिंघी-स्मृति-ग्रन्थ), पृष्ठ १८६

(४) इस कोल्लाग-सन्निवेश से सम्बद्ध, परन्तु उससे बाहर, द्विपलाश नाम का एक चैत्य था। साधारण चैत्य की भाँति उसमे एक चैत्य और उसके आसपास उद्यान था। इस कारण से विपाकसूत्र (१, २) मे उसे 'दूइपलास-उज्जाण' रूप मे लिखा गया है। और, यह नायकुल का ही था, इसलिए उसका 'नायसण्डवणे उज्जाणे' अथवा 'नायसण्डे उज्जाणे' इत्यादि रूप मे (कल्पसूत्र ११५ और आचाराङ्ग २, १५, सू० २२) वर्णन किया गया है।

—जैन-साहित्य-सशोधक, खण्ड १, अक ४, पृष्ठ २१६।

(५) महावीर के पिता सिद्धार्थ कुण्डग्राम अथवा वैशाली नगर के कोल्लाग नाम के मोहल्ले मे वसनेवाली 'नाय' जाति के क्षत्रियो के मुख्य सरदार थे।...सिद्धार्थ का कुण्डपुर अथवा कुण्डग्राम के राजा के रूप मे सर्वत्र वर्णन नही किया गया है, अपितु इसके विपरीत सामान्य-रूप मे उन्हे साधारण क्षत्रिय- (सिद्धत्थे खत्तिये) रूप मे वर्णन किया है, जो एक-दो स्थानो पर उन्हे राजा (सिद्धत्थे राया) रूप मे लिखा है, उसे अपवाद ही समझना चाहिए।

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख

(ख) सिद्धार्थ एक वडा राजा नही, अपितु अमीर मात्र था।

—डाक्टर हर्मन याकाबी-लिखित 'जैन सूत्रो नी प्रस्तावना' अनुवादक शाह अम्बालाल चतुरभाई, 'जैन-साहित्य-सशोधक' खण्ड १, अङ्क ४, पृष्ठ ७१।

(६) महावीर की जन्मभूमि कोल्लाग ही थी, और इसी कारण से उन्होंने जब ससार त्यागा तब स्वाभाविक रीति से ही अपनी जन्मभूमि के पास स्थित द्विपलाश नाम के अपने ही कुल के चैत्य में जाकर रहे। (देखो, कल्पसूत्र ११५-११६)

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख।

(७) उन (सिद्धार्थ) की पत्नी का नाम त्रिशला था। उनका भी उल्लेख क्षत्रियाणी के रूप मे किया गया है। जहाँ तक मुझे स्मरण है उन्हे देवी-रूप मे कहीं नही लिखा गया है।

—डाक्टर याकोबी का उपर्युक्त लेख।

(८) (क) सन्निवेश से तात्पर्य मुहल्ले से है।

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख।

(ख) कुण्डग्राम को आचाराङ्ग में एक 'सन्निवेश' रूप मे लिखा गया है, जिसका अर्थ टीकाकारो ने 'यात्री अथवा काफिले (सार्थवाह) का विश्राम-स्थान' किया है।

—डाक्टर याकोबी का लेख।

(९) 'उवासगदसाओ' में सूत्र ७७ और ७८ मे वाणियागाम के प्रकरण में प्रयुक्त 'उच्चनीचमज्झिमकुलाइं'—ऊँच, नीच और मध्यमवर्ग वाला—विशेषण दुल्व (राकहिल-लिखित 'लाइफ आव बुद्ध,' पृष्ठ ६२) मे आये हुए निम्नलिखित वर्णन से मिलता है—"वैशाली के तीन विभाग थे, जिसमे पहले विभाग मे सुवर्ण कलश वाले ७००० घर थे, बीच के विभाग में रजत-कलश वाले १४००० घर थे और अन्तिम विभाग मे ताम्रकलश वाले २१००० घर थे। इन विभागो मे ऊँच, मध्यम और नीच वर्ग के लोग क्रम से रहते थे।

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख।

परन्तु, डा० हारनेल और डा० याकोबी दोनो की ही उपर्युक्त स्थापनाएँ शास्त्रो से मेल नहीं खातीं। शास्त्रो के प्रमाणो को यहाँ उपस्थित करके, हम उपर्युक्त टिप्पणियो की छान-बीन करेंगे।

(१) 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्' मे भगवान् के वैशाली से वाणिज्यग्राम की ओर जाने का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि, दोनो पृथक-पृथक नगर थे।

नाथोऽपि सिद्धार्थपुराद् वैशालीं नगरीं ययौ।
शंख पितृसुहृत्तत्राभ्यानर्च गणराट् प्रभुम्॥ १३८॥

ततः प्रतस्थे भगवान् ग्रामं वाणिजकं प्रति ।
मार्गे गंडकिकां नाम नदीं नावोत्ततार च ॥ १३९ ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, पत्र ४५

—अर्थात् भगवान् वैशाली से वाणियागाम की ओर चले और रास्ते में उन्हे गण्डकी नदी को पार करना पड़ा ।

(२)-(३) ऊपर हमने सप्रमाण यह स्थापना की है कि, वैशाली ब्राह्मण-कुण्ड, क्षत्रियकुण्ड गण्डकी के पूर्वी तट पर थे और कर्मारग्राम, कोल्लाग सन्निवेश, वाणिज्यग्राम और द्विपलाश चैत्य पश्चिमी तट पर ।[१] ये वस्तुत एक ही नगर के भिन्न-भिन्न नाम नही थे । स्थान-स्थान पर भगवान् का एक नगर से दूसरे नगर मे जाने का वर्णन शास्त्रो मे मिलता है । इसके अतिरिक्त जहाँ कही दो नगरो का नाम एकत्र आया भी है, तो उसे वर्तमान प्रयोग की भाँति समझना चाहिए—जैसे हम भाषा मे कह देते हैं—दिल्ली-आगरा, जयपुर-जोधपुर, लाहौर-अमृतसर, वनिया-वसाढ । यहाँ इकट्ठे इस प्रयोग का अभिप्राय उनकी निकटता वताना मात्र होता है ।

(४) डा० हारनेल ने कोल्लागसन्निवेश के निकट एक द्विपलाश चैत्य उद्यान (दूइपलास उज्जाण) वताया है और उस पर नाय-कुल का अधिकार वताया है । डाक्टर साहब की सम्मति में 'नायसण्ड उज्जाण' और 'दूइ-

---

१– 'श्रमण भगवान् महावीर' नामक पुस्तक के पृष्ठ ५ पर स्थिति इस प्रकार वताई गयी है—"वैशाली के पश्चिम परिसर गण्डकी नदी वहती थी । उसके पश्चिम तट पर स्थित ब्राह्मणकुण्डपुर, क्षत्रियकुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, और कोल्लागसन्निवेश जैसे अनेक रमणीय उपनगर और शाखापुर अपनी अतुल समृद्धि से वैशाली की श्रीवृद्धि कर रहे थे । हमारी सम्मत्ति मे यह स्थिति ठीक नही है ।

श्री वलदेव उपाध्याय ने 'धर्म और दर्शन' में पृष्ठ ८५ पर इसी मान्यता को दोहराया है । मेरे विचार में उन्होने भी "श्रमण भगवान् महावीर" के लेखक का ही अनुसरण किया है ।

पलास उज्जाण' एक ही थे । डाक्टर साहव ने जिन ग्रन्थो के प्रमाण दिए हैं, उनके अनुसार 'दूइपलास उज्जाण' तो वाणिज्यग्राम के उत्तर-पूर्व मे था और 'नायसण्ड उज्जाण' (ज्ञातखण्डवन उद्यान) कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) के वाहर था ।

(क) विपाकसूत्र मे लिखा है—

तस्स णं वाणियगामस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए दूईपलासे नामं उज्जाणे होत्था ।

—विवागसुय, पृष्ठ १६

(ख) कल्पसूत्र सुवोधिका-टीका (निर्णयसागर प्रेस) पत्र २८१, में लिखा है—

कुण्डपुरं नगरं मज्भं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव नायसडवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ ।

इन दोनो उद्धरणो से स्पप्ट है कि, 'नायसडवण' और 'दुइपलसाउज्जाण' दोनो भिन्न-भिन्न थे ।

(५) डाक्टर हारनेल और डाक्टर याकोवी दोनो ने ही सिद्धार्थ को राजा न मान कर 'अमीर' अथवा 'सरदार' माना है । उनका विचार है कि, दो-एक स्थानो के अतिरिक्त ग्रथो मे सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द का ही प्रयोग किया गया है । परन्तु, इसके विपरीत जैन-ग्रथो में न केवल सिद्धार्थ को राजा कहा गया है, अपितु उसके अधीनस्थ अन्य कर्मचारियो का भी वर्णन किया गया है—'कल्पसूत्र' में लिखा है—

"तएण से सिद्धत्थे राया तिसलाए खत्तियाणीए . "

इसमे सिद्धार्थ को राजा वतलाया गया है (कल्पसूत्र, सूत्र ५१) आगे चलकर सूत्र ६२ मे लिखा है—

"कप्परुक्खए विव अलंकियविभूसिए नरिंदे, सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेण धरिज्जमाणेण सेयवरचामराहि उद्धुव्वमाणीहिं मंगल-जयसद्दकयालोए अणेगगणनायग - दडनायग - राईसर - तलवर-

माडंबिय-कोडुम्बिय-मंति-महामंति-गणग-दोवारिय-अमच्च-चेड-पीढमद्द-नगर-निगमसिट्ठि-सेणावइ - सत्थवाह - दूअ - सन्धिवाल-सद्धि संपुरिवुडे ..”

इसका अभिप्राय यह है कि, राजा सिद्धार्थ कल्पवृक्ष की भाँति मुकुटवस्त्र आदि से विभूषित 'नरेन्द' थे (प्राचीन साहित्य मे 'नरेन्द्र' शब्द का प्रयोग 'राजाओं' के लिए हुआ है।) उनके नीचे निम्नलिखित पदाधिकारी थे —

१	गणनायक	२	दण्डनायक	३	युवराज	४	तलवर
५	माडम्बिक	६	कौटुम्बिक	७	मत्री	८	महामत्री
९	गणक	१०	दौवारिक	११	अमात्य	१२	चेट
१३.	पीठमर्द्दक	१४	नागर	१५	निगम	१६	श्रेष्ठी
१७.	सेनापति	१८	सार्थवाह	१९	दूत	२०	सन्धिपाल

इन लोगो से राजा सिद्धार्थ परिवृत्त था। आवश्यकचूर्णि मे भी यही वर्णन मिलता है।

यदि डाक्टर याकोबी के मतानुसार सिद्धार्थ केवल 'उमराव' होते, तो उनके लिए 'श्रेष्ठी' शब्द का प्रयोग किया जाता, न कि, 'नरेन्द्र' का।

'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ साधारण 'क्षत्रिय' के अतिरिक्त 'राजा' भी होता है। इसकी पुष्टि टीकाकारो और कोषो से भी होती है। 'अभिधान-चिन्तामणि' मे आता है—

“क्षत्र तु क्षत्रियो राजा राजन्यो बाहुसंभवः।'[1]

सिद्ध है कि 'क्षत्रिय', 'क्षत्र' आदि शब्दो का प्रयोग राजा के लिए भी होता है! 'प्रवचन सारोद्धार' सटीक मे एक स्थान पर आता है— 'महसेणे य खत्तिए'[2] इस पर टीकाकार ने लिखा है—चन्द्रप्रभस्य महासेनः क्षत्रियो राजा”[3]। इससे स्पष्ट है कि, प्राचीन परम्परा में 'राजा' के स्थान

१—अभिधानचिन्तामणि सटीक, पृष्ठ—३४४

२—प्रवचन सारोद्धार सटीक, पत्र ८४

३—वही सटीक, पत्र ८४

पर ग्रन्थकार 'क्षत्रिय' शब्द का भी प्रयोग करते थे। हमारे इस मत की पुष्टि 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इण्डिया' में डाक्टर विमलचरण लाने भी की है —

"पूर्वमीमासा-सूत्र (द्वितीय भाग) की टीका मे शवर स्वामी ने लिखा है—"राजा' तथा 'क्षत्रिय' शब्द समानार्थी हैं। टीकाकार के समय मे भी आन्ध्र के लोग 'क्षत्रिय' के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग करते थे।[१]"

'निरयावलियो' (पृष्ठ २७) के अनुसार वज्जी-गणसङ्घ का अध्यक्ष राजा चेटक था। इसकी सहायता के लिए सङ्घ मे से ६ लिच्छिवी और ६ मल्ल (शासनकार्य चलाने के लिए चुन लिये) जाते थे। ये 'गणराजा' कहलाते थे। इस गणसङ्घ मे—जातको के अनुसार—७७०७ सदस्य थे, जो राजा कहलाते थे। उनमें से प्रत्येक के उपराज, सेनापति, भाण्डगारिक ('स्टोर-कीपर'—सग्रहागारिक) भी थे।

"तत्थ निच्चकालं रज्ज कारेत्वा वसन्तानं येव राजूनं सत्त-सहस्सानि सत्तसतानि सत च राजानो होंति, तत्तका, येव उप-राजानो, तत्तका सेनापतिनो तत्तका भंडागारिका।"

—जातकट्ठकथा, पृष्ठ—३३६ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)

इन्ही ७७०७ राजाओ मे से एक राजा सिद्धार्थ भी थे।

(६) डाक्टर हारनेल का मत है कि, कोल्लागसन्निवेश भगवान् महावीर का जन्मस्थान था। वे कोल्लाग को वैशाली का एक मुहल्ला मानते हैं, इस-लिए वे वैशाली को भगवान् का जन्मस्थान मानते हैं। परतु, ऊपर हम इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि, कोल्लाग और वैशाली दो भिन्न-भिन्न स्थान थे—एक दूसरे के निकट अवश्य थे। भगवान् की जन्मभूमि न तो कोल्लाग थी और न वैशाली थी। ऊपर हम शास्त्रो का प्रमाण देकर यह सिद्ध कर चुके हैं कि, भगवान् की जन्मभूमि 'कुण्डपुर' थी। यही भगवान् ने ३० वर्ष की उम्र तक जीवन विताया था। इस नगर से वाहर स्थित नायसण्डवण मे भगवान् ने दीक्षा ली। यहाँ से थलमार्ग से वे (पुलमार्ग से)

१—'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इंडिया', पृष्ठ ३२२।

कर्मारग्राम पहुँचे। यही रात्रि वितायी। अगले दिन प्रात काल कर्मारग्राम से विहार करके कोल्लागसन्निवेश मे गये।

डाक्टर साहब की भ्राति का कारण सम्भवत यह है कि, कुडपुर में भी ज्ञातृकुल के क्षत्रिय रहते थे। और, कोल्लाग मे भी ज्ञातृकुल के क्षत्रिय रहते थे। इसीलिए उन्होंने दोनो को एक समझ कर इस रूप मे उनका वर्णन कर दिया।

(७) डाक्टर याकोवी का मत है कि, त्रिशला माता को जैनग्रन्थो मे सर्वत्र क्षत्रियाणी-रूप मे लिखा गया है—देवी-रूप मे नही। हम ऊपर यह बता चुके हैं कि, कोशकारो और टीकाकारो ने 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ 'राजा' किया है। उसी के अनुसार 'क्षत्रियाणी' शब्द का अर्थ 'रानी' अथवा 'देवी' भी होगा। सामान्यत भारतीय शब्द-प्रयोग-परम्परा यह है कि, क्षत्रिय-वश से सम्बद्ध होने के कारण ही, नाम के पीछे पुनः-पुन 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग नही किया जाता। परन्तु, यदि क्षत्रिय-वश से सम्बन्धित होने पर जब कोई वीरोचित कार्य करता है अथवा राजकुल से सम्बद्ध होता है, तो कहा जाता है कि, 'क्षत्रिय ही तो है'। उसके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी कह देना चाहता हूँ कि, जैन-ग्रथो में कितने ही स्थलो पर त्रिशला माता का उल्लेख 'देवी'-रूप में हुआ है। 'क्षत्रियकुड' वाले प्रकरण में हमने पूज्यपाद-विरचित 'दशभक्ति' का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमे त्रिशला माता के लिए 'देवी' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह पक्ति इस प्रकार है—

'देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः'

अन्य ग्रथों मे भी माता त्रिशला के लिए 'देवी' शब्द का प्रयोग हुआ है। उनमे से कुछ नीचे दिये जाते हैं —

(क) दधार त्रिशलादेवी मुदिता गर्भमद्भुतम् ॥३३॥
(ख) उपसृत्यागतो देव्याश्चावस्वापनिका ददौ ॥५४॥
(ग) देव्या पार्श्वे च भगवत्प्रतिरूपं निधाय सः ॥५५॥

(घ) उवाच त्रिशलादेवी सदने नस्त्वमागमः ॥ १४१ ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग २

× × ×

(क) तस्स घरे तं साहर तिसलादेवीए कुच्छिसि ॥ ५१ ॥

(ख) सिद्धत्थो य नरिन्दो तिसिलादेवी य रायलोओ य ॥६८॥

नेमिचन्द्र सूरि-रचित महावीरचरियं, पत्र २८, तथा ३३।१

(८) डाक्टर हारनेल ने 'सन्निवेश' का अर्थ 'मुहल्ला' लिखा है और डाक्टर याकोबी ने उसका अर्थ 'पडाव' किया है। यहाँ दोनो ने ही इस शब्द का अर्थ भ्रामक रूप मे दिया है, क्योंकि 'सन्निवेश' शब्द के जहाँ बहुत-से अर्थ हैं, वही एक अर्थ 'ग्राम' भी है।

(क) 'पाइअसद्दमहण्णव' के पृष्ठ १०५४ पर 'सन्निवेश' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं—

(१) नगर के बाहर का प्रदेश (२) गाँव, नगर आदि स्थान (३) यात्री का डेरा (४) ग्राम, नगर आदि (५) रचना, आदि

(ख) भगवती-सूत्र सटीक, प्रथम खण्ड (पृष्ठ ८५) मे 'सन्निवेश' शब्द का अर्थ निम्नलिखित-रूप में किया गया है—

सन्निवेशो घोषादिः एषां द्वन्द्वस्ततस्तेषु, अथवा ग्रामादयो ये सन्निवेशास्ते तथा तेषु।'

(ग) 'निशीथचूर्णि' में सन्निवेश का अर्थ दिया गया है—

"सत्थावासणत्थाणं सण्णिवेसो गामो वा पीडितो सन्निविट्ठो जत्तागतो वा लोगो सन्निविट्ठो सो सण्णिवेसं भण्णति।"

—अभिधानराजेन्द्र, भाग सप्तम (पृष्ठ ३०७)

(घ) [illegible] (स्टोर) जिल्द २, पत्र ३८२–३८५ पर सन्निवेश का अर्थ दिया गया है—

"निवेशो नाम यत्र सार्थ आवासित', आदि ग्रहणेन ग्रामो वा अन्यत्र प्रस्थितः सन् यत्रान्तरावासमधिवसति यात्रीया वा गतो लोको यत्र तिष्ठति, एष सर्वोऽपि निवेश उच्यते।" [१]

---

(१)—'श्री महावीर-कथा' (सम्पादक गोपालदास जीवाभाई पटेल) मे पृष्ठ ७६ से ८५ के बीच डाक्टर हारनेल के आधार पर राजा सिद्धार्थ को सामान्य क्षत्रिय बताते हुये भी, उनके राजत्व को स्वीकार कर लिया है। (देखिए पृष्ठ ७६)। इसी प्रकार विदेह, मिथिला, वैशाली और वाणिज्यग्राम को एक मान लिया है। इसका प्रतिवाद ऊपर कर दिया गया है। पृष्ठ ८१ पर 'कुल' का अर्थ 'घर' किया है, जो ठीक नही है। 'कुल' का अर्थ 'घराना' होगा, 'घर' नही। पृष्ठ २८६ पर आनन्द को ज्ञातृकुल का लिखा गया है, जो कि नितान्त भ्रामक है। आनन्द 'कौटुम्बिक' था, न कि 'ज्ञातृक'। बिना आगे-पीछे का विचार किये लिखने से ऐसी भूलो की आशका पग-पग पर रहती है। उनके हर अनुवाद ऐसी भूलो से भरे पडे हैं।

(६) 'उवासगदसाओ' मे प्रयुक्त

'उच्चनीचमज्झिमकुलाइं'

के आधार पर डाक्टर हारनेल ने वाणिज्यग्राम के तीन विभाग करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार 'दुल्व' मे आये वैशाली के वर्णन के साथ उसका मेल बैठने का प्रयत्न करके, वैशाली और वाणिज्यग्राम को एक बताने की चेष्टा की है। जैन-साधुओ के लिए नियम है कि, साधु कही भी—ग्राम, नगर, सन्निवेश या कर्वट आदि में—भिक्षार्थ जावे, वहाँ बिना वर्ग और वर्ण-विभेद के ऊँच, नीच और मध्यम कुलो मे भिक्षा ग्रहण करे। जिस प्रकरण को डाक्टर साहब ने उद्धृत किया है, वहाँ भी भगवान् ने गौतम स्वामी को भिक्षा के लिए अनुज्ञा देते हुए ऊँच, नीच और मध्यम सभी वर्गों मे भिक्षा-ग्रहण का आदेश दिया है। 'दशवैकालिक सूत्र' हारिभद्रीय टीका, पत्र १६३ मे साधु के लिए निर्देश है—

गोचरः—उत्तमाधम–मध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्
—इसलिए इसे आधार बनाने का प्रयास व्यर्थ है 'अन्तगडदसाओ' मे भी यह कहा गया है कि, भगवान् ने पुलासपुर, द्वारका आदि मे ऊँच, नीच, और मध्यम कुलो मे भिक्षा ग्रहण का आदेश दिया। ऐसा ही वर्णन 'भगवती-सूत्र' आदि अन्य ग्रन्थो मे भी आता है। अत. इनकी तुलना 'दुल्व' मे आये वैशाली के प्रकरण से कैसे की जा सकती है ?

इसी भाँति श्रीमती स्टीवेंसन ने डाक्टर हारनेल की गलतियो को दोहराने के साथ एक और भयङ्कर गलती कर दी है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'हार्ट आव जैनिज्म' (पृष्ठ २१-२२ पर) में भगवान् को 'वैश्य-कुलोत्पन्न' बताया है। उनकी इस स्थापना की पुष्टि किसी भी प्रमाण से नही होती।

श्रीमती स्टीवेंसन का यह सम्पूर्ण ग्रन्थ विद्वान की दृष्टि से नहीं; बल्कि एक 'मिशनरी' की दृष्टि से लिखा गया है। इसके अन्तिम प्रकरण 'एम्पटी हार्ट आव जैनिज्म' (जैन धर्म का हृदय में शून्य है) मे लेखिका का विचार पूर्णत. नग्न-रूप में सम्मुख आ जाता है। जैन-शास्त्रो से अपरिचित व्यक्ति इस ग्रन्थ का उल्लेख करता है, तब तक तो क्षम्य है; पर जब विद्वज्जन इसका उल्लेख करते हैं, तो बड़ा ही अशोभनीय लगता है।

जन्म से गृहस्थ-जीवन तक

देवानन्दा के गर्भ में

भगवान् महावीर ब्राह्मणकुड नामक ग्राम मे कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जालधरगोत्रीया पत्नी देवानन्दा की कुक्षि मे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र को चन्द्रयोग प्राप्त होने पर गर्भ-रूप मे अवतरित हुए। जिस समय भगवान् गर्भ में आये, वे तीन ज्ञान से युक्त थे।

जिस रात्रि को श्रमणभगवान् महावीर जालधरगोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि मे गर्भ में आये, उस रात्रि के चौथे प्रहर में (पश्चिमयाम) जब देवानदा न गहरी निद्रा में थी और न पूरे रूप मे जग रही थी, उसने चौदह महास्वप्न देखे। चौदह स्वप्नो को देख कर देवानन्दा को वडा सतोप हुआ। जगने के वाद, देवानन्दा ने उन स्वप्नो को स्मरण रखने की चेष्टा की और अपने पति ऋषभदत्त के पास गयी। उसने अपने स्वप्नो की वात ऋषभदत्त से कही। स्वप्नो को सुनकर ऋषभदत्त वोला—

"हे देवानुप्रिये! तुमने उदार स्वप्न देखे हैं—कल्याणरूप, शिवरूप, धन्य, मगलमय और शोभायुक्त स्वप्नो को तुमने देखा है। ये स्वप्न आरोग्यदायक, कल्याणकर और मगलकर हैं। तुम्हारे स्वप्नो का विशेष फल इस प्रकार है।

"हे देवानुप्रिये! अर्थ—लक्ष्मी—का लाभ होगा। भोग का, पुत्र का और सुख का लाभ होगा। ९ मास ७॥ दिवस-रात्रि वीतने पर तुम पुत्र को जन्म दोगी।

"यह पुत्र हाथ-पाँव से सुकुमार होगा। वह पाँच इन्द्रियो और शरीर से (हीन नही वरन्) सम्पूर्ण होगा। अच्छे लक्षणो वाला होगा। अच्छे व्यजन वाला होगा। अच्छे गुणो वाला होगा। मान में, वजन मे तथा प्रमाण मे वह पूर्ण होगा। गठीले अगो वाला तथा सर्वांग सुन्दर अगोवाला होगा। चन्द्रमा के समान सौम्य होगा। उसका स्वरूप ऐसा होगा, जो सब को प्रिय लगे।

"जब वह बच्चा बचपन पार करके समझवाला होगा और यौवन को प्राप्त कर लेगा, तो वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, पाँचवाँ इतिहास, छठाँ निघट्टु आदि सर्व शास्त्रो का सागोपाग जानने वाला होगा। वह उनके रहस्यो को समझेगा। जो लोग वेदादि को भूल गये होगे, उनको तुम्हारा पुत्र पुन याद दिलाने वाला होगा। वेद के छ अगो का जानकार होगा। षष्टितत्र-शास्त्र (कापिलीय शास्त्र) का जानकार होगा साख्य-शास्त्र मे, गणित-शास्त्र मे, आचार-ग्रन्थो मे, शिक्षा के उच्चारण-शास्त्र मे, व्याकरण-शास्त्र मे, ज्योतिष-शास्त्र मे, अन्य ब्राह्मण-शास्त्रो मे तथा परिव्राजक-शास्त्रो मे (नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र मे) वह पडित होगा।

अवधि-ज्ञान से जब इन्द्र को भगवान् के अवतरण की बात ज्ञात हुई, तो उसे विचार हुआ कि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, शूद्र, अधम, तुच्छ, अल्प (अल्प कुटुम्ब वाले), निर्धन, कृपण, भिक्षुक या ब्राह्मण-कुल में नही, वरन् राजन्य कुल मे, ज्ञातवश मे, क्षत्रियवश मे, इक्ष्वाकुवश मे और हरिवश मे होते हैं। अत इन्द्र ने हिरणेगमेसी[1] को गर्भपरिवर्तन करने की आज्ञा दी।

१–देखिये पृष्ठ ११२

(२)

गर्भापहार

श्वेताम्बर-ग्रन्थोमे गर्भापहार की जो चर्चा मिलती है, वह आश्चर्यजनक अवश्य लगती है, पर ऐसा नही है कि, श्वेताम्बर-शास्त्र उसके आश्चर्य-रूपसे अपरिचित हो। जैन-शास्त्रो मे १० आश्चर्यो[1] के उल्लेख मिलते हैं। उनमें एक आश्चर्य गर्भापहरण भी है। इस सम्बन्ध मे मत-निर्धारण करने में जो लोग जल्दीबाजी करते हैं, उनकी मूल भूल यह है कि वे 'आश्चर्य' और 'असम्भव' इन दो शब्दो के अन्तर को भली भाँति नही समझ पाते। इन दोनो शब्दो के भावो में बडा अन्तर है। जैन-शास्त्र इसे 'आश्चर्य' कहते हैं, 'असम्भव' नही।

इस गर्भापहरण का उल्लेख न केवल टीकाओ और चूर्णियो मे है वरन् मूल सूत्रो में भी मिलता है।

१—दस अच्छेरगा प० त—उवसग्ग १, गब्भहरण २, इत्थीतित्थ ३, अभाविया परिसा, ४ कण्हस्स अवरकका ५, उत्तरण चदसूराण ॥१॥ हरिवसकुलुप्पत्ती ७ चमरुप्पातो त ८ अट्ठसयसिद्धा ९। अस्सजतेसु पूआ १० दसवि अणतेण कालेण ॥

—स्थानाङ्ग भाग २, सूत्र ७७७ पत्र ५२३-२।

—१ उपसर्ग, २ गर्भापहरण, ३ स्त्रीतीर्थ, ४ अभव्य परिषद-अयोग्य परिषद, ५ कृष्ण का अपरकका गमन, ६ चन्द्र सूर्य का आकाश से उतरना, ७ हरिवशकुल की उत्पत्ति, ८ चमरेन्द्र का उत्पात, ९ १०८ सिद्ध, १० असयत पूजा।

—स्थानाङ्ग समवायाङ्ग, मालवणियाकृत अनुवाद पृष्ठ ८६१

[illegible] आश्चर्यों का उल्लेख [illegible] कल्पसूत्र-सुबोधिका-टीका (व्याख्यान २, पत्र ६४) [illegible] (उत्तर भाग, पत्र ७५६-१) मे भी इसी रूप [illegible]। [illegible] के 'अच्छेर' (आश्चर्य) का [illegible] टीकाकार ने [illegible] "आश्चर्याणि-[illegible] पाश्चर्याणि-अद्भुतानि"

दुर्गा ।
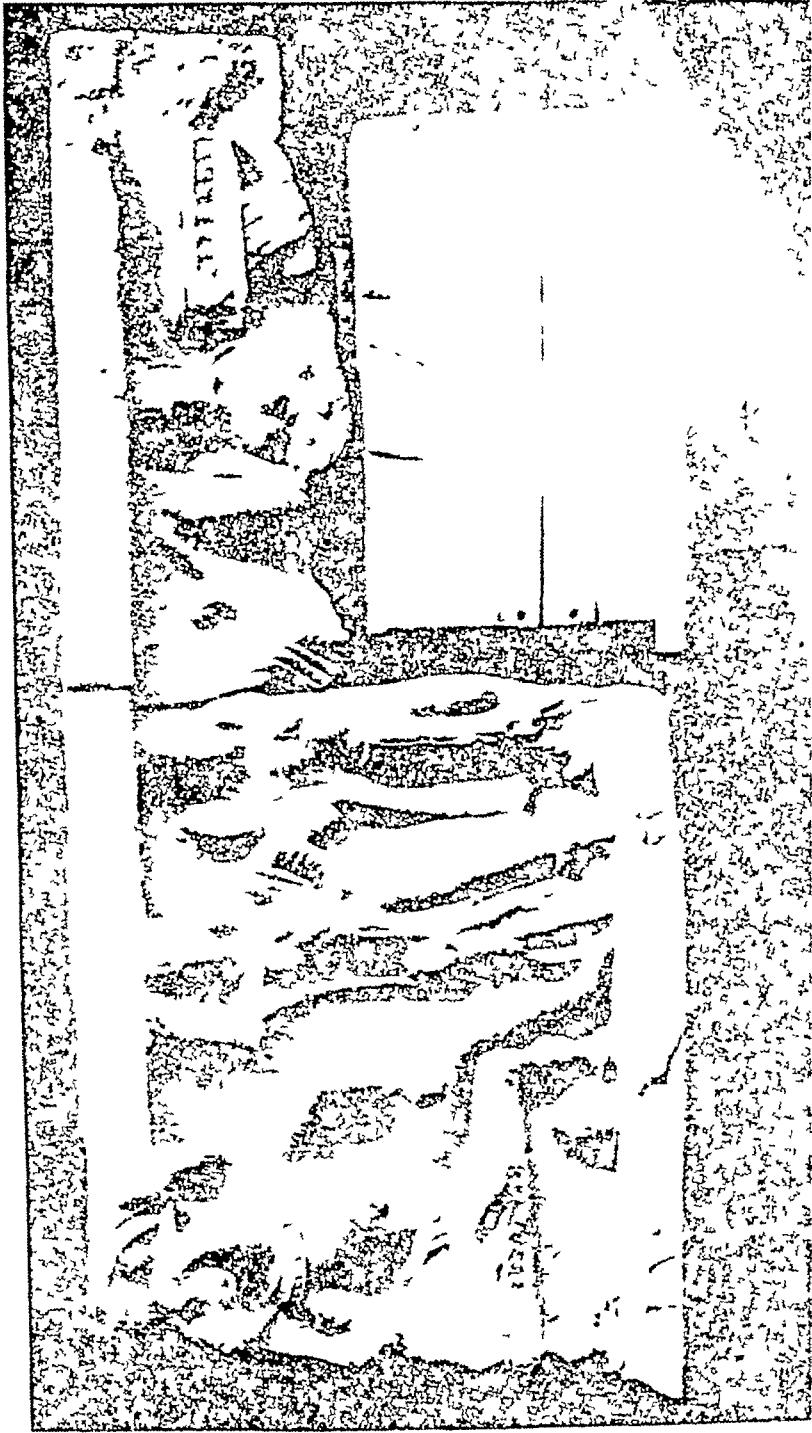
(१) समवायाङ्ग-सूत्र, समवाय ८३ (पत्र ८३-२) मे उल्लेख है—

"समणे भगवं महावीरे बासीइराइंदिएहिं वीइक्कंतेहिं तेयासीइमे राइंदिए वट्टमाणे गब्भाओ गब्भं साहरिए...

अर्थात्—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ८२ रात्रि-दिवस बीतने के बाद ८३-वें रात्रि-दिवस मे एक गर्भ से दूसरे गर्भ मे ले जाये गये।

समवायाग के अतिरिक्त अन्य सूत्रोमे उसका उल्लेख निम्नलिखित रूपमे मिलता है—

(२) समणे भगव महावीरे पच हत्थुत्तरे होत्था-हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भ वक्कंते हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिते हत्थुत्तराहिं जाते हत्थुत्तराहिं मुण्डे भवित्ता जाव.. (सूत्र ४११, भाग २, पत्र ३०७-१)

टीका—'समणे'— त्यादि, हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तो वोत्तरो यासा ता हस्तोत्तरा:—उत्तराः फाल्गुन्य', पञ्चसु च्यवनगर्भहरणादिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा 'गर्भात्' गर्भस्थानात् 'गर्भ' न्ति गर्भे गर्भ-स्थानान्तरे सहृतो-नीत, . "

—स्थानाङ्ग भाग २, स्थान ५, पत्र ३०८–१

—श्रमण भगवान् महावीर की ५ वस्तुए उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हुईं। उसी नक्षत्र मे उनका च्यवन, गर्भापहरण, जन्म, दीक्षा और केवल-ज्ञान हुए।[1]

× + ×

(३) "......जम्बुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे दाहिण माहण कुण्डपुर सन्निवेससि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडाल स गोत्तस्स देवाणदाए माहणीए जालधरायणसगोत्ताए सीहब्भवभूएण अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भ वक्कते, समणे भगव महावीरे तिण्णाण्णोवगए यावि

१— कुछ लोग स्थानाग मे वर्णित भगवान् महावीर के ५ स्थानो को ५ कल्याणक मान लेते हैं। यह सर्वथा भ्रामक है। स्थान का अर्थ कल्याणक नही हो सकता।

होत्था ..तओणं समणे भगव महावीरे हियाणुकंपएणं[1] देवेण जीय-
मेयंतिकट्टु । जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोय बहुले
तस्स ण आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगो-
वगतेणं बासीतीहिं राइदिएहिं वइक्कंतेहिं तेसीतिमस्स राइदियस्स परि-
याए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुण्डपुरसन्निवेसाओ उत्तरखत्तिय कुण्डपुर-
सन्निवेसंसि नायाणं खत्तियाण सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स
तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाण पुग्गलाण अवहार
करेत्ता सुभाण पुग्गलाणं पक्खेव करित्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरइ । जे
वि य तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे तंपिय दाहिणमाहण-
कुण्डपुर संनिवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस देवा-
णंदाए माहणीए जालंधरायणस गुत्ताए कुच्छिंसि गब्भं साहरइ ."

—श्री आचाराङ्ग सूत्र—द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाधिकार पत्र ३८८—१-२

....जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरतक्षेत्र के दक्षिणार्ध भरत मे स्थित ब्राह्मण कुडपुर सन्निवेश मे कोडाल गोत्रीया ऋषभदत्त ब्राह्मणी की (पत्नी) जालन्धर गोत्रीया देवानदा ब्राह्मणी की कुक्षि मे सिंह की तरह भगवान् महावीर अवतीर्ण हुए । उस समय भगवान् तीन ज्ञान से युक्त थे । हितकर कर्म को करने वाले और भक्त (हिरणेगमेसी देव ने) यह विचार कर कि ऐसा मेरा व्यवहार है, भगवान् महावीर को वर्षा के तीसरे महीने मे, पाँचवे पक्ष मे, आश्विन कृष्ण १३ को जब चन्द्रमा उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में था, बयासी रात-दिन व्यतीत होने पर, ८३-वें दिन को दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश मे उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश मे ज्ञात-क्षत्रिय काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ क्षत्रिय की वशिष्ठगोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला के अशुभ पुद्गालो को दूर कर और शुभ पुद्गालो का प्रक्षेप करके कुक्षिमे गर्भ को रखा । और,

---

१—'हियाणुकंपएणं' हित· शक्रस्य आत्मनश्च अनुकम्पको भगवत :

—पवित्र कल्पसूत्र टिप्पनकम्, पृष्ठ ५

हियाणु०क० हित अप्पाण सक्कस्स य, अणुकंपओ तित्थगरस्स

—आचारागचूर्णि, पत्र ३७५ ।

जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे गर्भ था, उसको दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश मे रहे हुए कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा की कुक्षि मे गर्भरूप से रक्खा।

(४) "हरी ण भंते ! हरिणेगमेसी सक्कदूए इत्थीगब्भं सहरमाणे कि गब्भाओ गब्भं साहरइ १, गब्भाओ जाणिं साहरइ २, जोणीओ गब्भं साहरइ ३, जोणीओ जोणिं साहरइ ४। गोयमा ! नो गब्भाओ गब्भं साहरइ, नो गब्भाओ जोणिं साहरइ, नो जोणीओ जोणिं साहरइ, परामुसिय परामुसिय अव्वाबाहेण अव्वाबाहं जोणीओ गब्भ साहरइ॥ पभू ण भंते ! हरिणेगमेसी सक्कस्स ण दूए इत्थीगब्भ नहसिरसि वा रोमकूवसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा १, हंता पभू, नो चेव णं तस्स गब्भस्स किंचिवि आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएज्जा छवि-च्छेद पुण करेज्जा, ए सुहुमं च णं साहरिज्ज वा॥ (सूत्र १८७)

—व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) – शतक ५ उद्देश ४ पत्र, २१८।१

— हे भगवन् ! इन्द्र-सम्बन्धी हरिनैगमेषी शक्रदूत जब स्त्री के गर्भ का सहरण करता है, तब क्या एक गर्भाशय में से गर्भ को लेकर दूसरे गर्भाशय मे रखता है ? गर्भ से लेकर योनि द्वारा दूसरी स्त्री के गर्भ मे रखता है ? योनि से गर्भ को निकाल कर दूसरे गर्भाशय मे रखता है ? या योनि द्वारा गर्भ को निकाल कर फिर उसी तरह (अर्थात् योनि द्वारा ही) उदर मे रखता है ?

हे गौतम ! देव एक गर्भाशय मे से गर्भ को लेकर, दूसरे गर्भाशय मे नही रखता है, गर्भ को लेकर योनि द्वारा भी दूसरी स्त्री के उदर मे नही रखता है। योनि द्वारा गर्भ को लेकर फिर योनि द्वारा उदर मे नही रखता, लेकिन अपने हाथ से गर्भ को स्पर्श कर उस गर्भ को कष्ट न हो उस तरह योनि द्वारा बाहर निकाल कर दूसरे गर्भाशय में रखता है।

हे भगवन् ! शक्र का दूत हरिनैगमेषी-देव स्त्री के गर्भ को नख के अग्र भाग से या रोंगटे के छिद्र से भीतर रखने में समर्थ है ?

हे गौतम ! हाँ, वह वैसा करने मे समर्थ है। अलावा वह देव गर्भ को जरा सी भी पीडा होने नही देता तथा वह गर्भ के शरीर की काटाकूटी करके सूक्ष्म करके अदर रखता है या वाहर निकालता है।

× × ×

(५) " . जेणेव जबुद्दीवे दीवे भारहेवासे जेणेव माहणकुण्डग्गामे नयरे जेणेव उसभदत्तस्स माहणस्स गिहे जेणेव देवाणदा माहणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणामं करेइ, पणामं करित्ता देवाणदाए माहणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलइ, दलित्ता असुभे पुग्गले अवहरइ, अवहरित्ता सुभे पुग्गले पक्खिवइ, पक्खिवित्ता 'अणुजाणउ मे भयव' ति कट्टु समणं भगव महावीरं अव्वाबाह अव्वावाहेण दिव्वेण पहावेणं करयलसपुडेण गिण्हइ, करयलसपुडेणं गिण्हित्ता जेणेव तिसला खत्तिआणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिसलाए खत्तिआणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलइ, दलित्ता असुहे पुग्गले अवहरइ, अवहरित्ता सुहे पुग्गले पक्खिवइ, पक्खिवित्ता समण भगव महावीरं अव्वावाहं अव्वावाहेण दिव्वेण पहावेणं त्तिसलाए खत्तिआणीए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहरइ, जे विअणसे तिसलाए खत्तिआणीए, गब्भे तं पिअ णं देवाणदाए माहणीए जालधर सगुत्ताए कुच्छिसि गब्भताए साहरइ, साहरित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडि गए।

—कल्पसूत्र सुवोधिका टीका— सूत्र - २७ पत्र ६१-६५

अर्थात् (हिरण्यगमेसी) जवूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र मे जहाँ ब्राह्मणकुडग्राम नामक नगर है, जहाँ ऋपभदत्त ब्राह्मण का घर है और जहाँ देवानन्दा ब्राह्मणी है, वहाँ जाता है। जाकर भगवान् को देखते ही प्रणाम करता है। फिर परिवार सहित देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी निद्रा देता है। सारे परिवार को निद्रित करके अशुभ पुद्गलो को हरण कर के शुभ पुद्गलो का प्रक्षेपन करता है। फिर 'हे भगवन्, मुझे आज्ञा दीजिए'

ऐसा कहकर हरिणैगमेषी अपने दिव्य प्रभाव से सुख पूर्वक भगवन्त को दोनो हथेली मे ग्रहण करता है। ग्रहण करते समय गर्भ या माता को जरा-सी भी तकलीफ मालूम नही होती। भगवान् को करसपुट मे धारण कर, वह देव क्षत्रियकुण्डग्राम नगर मे आकर, जहाँ सिद्धार्थ क्षत्रिय का घर है, जहाँ त्रिशला क्षत्रियाणी सोती है, वहाँ जाता है। जाकर सपरिवार त्रिशला क्षत्रियाणी को अस्वापिनी (क्लोरोफार्म) निद्रा देकर, अशुभ पुद्गलो को दूर कर शुभ पुद्गलो का प्रक्षेपन करके भगवान् महावीर को दिव्य प्रभाव से जरा भी तकलीफ न हो इस प्रकार त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूपसे प्रवेश कराता है। और, जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे गर्भ था, उसे देवानदा ब्राह्मणी की कुक्षि मे जाकर रखता है। यह कार्य करके जिस दिशा से आया था, उसी दिशा को चला गया।

\+ \+ \+

(६) माहणकुण्डग्गामे कोडाल सगुत्त माहणो अत्थि।
तस्स घरे उववन्नो देवाणदाइ कुच्छिसि ॥२८७॥
सुमिणमवहार भिग्गह जम्मणमभिसेअवुड्ढीसरण च।
भेसण विवाहवच्चे दाणे सबोह निक्खमणे ॥२८८॥
खत्तिय कुण्डग्गामे सिद्धत्थो नाम खत्तिओ अत्थि।
सिद्धत्थ भारिआए साहर तिसलाइ कुच्छिसि ॥२६५॥
बाढ ति भणिऊण वास रत्तस्स पंचमे पक्खे।
साहरइ पुव्वरत्ते हत्थुत्तर तेरसी दिवसे ॥२९ ॥
दुण्हवरमहिलाण गब्भे वसिऊण गब्भसुकुमालो।
नव मासे पडिपुन्ने सत्तय दिवसे समइरेगे ॥३०३॥

—आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ ८०–८३

मलयगिरि -टीकापूर्वभाग पत्र २५२–२, हरिभद्र-टीका पत्र १७८–१, दीपिका ८८–२

अर्थात्—ब्राह्मणकुण्डग्राम मे कोडाल गोत्र का ब्राह्मण (ऋषभदत्त) है। उसके घर मे देवानन्दा की कुक्षि मे (भगवान्) उत्पन्न हुए है। २८७

१ स्वप्न, २ अपहरण, ३ अभिग्रह, ४ जन्म, ५ अभिषेक, ६ वृद्धि, ७ स्मरण (पूर्व अभिग्रह का स्मरण), ८ भय, ९ विवाह, १० अपत्य, ११ दान, १२ सम्बोधन, १३ निष्क्रमण, (दीक्षा)। २८८ (इस द्वार-गाथा मे भी गर्भापहार का उल्लेख आता है)

अब देवेन्द्र हरिणैगमेषि देव से कहता है, यह भगवान् लोकोत्तम महात्मा ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए हैं।

उनको तुम क्षत्रियकुण्डग्राम मे सिद्धार्थ नामका क्षत्रिय है, उसकी भार्या त्रिशला की कुक्षि मे ले जा कर रखो। २९५।

'ठीक है', ऐसा कहकर वह हरिणैगमेषि देव वर्षाऋतु के पाँचवे पक्ष के (आसो वदी तेरस उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे) तेरहवें दिन पूर्व रात्रि मे गर्भ को ले जाता है। २९६

गर्भ मे सुकुमार (सुखी) वह दो उत्तम महिलाओ के गर्भ में रह कर नव मास और सात दिन से अधिक समय व्यतीत होने पर (¹)। ३०३

महावीर स्वामी के गर्भपरिवर्तन की बात एक और प्रसग मे जैन-आगमो मे आती है। समवायाग-सूत्र के ३२-वें समवाय मे नाटक के बत्तीस भेद बताये गये हैं—"बत्तीसतिविहेणट्टे"। इसकी टीका करते हुए अभयदेव सूरि ने लिखा है—"द्वात्रिंशद्विध द्वितीयोपाङ्ग इति सम्भाव्यते।" (समवायाग सूत्र पत्र ५४)

राजप्रश्नीय की कडिका ८४ (पत्र १४३–१) मे ३२-वें प्रकार के नाटक को बताते हुए लिखा —

१–इन प्रमाणों के साथ कुछ लोग 'अतगडदसाओ' (एन वी. वैद्य-सम्पादित, पृष्ठ ८, अनु १०) का देवकी के पुत्र-परिवर्तन की कथा को भी प्रमाण में दे देते हैं। पर, वह परिवर्तन गर्भ-काल मे नहीं वरन् जन्म लेने के बाद हुआ था। अत गर्भापहार के प्रमाण-स्वरूप उसका उल्लेख करना भ्रामक है।

तए णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स पुव्वभवचरियणिवद्ध च देवलोयचरियणिबद्धं चवणचरियणिबद्ध च संहरणचरियणिबद्धं च जम्मणचरियनिबद्धं च अभिसेअचरियणिवद्धं च बालभावचरियणिबद्धं च जोव्वणचरियनिबद्धं च कामभोगचरियनिबद्धं च निक्खमणचरियनिबद्ध च तवचरणचरियनिबद्धं च णाणुप्पायचरियनिवद्धं च तित्थ पवत्तण चरिए-परिनिव्वाण चरिय निबद्धं च चरिमचरियनिबद्धं च णाम दिव्वं णट्टविहिं उवदसेंति—

इसकी टीका करते हुए लिखा है —

"तदनन्तरम् च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य १ चरमपूर्वमनुष्य भव (२ देवलोक चरित्र निबद्ध) २ चरमच्यवन ३ चरमगर्भसहरण ४ चरम भरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थंकर जन्म ५ अभिषेक ६ चरम बालभाव ७ चरम यौवन ८ चरम कामभोग ९ चरम निष्क्रमण १० चरम तपश्चरण ११ चरम ज्ञानोत्पाद १२ चरम तीर्थ-प्रवर्त्तन १३ चरमपरिनिर्वाण निवद्धं १४ चरमनिबद्ध नाम द्वात्रिंशत्तमं दिव्यं नाट्यविधिम् उपदर्शयन्ति।

३२-वें नाटक मे भगवान् महावीर का ही जीवनचरित्र दर्शाया गया। उसमे (१) भगवान् महावीर के २५-वें भव मे छत्रा नगरी में नन्दन नामक राजा की कथा (२) दसवे देवलोक गमन की कथा (३) च्यवन (४) गर्भसंहरण (५) भरतक्षेत्र में चरम तीर्थंकर रूप मे जन्म (६) जन्माभिषेक (७) बालभाव-चरित्र (८) यौवन-चरित्र (९) कामभोग-चरित्र (१०) निष्क्रमण-चरित्र (११) तपस्या (१२) केवल-ज्ञान की प्राप्ति (१३) तीर्थ-प्रवर्तन (१४) परिनिर्वाण वातें दर्शायी गयी।

नाटकके इन ३२ प्रकारो के उल्लेख अन्य जैन आगमो मे भी आते हैं। भगवती सूत्र मे 'बत्तीसइविह नट्टविहिं' आया है। उनकी टीका करते हुए अभयदेव सूरी ने लिखा है

'द्वात्रिंशद्विधम् नाट्यविधि—नाट्यविषयवस्तुनो द्वात्रिंशद्विधत्वात्, तच्च यथा राजप्रश्नीयाऽध्ययने तथाऽवसेयम्' इति

शतक ३, उद्देश १, प० वेचरदास-सम्पादित, भाग २, पृष्ठ ४१)

राजप्रश्नीय उपाग के इस वर्णन को ज्ञाताधर्मकथा की भी पुष्टि प्राप्त है। उसके १६-वें अध्ययन में 'जिन-प्रतिमा-वदन' के प्रकरण में आता है एव "जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ ."

—ज्ञाताधर्मकथाङ्गम् सटीक, द्वितीय विभाग, पत्र २१७-२

पुरातत्त्व में गर्भपरिवर्तन

गर्भ-परिवर्तन की यह मान्यता कुछ आज की नही लगभग २००० वर्ष पुरानी है। 'आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इडिया' (न्यू इम्पीरियल सीरीज) वाल्यूम २० मे 'मथुरा एटीक्विटीज' के अन्तर्गत 'द' जैन स्तूप ऐंड अदर एटीक्विटीज आव मथुरा' नाम मे 'रिपोर्ट' प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं—वी० ए० स्मिथ (१६०१ ई०)। उसमे प्लेट नम्बर १८ पर "भगवा नेमेसो" लिखा है। उस प्लेट के सम्बन्ध में डॉक्टर वूल्हर ने लिखा है कि इसमें कल्पसूत्र के गर्भपरिवर्तन का चित्रण है। ('एपीग्राफिका-इडिका' खड २, पृष्ठ ३१४, प्लेट २)। उस 'प्लेट' के सम्बन्ध मे पुरातत्वविदो का अनुमान है कि यह ईस्वी सन् के प्रारम्भ का अथवा उससे भी प्राचीन शिल्प है। (द' जैन स्तूप एण्ड अदर एटीक्विटीज आव मथुरा, पृष्ठ २५)

हरिणेगमेसी

'एपिग्राफिका इडिका', खण्ड २, पृष्ठ ३१४ मे डाक्टर वूलर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जैनशास्त्रो मे वर्णित हरिणेगमेसी वस्तुत वही देवता है, जो वैदिक-साहित्य मे 'नैगमेष' अथवा 'नेजमेष' नाम से उल्लिखित है। 'नैगमेष' अथवा 'नेजमेष' का प्रयोग वैदिक ग्रन्थो में कहाँ-कहाँ हुआ है, इसका विस्तृत विवरण पीटर्सबर्ग-डिक्शनरी (संस्कृत) में दिया गया है।

मोनियर-मोनियर विलियम्स संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी (पृष्ठ ५७०) मे 'नैगमेष' शब्द का अर्थ लिखा है 'एक देव जिसका सर भेड़ा का है' (और

'ब्राइकट' में लिखा है कि जिसके सम्बंध में माना जाता है कि वह बच्चो को पकड़ता है तथा क्षति पहुँचाता है। उसी स्थान पर यह अकित है कि यह रूप अथर्ववेद मे मिलता है। उसी ग्रन्थ के पृष्ठ ५६८ पर 'नेजमेष' शब्द आया है और उसका अर्थ दिया गया है 'एक देव जो बच्चो से शत्रुता रखता है।' यहाँ संदर्भ रूप मे गृह्यसूत्र दिया गया है।

ऋग्वेद के खिलसूत्र मे तथा महाभारत (आदिपर्व, अध्याय ४५०, श्लोक ३७ पृष्ठ ८७ तथा शल्य पर्व, अध्याय ६७, श्लोक २४, पृष्ठ ११९) मे भी 'नैगमेष' शब्द आया है।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त सुश्रुत, अष्टागहृदय आदि चिकित्सा-ग्रन्थो मे भी उसका नाम मिलता है।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य मे भी उसका नाम मिलता है और उसे यक्ष बताया गया है ('बुद्धिस्ट हाइब्रिड सस्कृत ग्रामर ऐंड डिक्शनरी', खड २, पृष्ठ ३१२)

वैजयन्ती-कोष (१८९३ मे प्रकाशित) के पृष्ठ ७ पर 'नैगमेष' शब्द आया है। शब्द-रत्न-महोदधि भाग २, पृष्ठ १२४६ पर 'नैगमेष' शब्द आया है और बृहत् हिन्दी-कोष (स० २००९) पृष्ठ ७१२ पर नैजमेष और नैगमेय' दोनो शब्द मिलते हैं।

जैन-साहित्य मे उसे हरिणेगमेसी क्यो कहते हैं, इसका कारण बताते हुए कहा गया है—

"हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी"

अथवा "हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी नामा देवः यो देवानन्दायाः।

कुक्षेर्वीरजिनमपहृत्य त्रिशालागर्भे प्रावेशयत् (आ० म०)

—अभिधान राजेन्द्र, खंड ७, पृष्ठ ११८७

कल्पसूत्र की टिप्पन (पृथ्वीचद्र सूरि प्रणीत) में लिखा है—

'हरिः' इन्द्र स्तत्सम्बन्धित्वाद् हरिः, नैगमेषी नाम 'सक्कदूए' शक्रदूतः

शक्रादेशकारीपदात्यनीकाधिपतिः येन शक्रादेशाद्भगवान् महावीरो देवानन्दागर्भात् त्रिशलागर्भेसिंहृत इति।"

—पवित्रकल्पसूत्र टिप्पनखण्ड, पृष्ठ ५

इसी तरह की टीका कल्पसूत्र की सन्देह विपौषधि टीका (पत्र ३१) में दी हुई है —

"हरिणैगमेसिंति" हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी आदेशप्रतीच्छक इति व्युत्पत्त्याऽन्वर्थनामानं हरिणैगमेषिं नाम पदात्यनीकाधिपतिं देवं सद्दावे इति, आकारयति हरेरिन्द्रस्य संबंधी नैगमेषिनामा देव इति केचित।

अतःस्पष्ट है कि जैन-ग्रन्थो में भी उसका मूलनाम नैगमेषी ही है और हरि—इन्द्र—का आदेश-पालक होने से उसे हरिणैगमेसी कहते हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि सस्कृत का 'न' प्राकृत में 'ण' हो जाता है। अतः उसका नाम सस्कृत नैगमेषी और प्राकृत में णैगमेषी है। आवश्यक की मलयगिरि की टीका (पूर्वभाग, पत्र २५५—१) में 'णेगमेसी' शब्द आया है। और, 'सस्कृत' में 'नैगमेषी' शब्द लोकप्रकाश (द्वितीय विभाग, पत्र ३३५—१), त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग २, श्लोक २६ (पत्र १२—१), पद्मानदमहाकाव्य के श्रीमहावीरजिनेन्द्र के चरित्र—प्रकरण (पृष्ठ ५८०) भावदेवसूरि—कृत पार्श्वनाथचरित्रम् सर्ग ५, श्लोक ८०, (पत्र २३०—२) आदि ग्रन्थो में मिलता है। कोषो में भी हरिणैगमेसी शब्द का सस्कृतरूप 'हरिनैगमेसी लिखा है (पाइसदमहण्णावो, पृष्ठ ११८६)

'हरिणैगमेसी' शब्द के 'हरिण' शब्द से सगत बैठाकर उसे हरिण के मुखवाला कहना सर्वथा भ्रामक है।[1] जैकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स आवद' ईस्ट' खण्ड २२ में कल्पसूत्र के अनुवाद मे (पृष्ठ २२७) पादटिप्पणि में ठीक लिखा है कि चित्रों मे हरिणैगमेसी का मुख हरिण बना देना वस्तुतः हरिणैगमेसी शब्द के अशुद्ध विग्रह का फल है।

१—बैरोनेट ने अतागडदसाओ के अनुवाद (पृष्ठ ६७) और एन० वी० वैद्यने अतगडसाओ मे 'नोट्स' के—पृष्ठ १६ पर यही भूल की है और हरिणैगनेमी को हरिण के मुखवाला लिखा है।

जे० स्टिवेंसन ने तो 'हरिण' शब्द से और भी भ्रामक रूप लिया है। उन्होने अपने कल्पसूत्र के अग्रेजी अनुवाद (पृष्ठ ३८) में लिखा है—

"हरिण से भी तेज दौडने के कारण उसे हरिणेगमेसी कहते हैं' जे० स्टिवेंसन का यह मत न तो जैन-साहित्य से समर्थित है और अन्य धर्मों के साहित्य से।

इसी भ्रम को दूर करने के लिए कल्पसूत्र के बगला अनुवादक श्री वसत-कुमार चट्टोपाध्याय ने (पृष्ठ १९) हरि और नैगमेषी के बीच मे 'हाइफन' लगा कर विलग कर दिया है।

जैन-ग्रथो मे स्थानाग सूत्र सटीक (सूत्र ५८२)[1] में लिखा है—

सक्कस्स ण देविदस्स देवरन्नो सत्त अणिया सत्त अणियाहिवती प त०—पायत्ताणिए जाव [पीढाणिए ३ कुजराणिए ४ महिसाणिए ५ रहाणिए ६ नट्टाणिए] गधव्वाणिए, हरिणेगमेसी पायत्ताणीयाधिपती जावमाढरे रथाणिताधिपति

—इन्द्र की सात सेनाए हैं—१ पैदल, २ अश्व, ३ गज, ४ वृषभ अथवा महिष[2] ५ रथ, ६ नट्ट, ७ गधर्व

१– स्थानाङ्ग उत्तरार्द्ध पत्र ४०६—१

२– गधव्व नट्ट हय गय रह भड अणियाणि सव्वइदाण।
नेमाणियाम वसहा, महिसा य अहो निवासीण॥

वृहत्सगहणीसूत्र, प्रासगिक प्रकीर्णक अधिकार
गाथा ४६, पृष्ठ १२१

इसका स्पष्टीकरण करते हुए वृहत्सग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि गन्धर्व नट, अश्व, गज, रथ, भट ये सेनाए सभी इन्द्रो की होती हैं। इनके अतिरिक्त वैमानिको के पास वृषभ-सेना और अधोलोक वासियो के पास महिष-सेना होती है।

और उनके सेनापति हैं —हरिनैगमेषी २ वायु ३ ऐरावण ४ दमर्द्धि ५ माठर ६ श्वेत और ७ तुवरु।

इन्द्र की पदाति सेना के ७ कक्ष हैं और एक कक्ष मे ८४,००० देव हैं। शेष उत्तरोत्तर दूना करते जाना चाहिए।

लोक प्रकाश (सर्ग २६, पत्र ३३४-२, ३३५-१) मे हरिनैगमेषी का कार्य वताते हुए लिखा गया है —

सप्तानामप्यथैतेषा, सैन्याना सप्त नायका ।
सदा सन्निहिता शक्र विनयात् पर्युपासते ॥ ८० ॥
ते चैव नमतो वायु रैरावणश्च माठर । ३ ।
स्याद्दमर्द्धि र्हरिनैगमेषी श्वेत श्च तुम्वरु ॥ ८१ ॥
पादात्येशस्तत्र हरिनैगमेषीति विश्रुत ।
शक्रदूतोऽति चतुरो, नियुक्त सर्व कर्मसु ॥ ८४ ॥
योऽसौ कार्यविशेषेण देवराजानुशासनात् ।
कृत्वा मङ्क्षु त्वचश्च्छेद रोमरन्ध्रैर्नखाकुरै ॥ ८५ ॥
सहर्त्तुमीष्टे स्त्रीगर्भं, न च तासा मनागपि ।
पीडा भवेन्न गर्भस्याप्यसुख किंचिदुद्भवेत् ॥ ८६ ॥
तत्र गर्भाशयाद्गर्भाशये योनौ च योनित ।
योनेर्गर्भाशये गर्भाशयाद्योनाविति क्रमात् ॥ ८७ ॥
आकर्षणामोचनाभ्या चतुर्भङ्ग्यत्र सभवेत् ।
तृतीयेनैव भङ्गेन गर्भं हरति नापरै ॥ ८८ ॥

(इन्द्र की) इन सात सेनाओ के सात नायक होते हैं, जो सर्वदा उनके पास ही रहते हैं और विनय पूर्वक उनकी उपासना करते हैं। उनके नाम हैं— १ वायु २ ऐरावण ३ माठर ४ दमर्द्धि, ५ हरिनैगमेषी, ६ श्वेत और ७ तुम्वरु। उनमे पैदल सेनाओ का सेनापति हरिनैगमेषी नाम से प्रसिद्ध है। वह इन्द्र का अत्यन्त चतुर दूत सभी कार्यो में नियुक्त किया जाता है जो कार्य विशेष से, इन्द्र की आज्ञा से रोम के छेदो से और नख के अकुरो से शीघ्र त्वचा छेद करके स्त्री-गर्भ का हरण करने में समर्थ होता है। न तो

स्त्रियो को ही किसी प्रकार की पीडा होती है और न गर्भ को ही किसी प्रकार का क्लेश उत्पन्न होता है। इनमें चार प्रकार होते हैं—(१) गर्भाशय से गर्भाशय मे आकर्षण और आमोचन (२) योनि से योनि मे आकर्षण और आमोचन (३) योनि से गर्भाशय मे आकर्षण और आमोचन (४) गर्भाशय से योनि में आकर्षण और आमोचन। इनमें तीसरे प्रकार से ही वह गर्भ का हरण करता है, अन्य से नही।

आगे विवरण में कहा गया है—

यदेन्द्रो जिनजन्माद्युत्सवेषु गन्तुमिच्छति ।
तदा वादयते घंटां, सुघोषां नैंगमेषिणा ॥ (९४)

—जब इन्द्र जिनेश्वर के जन्मादि उत्सवो मे जाना चाहते हैं, तो उस समय इन्द्र नैंगमेषी से सुघोषी नाम का घटा बजवाते हैं।

कल्पसूत्र (सूत्र २०) मे भी 'हरिणेगमेसिं पाइत्ताणी आहिवइं' (हरि-नैंगमेषिनामक पदातिकटकाधिपतिं) हरिणैगमेसी को पैदल सेना का सेनापति लिखा गया है।

'जम्बूद्वीप प्रज्ञाप्ति' में हरिनेगमेषी के उल्लेख मे आया है—

हरिणैगमेसिं पायत्ताणीयाहिवइं देवं सद्दावेन्ति २त्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअं गभीरमहुरयरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुघोसं सूसर घंट तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे...

(वक्षस्कार ५, सूत्र ११५ पत्र ३९६-१)

इसकी टीका करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

'तएणं से हरिणेगमेसी' इत्यादि, तत स हरिणेगमेषी देव पदात्यनीकाधिपति शक्रेण देवेन्द्रेण देवराज्ञा एवमुक्तः सन् हृष्ट इत्यादि यावदेवं देव इति आज्ञया विनयेन वचन प्रतिशृणोति प्रतिश्रुत्य च शक्रान्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैव सभायां सुधर्मायां मेघौघरसितगम्भीर मधुरतरशब्दा योजनपरिमंडला सुघोषा घण्टां तत्रैवो-

पागच्छति उपागत्य च ता मेघौघरसितगम्भीर मधुरतरशब्दा योजन-परिमडलां सुघोषां घंटां त्रिःकृत्व उल्लालयतीति—" (पत्र २६७-२)

डाक्टर उमाकान्त ने 'जर्नल आव इडियन सोसायटी आव ओरियटल-आर्ट', वाल्यूम १९, १९५२-५३ मे 'हरिनैगमेसी' पर एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने बहुत-सी भ्रामक बातें लिखी हैं —

(१) पृष्ठ २२ पर उन्होंने लिखा हैं — "चित्रो मे उसे बकरी के सिर वाला दिखलाया गया है।" और, उसके नोट मे नोट मे पता दिया है (अ) ब्राउन-लिखित 'मीनिएचर पेन्टिग्स आव द कल्पसूत्र' चित्र १५ (आ) मुनिराज पुण्य विजय-सम्पादित पवित्र कल्पसूत्र' चित्र २२७ (इ) जैनचित्र-कल्पद्रुप चित्र १७६-१८७ (२) पृष्ठ १५ पर ब्राउन ने हरिनैगमेसि, का मुख घोडे का अथवा हिरन का लिखा है। बकरी का मुख उमाकान्त ने अपने मन से चित्र देख कर कल्पना की है। पवित्र कल्पसूत्र में चित्र २२७ और उसके परिचय मे कहीं भी बकरी का उल्लेख नही है।

पृष्ठ २६ उसे हरिण के सिर वाला बताया गया है। पर, इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नही मिलता।

डाक्टर उमाकान्त ने गर्भ-परिवर्तन की मूल कथा पर ही शंका प्रकट की है और उसे बाद का जोडा हुआ माना है। पर, हम इस सबन्ध मे समस्त प्रमाण पहले दे आये हैं। उनकी आवृत्ति यहाँ नही करना चाहते। शाह ने स्थापना को बाद का सिद्ध करने के लिए मनमानी तिथियाँ भी निश्चित की हैं, जो किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हैं। उदाहरण के लिए आपने कल्पसूत्र को ५-वीं शताब्दी का लिखा है! कल्पसूत्र और उसके रचयिता भद्रबाहु-स्वामी के सम्बन्ध मे स्वयं कुछ न कहकर, मैं डाक्टर याकोबी का मत यहाँ दे देना चाहता हूँ —

"हेमचन्द्र से लेकर आधुनिक जैन-पंडित तक भद्रबाहु का निर्वाण महावीर स्वामी के निर्वाण के १७० वर्ष बाद मानते हैं।

(कल्पसूत्र, भूमिका पृष्ठ १३)

वैदिक-ग्रन्थो में हरिणैगमेसी को कुछ स्थानो पर पुत्रदाता भी लिखा गया है। गृह्यसूत्र के एक मत्र में आता है—

"हे नेगमेष ! उड जाओ और फिर उड कर यहाँ आओ और मेरी पत्नी के लिए एक सुन्दर पुत्र लाओ। मेरी पत्नी को पुत्र की कामना है। उसे गर्भ दो और गर्भ में पुत्र रहे !"

बाद के हिंदू-ग्रथो मे और वैद्यक ग्रथो मे उसे गर्भहर्ता के रूप मे चित्रित किया गया गया है। पर जैन-साहित्य में उसका रूप सर्वत्र पुत्रदाता ही है। 'अन्तगडदसाओ' मे कथा आती है कृष्ण ने भाई प्राप्त करने के लिए हरिनेगमेसी की उपासना की। देव के सम्मुख आने पर कृष्ण ने कहा—

"इच्छामि णं देवाणुप्पिया सहोयरं कणीयसं भाउयं विइण्णं।"

(कृष्ण ने कहा—"हे देवानुप्रिय ! मैं चाहता हूँ कि मेरी माता की कुक्षि मुझे छोटा भाई हो।" इस पर हरिनेगमेसी ने उत्तर दिया—"हे देवानुप्रिय ! तुम्हारी माता की कुक्षि से तुम्हे छोटा भाई होगा। वह देवलोक से च्यव करके आयेगा।

(अतगडदसाओ, एन० वी० वैद्य, सम्पादित, पृष्ठ ११)

हिन्दू-ग्रन्थ में गर्भपरिवर्तन

गर्भपरिवर्तन की ऐसी कथा हिन्दू-ग्रन्थो मे भी मिलती है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय मे उल्लेख आता है कि कस वसुदेव की सतानें मार डालता था। विश्वात्मा भगवान् ने अपनी योगमाया को आदेश दिया—

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले॥
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि॥७॥
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय॥८॥

—हे देवि ! हे कल्याणी ! तुम व्रज मे जाओ । वह प्रदेश ग्वालों और गौओंसे सुशोभित है । वहाँ नन्द बाबा के गोकुल मे वसुदेव की पत्नी रोहिणी निवास करती है । उनकी और भी पत्नियाँ कस के डरसे गुप्त स्थानो में रह रही है ॥१॥ इस समय मेरा वह अश जिसे शेष कहते हैं, देवकी के उदर मे गर्भरूप से स्थित है । उसे वहाँ से निकाल कर तुम रोहिणी के पेट में रख दो ।"८

भगवान् के इस प्रकार कहने पर योगमाया 'जो आज्ञा' कह पृथ्वीलोक में चली गयी और भगवान् ने जैसा कहा था, वैसे ही किया

गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशु ॥ १५ ॥

—जब योगमायाने देवकी का गर्भ ले जाकर रोहिणी के उदर में रख दिया, तब पुरवासी बडे दु ख के साथ आपस मे कहने लगे—'हाय ! बेचारी देवकी का यह गर्भ तो नष्ट ही हो गया ।"

—श्रीमद्‌भागवत, दूसरा भाग, स्कंध १०, पृष्ठ १२२-१२३

गर्भ-परिवर्तन वैज्ञानिक दृष्टि से

भारतीय परम्परा में वर्णित गर्भापहरण-सरीखी कितनी ही बातें अब तक लोग अविश्वस्त समझते रहे हैं; पर विज्ञान ने उनमे से बहुत-कुछ प्रत्यक्ष कर दिखाया ।

(१) 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी' द्वारा प्रकाशित 'जीवन-विज्ञान' (पृष्ठ ४३), मे एक वर्णन इस प्रकरण प्रकाशित हुआ है ।

एक अमरीकन डाक्टर को एक भाटिया-स्त्री के पेट का आपरेशन करना था । वह गर्भवती थी । अत डाक्टर ने गर्भिणी बकरी का पेट चीर कर उसके पेट का बच्चा बिजली की शक्ति से युक्त एक डब्बे में रखा और उस औरत के पेट का बच्चा निकाल कर बकरी के गर्भ मे डाल दिया । औरत का आपरेशन कर चुकने के बाद, डाक्टर ने पुन. औरत का बच्चा औरत के

पेट में रख दिया और बकरी का बच्चा बकरी के पेट मे रख दिया। कालान्तर मे बकरी और स्त्री ने जिन बच्चो को जन्म दिया, वे स्वस्थ और स्वाभाविक रहे।

(२) आज के आश्चर्यों मे यही एक आश्चर्य नही है। 'नवभारत टाइम्स' (५ तथा ७ नवम्बर १९५९) में मास्को का एक समाचार प्रकाशित हुआ है कि डा० ब्लादीमीर देमिखोव ने एक कुत्ते मे एक अतिरिक्त हृदय लगा दिया। और, वह दो हृदयो वाला कुत्ता जीवित ही रहा। इसी प्रकार उन्होंने एक कुत्ते में एक अतिरिक्त सिर लगा कर उस दो सिर वाले कुत्ते को भी जीवित रखा। उक्त डाक्टर का कथन है कि आज से ५० वर्ष वाद अययवो का प्रतिस्थापन उपचार की सब से लोकप्रिय और सुरक्षित प्रणाली होगी। अधेड उम्र के :आदमी का हृदय, फेफडा, गुर्दा अथवा जिस अवयव की आवश्यकता होगी, वदल दिया जा सकेगा। और, तव मनुष्य १५० से २०० वर्षों तक स्वस्थ रूप मे जीवित रह सकेगा।

(३) इसी प्रकार का एक विवरण ओमप्रकाश ने 'नवनीत' (जुलाई १९५४, पृष्ठ ४१) में अपने लेख 'नारी नही अव वोतलें वच्चो को जन्म देंगी' में लिखा है—

"कोलम्बिया-विश्वविद्यालय के एक गवेषक डॉक्टर लैड्रम शैटील्स ने कृत्रिम रूप से शुक्र और रजकणो का सयोग कराया है और कृत्रिम डिम्ब-कोषो में कृत्रिम गर्भ को पैदा करके उसके ५० घण्टे तक विना गर्भाशय के जिन्दा रखा है।

(४) आज विज्ञान हमारे सम्मुख जो आश्चर्य प्रत्यक्ष कर रहा है, उसे देखकर भी जो लोग विज्ञान की ही दुहाई देकर गर्भपरिवर्तन-जैसी वात को असम्भव मानते हैं, उनको क्या कहा जाये। यह वस्तुत उनकी [illegible] है। आदमी किसी चीज को न देखे और तव असम्भव माने तो ठीक है, पर इस युग मे कितनी कल्पना से भी परे वस्तु को लोग से देखकर भी [illegible]-

—परिवर्तन को 'असम्भव' कहना ऐसे विचारवालो की भूल है।

कुछ आश्चर्य

ऐसे आश्चर्यों की कहानी कुछ कम नही है। 'तुजक-जहाँगीरी' में एक बैल का उल्लेख है, जो दूध देता था। उसी प्रकार का एक विवरण दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान' (७-१०-५९) में निकला है कि झाँसी में एक बछिया बिला-ब्याए दूध देती है।

महावग्ग (पृष्ठ ९२) मे 'उभतोव्यजनक' शब्द का उल्लेख आया है—जिसका अर्थ है, पुरुष और स्त्री दोनो लिगो वाला व्यक्ति ! इन सबको आश्चर्य नही तो क्या कहे !

(३)

स्वप्न-दर्शन

देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि मे बयासी अहोरात्र रहने के बाद जब हरिणेगमेषि देव ने तिरासीवें दिन की मध्यरात्रि मे (आसो वदि तेरस की मध्य-रात्री को) भगवान् महावीर को त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे स्थापन किया, उसके बाद पश्चिम याम मे त्रिशला क्षत्रियाणी ने चौदह महास्वप्न देखे। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

१, सिंह, २ हाथी, ३ वृषभ, ४ श्री देवी (लक्ष्मी देवी), ५ पुष्पों की दो माला, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ ध्वजा, ९ कलश; १० पद्म-सरोवर, ११ क्षीर-समुद्र, १२ देव-विमान, १३ रत्नों की राशि और १४ निर्धूम अग्नि।

इन चौदह उत्तम स्वप्नो को देखकर वह जाग्रत हुई और राजा सिद्धार्थ के पास जाकर उन्होंने स्वप्नो की बात कही। राजा इससे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा "हे देवानुप्रिये ! तुमने बडे उदार एवं कल्याणकारी

स्वप्न, देखे हैं। इससे अर्थ की प्राप्ति, भोग की प्राप्ति, पुत्र की प्राप्ति, सुख की प्राप्ति और यावत् राज्य की प्राप्ति होगी।"

महाराज सिद्धार्थ ने सक्षेप मे स्वप्नो का फल कहा।

महाराज द्वारा अपने स्वप्नो का फल सुनकर, रानी त्रिशला बडी सतुष्ट हुई। इस प्रकार सिव्दार्थ के वचन को हृदय मे स्मरण रखती हुई, महारानी त्रिशला वहाँ से उठकर अपने शयनागार मे गयी। और, मगलकारी चौदह महास्वप्न निष्फल न हो, इस विचार से वह शेष रात जगती रही।

प्रात काल राजा सिद्धार्थ शैय्या-त्यागने के पश्चात् प्रात -कृत्यो से मुक्त हो जहाँ अट्टनशाला (व्यायामशाला[1]) थी, वहाँ गये। और नाना प्रकार के परिश्रम किये। (१) योग्य[2]—शस्त्रो का अभ्यास (२) वलगन-कूदना (३) व्यामर्दन-एक-दूसरे की भुजा आदि अगो को मरोडना, (४) मल्लयुद्ध—कुश्ती करना और (५) करण[3]—पद्मासन आदि विविध आसन। इन व्यायामो को करने से वे जब परिश्रान्त हो गये और उनके सब अग अत्यन्त थक गये, तब थकान को दूर करने के लिये विविध ओषधो से युक्त करके सौ वार पकाये गए अथवा जिसको पकाने मे सौ सुवर्ण-मोहरें लगें, ऐसे शतपाक-तेल से और जो हजार वार पकाया गया हो या जिसको पकाने मे हजार स्वर्ण-मोहरें लगी हो, ऐसे सहस्रपाक-तेल आदि सुगधित तेलो से मर्दन (मालिश) कराने लगे। मर्दन अत्यन्त गुणकारी, रस, रुधिर और धातुओ की वृद्धि करनेवाला, क्षुधाग्नि को दीप्त करनेवाला, बल, मास और उन्माद को बढानेवाला, कामोद्दीपक, पुष्टिकारक और सब इन्द्रियो को सुखदायक था। अगमर्दन करने वाले भी सपूर्ण अगुलियो सहित सुकुमार हाथ-पैर वाले, मर्दन करने मे प्रवीण और अन्य मर्दन करने वालो से विशेषज्ञ, बुद्धिमान तथा परिश्रम को जीतनेवाले थे। उन मर्दन करनेवालो ने अस्थि, मास, त्वचा और रोगटे इन चारो का सुखदायक मर्दन किया।

१—कितने लोग अज्ञानवश व्यायाम का विरोध करते हैं। यह उनकी भूल है। जैन-आगमो, चरित्रो सभी से यह बात प्रमाणित है कि, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बल्देव, प्रति-वासुदेव तथा गृहस्थ सभी व्यायाम करते थे। 'अट्टन-

इसके वाद राजा सिद्धार्थ ने व्यायामशाला से निकलकर मोतियो से व्याप्त गवाक्षवाले, अनेक प्रकार के चन्द्रकान्तादि तथा वैडूर्यादि रत्नो से खचित आगनवाले मज्जन-घर (स्नानगृह) मे प्रवेश किया । मणि-रत्नो से युक्त

(पृष्ठ १२३ की पाद टिप्पणी का शेषाश)

शाला'—व्यायामशाला—का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथा (एन० वी० वैद्य-सम्पादित) पृष्ठ ६, भगवती सूत्र शतक ११, उद्देसा ११, पत्र ६८६-२, औपपातिक सूत्र सूत्र ३१ (पत्र १२२-२) मे तथा 'व्यायाम' का उल्लेख औपपातिकसूत्र सूत्र ३१ (पत्र १२२-१), ज्ञाताधर्मकथा पृष्ठ ६, राजप्रश्नीय (वाबूवाली) पृष्ठ ३२, स्थानाग १,१ मे आता है । जैन-आगमो मे कुश्ती लडने के अखाडे का भी उल्लेख है । राजप्रश्नीय (वेचरदास-सम्पादित) पत्र ६७ तथा २१५-भगवती सूत्र शतक ६, ५ (वेचरदास-सम्पादित पृष्ठ ३०७) तथा स्थानाग ४, २ (पत्र २३०, १), मे आता है ।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने गृहस्थ-जीवन मे ७२ कलाए वतायी हैं । उनमे भी मल्लयुद्ध, वाहुजुद्ध, मुट्ठिजुद्ध धनुर्वेद आदि युद्ध तथा युद्ध-कला, व्यूह-रचना आदि के उल्लेख हैं । स्पष्ट रूप से इनका सम्वेधन शारीरिक पुष्टि से है ।

जैन-शास्त्रो मे भी व्यायाम को कुछ कम महत्व नही दिया है और व्यायाम को गृहस्थो की दिनचर्या का आवश्यक अग वताया गया है ।

वात स्पष्ट है कि जव तक शरीर पुष्ट नही होगा, व्यक्ति न तो व्यावहारिक सिद्धि प्राप्त कर सकता है और न धार्मिक ही । विला शरीर की पुष्टि के (रोगी शरीर से) देवपूजा, सामयिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपधान आदि धार्मिक कृत्य कोई भला क्या कर सकेगा । जैन-शास्त्रो मे कहा गया है 'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा ।'

२—(अ) 'खुरली तु श्रमो योग्याऽभ्यास.

—अभिधान-चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लोक ४५२, पृ ३१५

(आ) योग्या—शस्त्राद्यभ्यास.—कल्पसूत्र दीपिका पत्र ५२।२

३—कुमारपाल-चरित्र (प्राकृत द्वयाश्रय काव्य) हेमचन्द्राचार्य रचित (वाम्वे-सस्कृत-सिरीज) पृष्ठ २६९ (८—१७), ३२४ ।

स्नान-पीठ पर बैठे। और, अनेक प्रकार के पुष्पो के रस-मिश्रित चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी-युक्त, पवित्र, निर्मल, सुगन्धि ईषद उष्ण जल से कल्याण-कारक विधि से स्नान किया। तदनन्तर सुगन्धित द्रव्यो से वासित वस्त्र से शरीर को पोछ कर प्रधान वस्त्र धारण किये। गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। पवित्र पुष्पमालाएं पहनी। मणि, रत्न और सुवर्ण के बने हुए आभूषण पहने। अठारह, नव, तीन और एक लडी के हार गले में धारण किये। कीमती हीरो और मणियो से जडे हुए मोतियो के लम्बे-लम्बे फुदो सहित कमर मे कटिभूषण पहना। हीरे, माणिक्य आदि के कठे पहने। अंगुलियो में अगूठियाँ पहनी। अनेक प्रकार के मणियो से बने हुए, बहु मूल्यवान जडाऊ कडे हाथो मे तथा भुजाओ में पहने। इस प्रकार कुण्डलो से युक्त राजा का मुखमण्डल सुशोभित होने लगा। मुकुट से मस्तक दीपने लगा। अगूठियो से अगुलियाँ चमकने लगी। जिस प्रकार कल्पवृक्ष पुष्प-पत्तों से अलकृत होता है, उसी प्रकार सिद्धार्थ राजा आभूषणो से अलकृत और वस्त्रो से विभूषित दिखने लगे। वह कोरट-वृक्ष के श्वेत-पुष्पो की माला से सुशोभित थे और मस्तक पर छत्र धारण किये हुए थे। उज्जवल चामर झले जा रहे थे। चारो ओर लोग राजा की जय-जयकार कर रहे थे। इस प्रकार सब तरह से अलंकृत होकर, गणनायक (स्व-स्व समुदाय स्वामिन—गण का स्वामी), दडनायक (तत्रपाला स्वराष्ट्र-चिन्ताकर्त्ता—तन्त्र का पालन करने वाला, अपने राष्ट्र की चिन्ता करने वाला), तलवर (तुष्टभूपाल प्रदत्त पट्टबन्ध विभूषित—वह अधिकारी जिस पर प्रसन्न होकर राजा ने उसे पट्टबध से विभूषित किया हो), राइसर [राय-राजा (माडलिक) ईश्वर, युवराज] माडविक (मडब-स्वामिनः—जिसके चारो ओर आधे योजन तक ग्राम न हो उसे मडम्ब कहते हैं और ऐसे मडब के स्वामी माडम्बिक), कौटुम्बिक (कतिपय कुटुम्ब स्वामिनः—कतिपय कुटुम्बों के स्वामी), मन्त्री (राज्याधिष्ठायका. सचिवा.), महामन्त्री (विशेषाधिकारवन्तः) गणक (ज्योतिषिका:—ज्योतिषी), दौवारिक (प्रतिहाराः—द्वारपाल) अमात्य (सहजन्मो मन्त्रिण—मन्त्री), चेट (दास), पीठमर्दक (पीठे आसनं मर्दयन्तीति पीठमर्दक—आसन्नसेवका: वयस्या इत्यर्थः, निकट

रहकर सेवा करनेवाला), नागर (नगर-निवासी) लोका.—नगर-निवासी जन), निगम (वणिज.—व्यापार करने वाला), श्रेष्ठि (नगर मुख्य व्यवहारिण—नगर का मुख्य व्यवसायी), सेनापति (चतुरंगसेनाधिकारिण), सार्थवाह (सार्थनायका), दूत (अन्येषां गत्वा राजादेश निवेदका.) सन्धिपाल (सन्धिरक्षका—सन्धि की रक्षा करनेवाला) इत्यादि के साथ मज्जनघर से निकल कर महाराज सिद्धार्थ सभामण्डप मे आये। वहाँ महाराज के सिंहासन के निकट ही महारानी त्रिशला के लिए यवनिका के पीछे रत्नजटित भद्रासन रखा था।

दरबार मे पहुँचकर महाराज सिद्धार्थ ने कौटुम्बिक को बुलाकर अष्टांग-निमित्त शास्त्रो के जानने वाले स्वप्न-पाठको को बुलाकर दरबार मे लाने की आज्ञा दी। महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके, कौटुम्बिक दरबार से विदा होकर, स्वप्न-पाठको के घर गया और महाराज का आदेश उन्हे सुनाया।

महाराज का आदेश सुनकर स्वप्नपाठको ने स्नान किया, देवपूजा की, तिलक लगाया। दु स्वप्न नाश के लिए दधि, दूब और अक्षत से मंगल करके निर्मल वस्त्र धारण किये। आभूषण पहने और मस्तक पर श्वेत सरसो तथा दूर्वा लगाकर क्षत्रियकुडनगर के मध्यभाग से होते हुए, वे राजदरबार के द्वार पर गये। दरबार के द्वार पर एकत्र होकर, स्वप्नपाठको ने परस्पर विचार-विमर्ष किया और अपना एक अगुआ चुना।

स्वप्न पाठको ने आकर स्वप्नो का फल इस प्रकार कहा:—

एवं खलु देवाणुप्पिआ! अम्ह सुमिणसत्थे बायालीसं सुमिणा तीसं महासुमिणा, बावत्तरिं सव्वसुमिणा दिट्ठा। तत्थ णं देवाणुप्पिआ! अरहंतमायरो वा, चक्कवट्टिमायरो वा, अरहंतंसि वा, चक्कहरंसि वा, गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुमिणाणं इमे चउद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७३ ॥

तं जहा—गय वसह सीह अभिसेअ दाम ससि दिणयरं झयं कुम्भं।
पउमसर सागर विमाण भवण रयणुच्चय सिहिं च ॥ ७४ ॥

वासुदेव मायरो वा वासुदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णयरे सत्त महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झति ॥ ७५ ॥

बलदेव मायरो वा बलदेवंसि गब्भ वक्कममाणंसि एसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णयरे चत्तारि महासुमिणे पासित्ता ण पडिबुज्झति ॥ ७६ ॥

मंडलियमायरो वा मडलियंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णयरं एगं महासुमिण पासित्ता णं पडिबुज्झति ॥ ७७ ॥

—कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पृष्ठ १८७ से १८६ ।

इसी प्रकार भगवती-सूत्र में १६ वें शतक के छठे उद्देशा में स्वप्नो का वर्णन दिया गया है ।

"…. कति णं भंते ! सुविणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! बायालीसं सुविणा पन्नत्ता, कइ णं भते ! महासुविणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! तीस महासुविणा पण्णत्ता, कति णं भते ! सव्वसुविणा पण्णत्ता ? गोयमा ! बावत्तरि सव्वसुविणा पण्णत्ता । तित्थयरमायरो ण भंते ! तित्थगरंसि गब्भं वक्कममाणंसि कति महासुविणे पासित्ताण पडिबुज्झति ? गोयमा ! तित्थयरमायरो णं तित्थयरंसि गब्भं वक्कममाणसि एएसिं तीसाए महासुविणाणं इमे चोद्दस महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झति, तं० गयउसभसीह अभिसेय-जावसिहिं च । चक्कवट्टिमायरो ण भंते ? चक्कवट्टिंसि गब्भ वक्कममाणसि कति महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुज्झति ?, गोयमा ? चक्कवट्टिमायरो चक्कवट्टिंसि जाववक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महा सु० एव जहा तित्थगरमायरो जाव सिहिं च । वासुदेवमायरो णं पुच्छा, गोयमा ! वासुदेवमायरो जाव वक्कममाणसि एएसि चोद्दसण्हं महासुविणाण अन्नयरे सत्त महासुविणे पासित्ताणं पडिबु० । बलदेवमायरो वा णं पुच्छा, गोयमा ! बलदेवमायरो जाव एएसिं चोद्दसण्हं महासुविणाण अन्नयरे चत्तारि महासुविणे पासित्ताण पडि० । मडलियमायरो ण भते !

पुच्छा०, गोयमा ! मंडलियमायारो जाव एएसिं चोद्दसण्ह महासु० अन्नयरं एगं महं सुविण जाव पडिवु० (सूत्र ५७९)

—व्याख्या प्रज्ञप्ति अभयदेवी-वृत्ति भाग ३, शतक १६, उद्देसा ६, पत्र १ ०४-१३०५

अर्थात्—हे देवानुप्रिय ! हे सिद्धार्थ राजन् ! हमारे स्वप्न-शास्त्र में सामान्य फल देनेवाले वयालिस और उत्तम फल देने वाले तीस महास्वप्न वतलाये हैं। ऐसे सव मिलाकर वहत्तर स्वप्न कहे हुए हैं। उनमे से अर्हत्—तीर्थंकर—की माताएँ और चक्रवर्ती की माताएँ जव तीर्थंकर या चक्रवर्ती[1] का जीव गर्भ में आता है, तव तीस महास्वप्नो में से चोदह महास्वप्न देखती हैं। वासुदेव की माता जव वासुदेव का जीव गर्भ मे आता है तव तीस महास्वप्नो में से सात महास्वप्न[2] देखती हैं। वलदेव की माता जव वलदेव का जीव गर्भ मे आता हैं, तव उन तीस महास्वप्नो मे से चार[3] महास्वप्न देखती है। माडलिक-देशाधिपति की माता जव माडलिक का जीव गर्भ में

१-(अ) सार्वभौमस्य मातापि स्वप्नानेतान्निरीक्षते ।
किन्तु किंचिन्न्यूनकान्ती-नर्हन्मातुरपेक्षया ॥५६॥

—श्रीकाललोकप्रकाश, सर्ग ३०, पृष्ठ १९८

(व) चतुर्दशाप्यमून्स्वप्नान् या पश्येत्किंचिदस्फुटान् ।
सा प्रभो प्रमदा सूते नन्दन चक्रवर्तिनम् ॥८१॥

—श्रीवर्धमान सूरिकृत श्री 'वासुपूज्य-चरित', सर्ग ३, पृष्ठ ८९

२-(अ) यामिन्या पश्चिमे यामे सूचका विष्णुजन्मन ।
देव्या ददृशिरे स्वप्ना सप्तैते सुखसुप्तया ॥२१७॥

—त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र, पर्व ४, सर्ग १

(व) १ सिंह, २ सूर्य, ३ कुम्भ, ४ समुद्र, ५ लक्ष्मी, ६ रत्नराशि ७ अग्नि—ये सात स्वप्न वासुदेव की माता देखती है।

—सेन प्रश्न, पृ ३७९

३-(अ) ददर्श सुखसुप्ता च यामिन्या पश्चिमे क्षणे ।
चतुर सा महास्वप्नान् सूचकान् वलजन्मन ॥ १६८ ॥

—श्री त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र, पर्व ४, सर्ग १

(व) १ हाथी, २ पद्मसरोवर, ३ चन्द्र, ४ वृषभ ये चार स्वप्न वलदेव की माता देखती है। —सेन प्रश्न, पृष्ठ ३७९

(क) चतुरो वलदेवाम्वाथ. . ...॥५९॥

—श्रीकाललोकप्रकाश सर्ग ३०, पृष्ठ १९९

आता है, तब वह तीस महास्वप्नो में से एक[1] महास्वप्न देखती है।

इसमे प्रतिवासुदेव की माता को कितने स्वप्न आते हैं, इसका उल्लेख नही किया गया है। प्रतिवासुदेव की माता को तीन स्वप्न आते हैं, ऐसा बहुत स्थानो[2] पर उल्लेख पाया जाता है। कही पर ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उसे एक स्वप्न[3] आता है।

श्री समवायाङ्ग सूत्र के ५४-वें समवाय में ५४ महापुरुषो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

"भरहेरवएसु णं वासेसु एगमेगाए उस्सप्पिणीए ओसप्पिणीए चउवन्नं चउवन्नं उत्तमपुरिसा उप्पज्जिसु वा उप्पजति वा उप्पज्जिस्संति वा, तं जहा-चउवीसं तित्थकरा बारस चक्कवट्टी नव बलदेवा नव वासुदेवा.......(सूत्र ५४) समवायांग सूत्र सटीक, पत्र ६८-२

अर्थात्—भरत और ऐरवत-क्षेत्रो मे प्रत्येक उत्सर्प्पिणी और अवसर्प्पिणी मे चउपन महापुरुष उत्पन्न होते हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव और ९ वासुदेव। इन चउपन महापुरुषो मे प्रतिवासुदेव का उल्लेख

१—.. ....एकं माण्डलिकप्रसू. ॥५९॥

—श्रीकाललोक प्रकाश, सर्ग ३०, पृष्ठ १९९

२—(अ) प्रतिकेशवमाता तु त्रीन् स्वप्नानवलोकयेत्।

....॥६०॥

श्रीकाललोक प्रकाश, सर्ग ३०, पृष्ठ १९९

(ब) प्रतिवासुदेवे गर्भावतीर्णे तन्माता कियत. .स्वप्नान् पश्यतीत्यत्र त्रीन् स्वप्नान् पश्यतीति ज्ञायते... ।

—हीरप्रश्न, प्रकाश ४, पृष्ठ २३६

३—अन्यदा कैकसी स्वप्ने विशन्त स्वमुखे निशि।
कुंभिकुम्भस्थली भेदप्रसक्तं सिंहमैक्षत ॥ १ ॥

—श्री त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्त, सर्ग—७ पर्व १

नही किया गया है ; यद्यपि हेमचन्द्राचार्य-कृत 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र' मे वर्णित ६३ शलाका-पुरुषो मे प्रतिवासुदेवका भी समावेश है। अत मालूम होता है कि शास्त्रकारों ने इनका समावेश माडलिकों मे किया है।

स्वप्न-शास्त्रियो ने महाराजा सिद्धार्थ से कहा —"त्रिशला देवी ने चउदह महास्वप्न देखे हैं। अत. हे राजन्, इससे अर्थ का लाभ होगा, पुत्र का लाभ होगा, सुख का लाभ होगा और राज्य का लाभ होगा और नवमास और साढे सात दिन व्यतीत होने पर कुल मे केतु-समान, कुल में दीप-समान, कुल में पर्वत-समान, कुल में मुकुट-समान, कुल मे तिलक-समान, कुल की कीर्ति करने वाला, कुल का निर्वाह करनेवाला, कुल में सूर्य-समान, कुल का आधार, कुल की वृद्धि करनेवाला, कुल के यश को करनेवाला, कुल मे वृक्ष-समान, कुल की परम्परा को बढानेवाला, सुकुमार हाथ-पैरोंवाला, पूर्ण पचेन्द्रिय शरीरवाला, लक्षण[1] और व्यजनो के गुणो से युक्त, मान-उन्मान-मानोन्मान प्रमाणो से सर्वांगसुन्दर, चन्द्र के समान शान्त आकारवाला, प्रियदर्शन, सुरूप पुत्र का प्रसव करेंगी।

और, वह बालक बाल्यावस्था को जब समाप्त करेगा, तब परिपक्वज्ञान-वाला होगा, जब युवावस्था को प्राप्त करेगा तब दान मे शूरवीर, सग्राम मे पराक्रमी और अन्त मे चार दिशाओ का स्वामी चक्रवर्ती राजा होगा या

१—यहाँ लक्षण से मतलब है छत्र-चामरादि। ये लक्षण तीर्थंकर और चक्रवर्ती को १००८ होते हैं। वासुदेव और बलदेव को १०८ होते हैं और अन्य पुरुषों को ३२ होते हैं। ये लक्षण हैं :—

१ छत्र, २ कमल, ३ धनु, ४ रथ, ५ वज्र, ६ कछुआ, ७ अकुश, ८ बावड़ी, ९ स्वस्तिक, १० तोरण, ११ सरोवर, १२ सिंह, १३ वृक्ष, १४ चक्र १५ शङ्ख, १६ हाथी, १७ समुद्र, १८ कलश, १९ प्रासाद २० मीन, २१ यव, २२ यज्ञस्तंभ, २३ स्तूप, २४ कमण्डलु, २५ पर्वत, २६ चामर २७ दर्पण, २८ बैल, २९, ध्वजा, ३० अभिषेक ३१ वरदाम और ३२ मयूर,

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ३५

चार गति का अन्त करने वाला धर्मचक्रवर्ती तीन लोक का नायक तीर्थंकर होगा ।

उसके बाद उन स्वप्न पाठको न पृथक-पृथक चउदह स्वप्नो का फल कहा —

१—चार दाँतवाले हाथी को देखने से वह जीव चार प्रकार के धर्म को कहने वाला होगा ।

२—वृषभ को देखने से इस भरतक्षेत्र में बोधि-बीज का वपन करेगा ।

३—सिंह को देखने से कामदेव आदि उन्मत हाथियों से भग्न होते भव्य-जीवरूप वन का रक्षण करेगा ।

४—लक्ष्मी को देखने से वार्षिक-दान देकर तीर्थंकर-ऐश्वर्य को भोगेगा ।

५—माला देखने से तीन भुवन के मस्तक पर धारण करने योग्य होगा ।

६—चन्द्र को देखने से भव्य जीव रूप चन्द्रविकासी कमलों को विकसित करने वाला होगा ।

७—सूर्य को देखने से महा तेजस्वी होगा ।

८—ध्वज को देखने से धर्मरूपी ध्वज को सारे संसार में लहराने वाला होगा ।

९—कलश को देखने से धर्मरूपी प्रासाद के शिखर पर उनका आसन होगा ।

१०—पद्मसरोवर को देखने से देवनिर्मित सुवर्ण कमल पर उनका विहार होगा ।

११—समुद्र को देखने से केवल-ज्ञानरूपी रत्न का धारक होगा ।

१२—विमान को देखने से वैमानिक-देवों से पूजित होगा ।

१३—रत्नराशि को देखने से रत्न के गढ़ों से विभूपित होगा।

१४—निधूर्म अग्नि को देखने से भव्य प्राणिरूप सुवर्ण को शुद्ध करने वाला होगा।

इन चौदह महास्वप्नों का समुचित फल यह है कि वह चौदह राजलोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्धशिला के ऊपर निवास करने वाला होगा।

७२ स्वप्न

भगवतीसूत्र सटीक (शतक १६, उद्देशा ६, सूत्र ५८१, पत्र १३०९-१३११) मे ४७ स्वप्न गिनाये गये हैं। १४ स्वप्न तीर्थंकर की माता देखती हैं। १० महास्वप्न भगवान् महावीर ने छद्मस्थ काल में हस्तिग्राम के बाहर शूलपाणि यक्ष के मदिर मे देखे थे। इस प्रकार कुल ७१ स्वप्न होते हैं। तीर्थंकर की माता के स्वप्नो मे विमान अथवा भवन है। इस प्रकार यह एक और लेकर ७२ स्वप्न हुए। भगवती-सूत्र मे गिनाये स्वप्न इस प्रकार हैं :—

१ हयपक्ति २ गजपक्ति ३ नरपक्ति ४ किन्नरपंक्ति ५ किंपुरुषपंक्ति ६ महोरग पंक्ति ७ गंधर्वपक्ति ८ वृपभपक्ति ९ दामिणी १० रज्जु ११ कृष्णसूत्र १२ नील सूत्र १३ लोहितसूत्र १४ हरिद्रासूत्र १५ शुक्ल सूत्र १६ अयरासि १७ तम्बरासि १८ तउयरासि १९ सीसगरासि २० हिरण्यरासि २१ सुवर्णरासि २२ रत्नरासि २३ वज्ररासि २४ तृणरासि २५ कट्टरासि २६ पत्ररासि २७ तयारासि २८ भुसरासि २९ तुस-रासि ३० गोमयरासि ३१ अवकर रासि ३२ शरस्तम्भ ३३ वीरिण-स्तम्भ ३४ वशीमूल स्तम्भ ३५ वल्लीमूल स्तम्भ ३६ क्षीरकुम्भ ३७ दधि-कुम्भ ३८ घृतकुम्भ ३९ मधुकुम्भ ४० सुरावियडकुभ ४१ सोवीरवियड-कुभ ४२ तेल्लकुभ ४३ वसाकुभ ४४ पद्मसरोवर ४५ सागर ४६ भवन ४७ विमान।

सूरत से प्रकाशित श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति की टीका मे 'जाव' से समझे जाने वाले अन्य स्वप्न तो ठीक लिखे हैं, पर लिखनेवाला 'कट्ठराशि' भूल गया।

भगवती-सूत्र के १५-वें शतक के 'तेयनिसग्ग' उद्देसे मे (सूत्र ५५३, पत्र १२४७) 'तृण' से 'अवकर' राशि के बीच मे 'कट्ठराशि' भी आयी है।

जन्म

जिस दिन से भगवान् महावीर त्रिशला के गर्भ मे आये, उसी दिन से राजा सिद्धार्थ के कुल मे हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, प्रेम-सत्कार तथा राज्य की वृद्धि होने लगी। अत: मात-पिता ने यह सकल्प किया कि जब यह लडका उत्पन्न होगा, तब इसका नाम गुण निष्पन्न 'वर्द्धमान'[1] रक्खेंगे।

तीर्थंकर का जीव जब गर्भ मे आता है तो वह मति[2], श्रुत[3] और अवधि[4] इन तीनो ज्ञानो से सम्पन्न होता[5] है। भगवान् महावीर भी

१– कल्पसूत्र, सूत्र १०९ सुबोधिका टीका पत्र २०४–२०५

२– तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, प्रथम अध्याय

मन से युक्त चक्षु आदि इन्द्रियो द्वारा रूप आदि विषयो का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है!

—'जैन-दर्शन', खण्ड तीसरा, पृष्ठ २८७

३– श्रुत मतिपूर्वं ॥ २० ॥

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, प्रथम अध्याय

"इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेण उपजायमान सर्वं मतिज्ञानमेव, केवल परोपदेशात् आगमवचनाच्च भवन् विशिष्ट कश्चिन्मतिभेद एव श्रुत, नान्यत्।"

—मलधारिरचित विशेषावश्यक भाष्य टीका गाथा ८६, पत्र ५७

४– अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भव भवगुणप्रत्यय रूपिद्रव्य-गोचरमवधिज्ञानम् ॥ २१ ॥

—प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार, द्वतीय परिच्छेद।

अवधिज्ञान रूपी द्रव्यो को प्रत्यक्ष करता है।

—'जैन-दर्शन', तृतीय खण्ड, पृष्ठ २९७

५–कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र ३, पत्र २७

जब गर्भ मे थे, तो इन तीनो ज्ञानो मे युक्त थे। एक दिन उनको विचा हुआ कि मेरे हिलने-डुलने मे माता को कष्ट होता है। अत उन्होंने ग मे हिलना-डुलना वन्द कर दिया और अगोपाग का हिलाना-डुलाना वन्द करके वे अकम्पित हो गये।

आपके हिलना-डुलना वन्द कर देने मे, माता त्रिशला को यह आशका हुई कि, क्या किसी देवादिने मेरे गर्भ को हरण कर लिया है या मेरा गर्भ मर गया है या गल गया है, क्योकि अब हिलता-डुलता नही है। माता त्रिशला को दु खी देखकर सखियो ने उनमे पूछा—'आपका गर्भ तो कुशल है न ?" इस प्रश्न को सुनकर माता त्रिशला ने अपनी आशका प्रकट की और मूर्छित होकर जमीन पर गिर पडी। उपचार किया गया और वे शीघ्र ही चेतना युक्त हुई और चेतना युक्त होते ही चिन्ता से रुदन करने लगी। उनको इतनी चिन्तित देखकर वृद्धा नारियाँ शाति, मगल, उपचार तथा मानताए मानने लगी और ज्योतिषियो को बुलाकर उनसे प्रश्न पूछने लगीं।

रनवास के इस समाचार से राजा सिद्धार्थ भी चिंतित हो गये और उनके समस्त मन्त्री किंकर्तव्यविमूढ हो गये। इस प्रकार समस्त राज-भवन मे राग-रग समाप्त हो गया।

इस प्रकार की दशा देखकर भगवान् ने सोचा—"मैंने तो माता के सुख के लिये यह सब किया, परन्तु उसका परिणाम विपरीत हुआ। अपने अवविज्ञान से माता की मनोदशा जानकर, भगवान् महावीर ने अपने शरीर का एक भाग हिलाया।

तब त्रिशला क्षत्रियाणी अपने गर्भ की कुशलता जानकर हर्ष से पुलकित हो उठी और बोल उठी—"मेरा गर्भ हरा नही गया है और न तो मरा ही है। वह पहले के समान हिल-डुल भी रहा है।" और, स्वय अपने को धिक्कारने लगी कि मैंने ऐसा अमगल चितन क्यो किया! रानी त्रिशला को हर्षित देखकर समस्त राजभवन मे पुन आनन्द की तरगे व्याप्त हो गयी।

यह घटना उस समय की है, जब भगवान् महावीर को गर्भ मे आये ६ मास व्यतीत हो चुके थे। इस घटना मे माता-पिता की चिन्ता को देखकर

गर्भ में ही भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की—"माता-पिता के जीवित रहते मैं दीक्षा नही ग्रहण करूँगा। मेरे गर्भ मे रहने पर ही जव माता का इतना स्नेह है, तो मेरे जन्म के वाद ये मुझे कितना स्नेह करेंगी।"

गर्भ को सुरक्षित जानकर माता त्रिशला ने स्नान किया, पूजन किया, तथा कौतुक-मगल करके सर्व प्रकार के आभूषणो से विभूषित हुई। उस गर्भ को त्रिशला माता न अति ठण्डे, न अति गर्म, न अति तीखे, न अति कडवे, न अति कसैले, न अति खट्टे, न अति चिकने, न अति रूखे, न अति आर्द्र, न अति सूखे, सर्व ऋतुओ मे सुखकारी इस प्रकार के भोजन, आच्छादन, गन्ध और पुष्प-माला आदि से पोषण करने लगी।

वृद्धा नारियाँ त्रिशला माता को उपदेश देती—"हे देवि! आप धीरे-धीरे चला करें, धीरे-धीरे वोला करे, क्रोध को त्याग दें, पथ्य वस्तुओ का सेवन करें, नाडा ढीला वाँधा करें, खिलखिलाकर न हँसें, खुले आकाश मे न वैठें, अतिशय ऊँचे या नीचे न जाएँ।" माता त्रिशला गर्भ के रक्षण के समस्त उपायो को कार्य में लाती।

गर्भ के समय उनके मन मे जो प्रशस्त दोहद (इच्छाएँ) उत्पन्न हुए, वे सव दोहद पूर्ण किये गये। इस प्रकार सभी इच्छाएँ पूर्ण होने पर दोहद शान्त हो गये।

चैत्र मास की शुक्लपक्ष की त्रयोदशी के दिन, ९ मास और ७॥ दिन सम्पूर्ण होने पर, त्रिशला माता ने पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह उच्च स्थान मे थे। उस समय सातो ग्रह उच्च स्थानो मे थे। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आया था। सव दिशाएँ शान्त और विशुद्ध थी। सव शकुन जयविजय के सूचक हो रहे थे। वायु अनुकूल और मन्द-मन्द चल रही थी। मेदिनी अनाज से परिपूर्ण थी। समग्र देश आनन्द मे विभोर था। ऐसे समय मध्यरात्रि को ध्रुव योग, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चद्र का योग आने पर त्रिशला क्षत्रियाणी ने आरोग्यपूर्ण पुत्र को जन्म दिया।

कल्पसूत्र की सुवोधिका टीका मे ग्रहो की उच्चता इस प्रकार दर्शित की गयी है :—

अर्क्काद्युच्चान्यज १ वृष २ मृग ३ कन्या ४ कर्क ५ मीन ६ वणिजों ७ ऽशैः

दिग १० दहना ३ ष्टाविंशति २८ तिथि १५पु नक्षत्र २७ विंशतिमि ।

मेषे	सूर्य	१०
वृषे	सोम.	३
मृगे	मगल	२८
कन्याया	वुध.	१५
कर्के	गुरुः	५
मीने	शुक्रः	२७
तुलायां	शनि·	२०

भगवान् महावीर का जन्मोत्सव

भगवान् के जन्म के समय ५६ दिक् कुमारियाँ आयीं और भगवान् का सूतिका-कर्म करके जन्मोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान पर चली गयीं।

भगवान् महावीर का जन्म होते ही सौधर्म-देवलोक का इन्द्रासन कम्पायमान हुआ। अवधिज्ञान से इन्द्र को पता चल गया कि भगवान् महावीर का जन्म हो गया है। वह बडा प्रसन्न हुआ और अपने परिवार के देव-देवियो को लेकर वह इन्द्र कुण्डपुर की ओर चला। उनके साथ चारो निकाय के भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवलोक के देव और इन्द्र भी थे। उस समय देवो में परस्पर होड-सी लग गयी थी और सभी एक दूसरे से पहले पहुँचने के लिए सचेष्ट थे। इन्द्र जब कुण्डपुर पहुँचे, तो उन्होंने भगवान् और उनकी माता की तीन बार प्रदक्षिणा की और उनकी माता को प्रणाम करने के बाद अवस्वापिनी निद्रा (एक प्रकार का 'क्लोरोफार्म')

देकर प्रभु का प्रतिबिम्ब बनाकर वहाँ रख दिया और भगवान को मेरु पर्वत के शिखर के ऊपर ले गये। वहाँ स्नात्राभिषेक करने को जब सब देव जल-कलश लेकर खडे हुए तो उस समय सौधर्मेन्द्र के मन में शका हुई कि यह बालक इतने जल का प्रवाह कैसे सहन करेगा ?

भगवान् ने अवधिज्ञान से इन्द्र के मन की शका को जानकर उसके निवारण के लिए अपने बाएँ पाँव के अँगूठे से मेरु-पर्वत को जरा-सा दबाया तो पर्वत कम्पायमान हो गया[1]। इन्द्र ने ज्ञान से इसका कारण जानना चाहा तो उसको भगवान् की अनन्तशक्ति का ज्ञान हुआ। और, उसने भगवान् से क्षमा याचना की। तब इन्द्र और देवो ने मिलकर भगवान् का जलाभिषेक किया। अभिषेक के बाद उनके अँगूठे में अमृत भरा और नदीश्वर-पर्वत पर अष्टाह्निक (आठ दिन का) महोत्सव मनाकर और फिर अष्ट मगल का आलेखन करके स्तुति करके भगवान् को अपने माता के पास वापस रख आया।

प्रात काल प्रियवदा नामक दासी ने, राजा सिद्धार्थ के पास जाकर पुत्र-जन्म की सूचना दी। राजा ने मुकुट छोडकर अपने समस्त आभूषण दासी को दान में दे दिये और उसे दासीपन से मुक्त कर दिया।

समाचार सुनकर सिद्धार्थ राजा ने नगर के आरक्षको को बुलवाया और उनको आज्ञा दी—"हे देवानुप्रिय ! तुम शीघ्र ही क्षत्रियकुड के वन्दीगृह के समस्त कैदियो को मुक्त कर दो। बाजार मे आज्ञा कर दो कि जिसे किसी वस्तु की आवश्यकता हो और वह खरीद न सकता हो, तो वह वस्तु उसे विना मूल्य-लिये दी जाये। उसका मूल्य राज-कोष से दिया जायगा। नाप

१—दिगम्बर ग्रन्थो मे भी मेरु-कम्पन का उल्लेख है —

पादागुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कपयन्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात्॥

—रविषेणाचार्यकृतपद्मचरितम्, पर्व २, श्लोक ७६, पृष्ठ १५.

और तौलकर दी जानेवाली वस्तुओ के माप में वृद्धि करा दो। क्षत्रियकुंड नगर की सफाई कराओ, सुगन्धित जल का छिड़काव कराओ। देवालयो, राज-मार्गो आदि को सजाओ। बाजारो आदि मे मच वँधवा दो—जहाँ से बैठ-कर लोग महोत्सव देख सकें। दीवारो पर सफेदी करवाओ और उन पर थापे लगवाओ। (नट) नाटक करने वालो, (नट्टग) नाचने वालो, (जल्ल) रस्सी पर खेल करनेवालो, मल्लो (मल्ल), (मुट्ठि) मुष्टि-युद्ध करनेवाले (विडम्बक) विदूषको, (पवग) वन्दर के समान उछल-कूद करनेवाले गढ्ढे फादने वाले तथा नदी में तैरनेवाले, (कहग) कथा कहने वालो, (पाठग) सूक्तियो को कहने वाले, (लासग) रास करने वाले, (लेख) बास पर चढ कर खेल करने वाले, (मंख) हाथ में चित्र लेकर भिक्षा मागने वाले, (तूणइल्ल) तूण नामक वाद्य बजानेवाले (तुम्ब वीणिका) वीणा बजाने वाले और (तालाचराः) तालिया बजानेवाले, मृदग बजानेवालो से इस क्षत्रियकुण्ड ग्राम को शोभा-युक्त करो। ग्राम भर के जुवों और मूसलो को एक जगह एकत्र कर दो ताकि महोत्सव के अदर कोई हल अथवा गाडी न चला सके।"

राजा का आदेश सुनकर जब कर्मचारी चले गये, तो राजा सिद्धार्थ व्यायामशाला मे गये। वहाँ स्नान आदि करके वस्त्राभूषण से सुसज्ज होकर राज-सभा मे आये। और, बाजे-गाजे के साथ स्थितिपतित[१] नामक दस दिनो का महोत्सव किया।

इस उत्सव-काल में तीसरे दिन चद्र और सूर्य का दर्शन कराया गया। छठें दिन रात्रिजागरण का उत्सव हुआ। बारहवें दिन नाम सस्कार कराया गया। इस बीच राजा सिद्धार्थ ने अपने नौकर-चाकर, इष्ट मित्र, स्नेहियों और ज्ञातिजनो को आमन्त्रित किया और भोजन, पान, अलंकार आदि से सबका सत्कार किया। राजा सिद्धार्थ ने कहा—"जब से यह बालक हमारे कुल मे अवतरित हुआ है, तब से हमारे कुल में धन, धान्य कोश, कोष्ठागार, बल, स्वजन और राज्य में वृद्धि हुई है। अत. हम इस

१– कुलक्रमादागते पुत्रजन्मानुष्ठाने नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ०
कुलस्य लोकस्य वा मर्यादाया गताया पुत्रजन्ममहप्रक्रियायाम्
भगवती सूत्र ११-११, नाया १,१४, राय २८६, विपाक •

बालक का नाम वर्द्धमान रखेंगे ।" राजा के इस प्रकार कहने पर सब ने 'वर्द्धमान' कहकर अपनी जिह्वा को पवित्र किया ।

वर्द्धमान का बाल्यकाल राजकुमार की भांति सुख-समृद्धि और वैभव आनन्द मे व्यतीत हुआ । उनके लिए ५ धाए रखी गयी थी, जो उनका लालन-पालन करती थी ।

क्रीड़ा

कुमार वर्द्धमान को खेल-कूद मे कुछ विशेष रुचि नही थी । एक बार जब उनकी उम्र ८ वर्ष से कुछ कम थी, तो अपने समवयस्क बच्चो के कहने से वे प्रमदवन[1] मे क्रीडा करने के लिए गये और सुकली (आमल की) क्रीडा खेलने लगे । यह खेल किसी वृक्ष को लक्ष्य करके खेला जाता था । सब लडके उसकी ओर दौडते थे । उनमे जो लडका सब से पहले उस पर चढ जाता था और नीचे उतर जाता था, वह पराजित लडको के कधे पर बैठकर उस स्थान को जाता था जहाँ से दौड प्रारम्भ होती थी[3] ।

जिस समय कुमार वर्द्धमान इस खेल को खेल रहे थे, उस समय देवेन्द्र शक्र अवधिज्ञान से भगवान को देखकर बोले—"वर्द्धमान कुमार बालक होते हुए भी बडे पराक्रमशील है । वृद्ध न होते हुए भी बडे विनयशील है । इन्द्र, देव, दानव कोई भी उनको पराजित नही कर सकता ।" एक देव को इन्द्र की इस उक्ति पर विश्वास नही हुआ । वह परीक्षा करने के लिए जहाँ वर्द्ध-मान खेल रहे थे, वहाँ आया । वह देव सर्प का रूप धारण करके उस पीपल के वृक्ष पर लिपट गया । कुमार वर्द्धमान उस समय वृक्ष पर चढे हुए थे । सब लडके उस सर्प के विकराल रूप को देखते ही डर गये । लेकिन, वर्द्धमान कुमार जरा भी विचलित नही हुए । वे नीचे उतरे और दाएँ हाथ से उस सर्प को पकडकर एक ओर डाल दिया ।

लडके फिर एकत्र हो गये और तिंदूसक[4] नामक क्रीडा करने लगे । इसमे यह नियम था कि अमुक वृक्ष को लक्ष्य करके लडके दौडें । जो लडका

१—'पमयवणसि'त्ति गृहोद्याने'
—ज्ञाताधर्मकथा, अभयदेवसूरिकृत टीका, १।८।७२ पत्र १४।१।१
२—तस्स तेसु रुक्खेसु जो पढम विलग्गति जो पढम ओलुभति सो चेड-रूवाणि वाहेति—आवश्यकचूर्णि, भाग १, पत्र २४६ ।
३—आवश्यकचूर्णि, भाग १, पत्र २४६ ।
४—आवश्यक मलयगिरि-टीका, प्रथम भाग, पत्र २५८-१ ।

सवसे पहले उस वृक्ष को छू ले, वह विजयी और शेप पराजित। इस वार वह देव लडके का रूप धारण करके वर्द्धमान कुमार के साथ दौडा। कुमार वर्द्धमान ने उसे भी पराजित कर दिया और उस वृक्ष को छू लिया। तव नियम के अनुसार कुमार वर्द्धमान उस लडके के कन्धे पर चढे और नियत स्थान पर आने लगे। तव देव ने वर्द्धमान कुमार को डराने के लिए अपना शरीर सात ताड प्रमाण ऊँचा वना लिया और वडा रुद्र-रूप धारण किया। वर्द्धमान कुमार को दैवी-माया समझते देर न लगी। उन्होंने जोर से उसके मस्तक पर मुष्टिका से प्रहार किया। वह देव इस प्रहार सें जमीन मे धँस गया। अव उस देव ने अपना असली रूप प्रकट किया। लज्जित होकर वह वर्द्धमान कुमार के चरणो पर गिर पडा और वोला—"इन्द्र ने आपकी जैसी प्रशसा की थी, आप उससे भी अधिक धीर तथा वीर हैं।" ऐसा कहकर वह देव अपने स्थान को वापस चला गया। इसी समय स्वयं इन्द्र ने आकर आपका नाम 'महावीर' रखा। तव ही से 'वर्द्धमान' 'महावीर' के नाम से विख्यात हुए।

विद्याशाला-गमन

भगवान् महावीर के आठ वर्ष से अधिक होने पर कुछ उनके माता-पिता ने शुभ-मुहूर्त देख कर सुन्दर वस्त्र-अलकार धारण कराके हाथी पर वैठा कर भगवान् महावीर को पढने के लिए पाठशाला मे भेजा। पण्डित को भेंट देने के लिए वढिया पोशाक, अलकार और नारियल तथा विद्यार्थिओ को वाँटने के लिए नाना प्रकार की खाने की एव अभ्यास मे उपयोग की वस्तुए पाठशाला मे भेजी गयीं। जव भगवान् पाठशाला पहुँचे तो पण्डित ने भगवान् को वैठने के लिए सुन्दर आसन दिया।

इतने में इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। अवधि ज्ञान से देखकर इन्द्र विचार करने लगे—" माता-पिता का मोह तो देखिये। तीन ज्ञान के धनी भगवान् महावीर को एक साधारण पण्डित के पास पढने के लिए भेजा है। यह ठीक नहीं है।" यह सोच कर ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्र स्वयं

वहाँ आया। इन्द्र ने महावीर से व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न पूछे। भगवान् महावीर ने अविलम्ब उनका जवाब दे दिया। पडित दग रह गया। पण्डित ने उत्तर सुनकर सोचा कि इस विद्यार्थी ने तो मेरी भी शकाएँ निर्मूल कर दी। तव इन्द्र ने पण्डित से कहा—"पण्डित! यह वालक कोई साधारण छात्र नही है। यह सकल शास्त्र पारगत भगवान् महावीर है।" इन्द्र के इस वचन को सुनकर पण्डित चकित रह गया। भगवान् महावीर के मुख से निकले वचन को सुन करके, ब्राह्मण ने इस नये व्याकरण को 'ऐन्द्र-व्याकरण'[1] वताया।

भगवान् महावीर का विवाह

जव भगवान् महावीर यौवन[2] को प्राप्त हुए तो उनके विवाह के प्रस्ताव आने लगे। उनके माता-पिता के मन में जो इच्छा थी, उसके पूरे होने के दिन आये। इसी समय वसन्तपुर नगर के महासामन्त[3] समरवीर

१—त्रिषष्टिशलाका पुरुप चरित्र पर्व १० सर्ग २ श्लोक १२२।

२—(अ) आषोडशाद्भवेद्वालो यावत्क्षीरान्नवर्त्तक।
मध्यम सप्तति यावत् परतो वृद्ध उच्यते॥
—स्थानाङ्ग सूत्र वृत्ति, पत्र १२८–२

व आपोडशाद् भवेद् वालस्ततस्तरुण उच्यते।
वृद्ध' स्यात् सप्ततेरुद्धर्वम् ....॥
—अभिधान राजेन्द्र, भाग ४, पृष्ठ १६५७

क कौमार पञ्चमाब्दान्त पौगण्ड दशमावधि।
कैशोरमापञ्चदशाद्यौवन तु ततः परम्॥
—शब्दार्थ चिन्तामणि, भाग ४, पृष्ठ ४३

३—कौटिलीय अर्थशास्त्र मे सामन्त शब्द पडोसी राज्य के राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। . सामन्तो मे कुछ प्रमुख और उत्तम स्थानीय होते थे। उनकी पदवी प्रधान-सामन्त थी।
—वासुदेव शरणकृत 'हर्ष चरित' परिशिष्ट दूसरा, पृष्ठ २१७-१८

(२) सामन्त का अर्थ 'वैजयन्ती-कोष' मे 'ए नेवरिंग किंग' लिखा है। (पृष्ठ ८४७)

ने अपनी भार्या पद्मावती की कुक्षि ने उत्पन्न यशोदा के पाणिग्रहण के लिए राजा सिद्धार्थ के पास प्रस्ताव भेजा ।

वर्द्धमान के माता-पिता उनकी विरक्त मनोदशा से परिचित थे । अत उनके माता-पिता ने उसके मित्रो द्वारा कुमार वर्द्धमान की इच्छा जानने का प्रयत्न किया । भगवान् महावीर ने स्त्री-सम्भोग और ससारी जीवन सम्बधी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा—"मोहग्रस्त मित्रो ! तुम्हारा ऐसा क्या आग्रह है, क्योकि स्त्री आदि परिग्रह भव-भ्रमण का ही कारण है । और, 'भोगे रोगभयम्' भोग में सदा रोग का डर बना हुआ है । मेरे माता-पिता के जीवित रहता हुआ मेरे वियोग का दु ख न हो, इस हेतु से दीक्षा लेने को उत्सुक होता हुआ भी, मैं दीक्षा नही ले रहा हूँ ।" इस प्रकार भगवान् कह रहे थे कि राजा सिद्धार्थ की आज्ञा से माता त्रिशला वहाँ स्वय आयी । भगवान् तत्काल खडे हो गये और उनके प्रति आदर प्रकट करते हुए बोले—"हे माता आप आयी यह अच्छा हुआ । लेकिन, इससे अच्छा तो यह था कि आप मुझे ही बुला लेती ।" त्रिशला देवी ने कहा—"हे पुत्र मैं जानती हूँ कि आप ससारवास से विरक्त हैं और केवल मेरे प्रेम के कारण गृहवास मे रह सकते हैं । फिर भी, इतने से मुझे तृप्ति नहीं होती है । मैं तो आपको वधू-सहित देखना चाहती हूँ । तभी मुझे तृप्ति होगी । यशोदा नामक राजपुत्री से विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लो । तुम्हारे पिता भी तुम्हारा विवाहोत्सव देखने को उत्कण्ठित हैं ।" माता के इस आग्रह पर भगवान् ने अपनी स्वीकृति दे दी । और, शुभ मुहूर्त मे भगवान् का विवाह यशोदा के साथ सम्पन्न हुआ ।

कुछ लोग भगवान् के विवाह के सम्बन्ध मे शकाशील हैं; परन्तु भगवान् के विवाह की चर्चा प्राय सभी ग्रन्थो में मिलती है । उनके कुछ प्रमाण हम यहाँ दे रहे हैं —

१—अ—भारिया जसोया कोडिण्णा गुत्तेण . ।

—कल्पसूत्र सूत्र १०९

ब—बालभावातिक्रमानुक्रमेणावासयौवनोऽय भोगसमर्थ इति विज्ञात भगवत्स्वरूपाभ्या मातापितृभ्या प्रशस्ततिथिनक्षत्र-मुहूर्त्तेषु नरवीरनृपति सुताया यशोदाया. पाणिग्रहण कारितम्...।

—कल्पसूत्र किरणावलि, पत्र ९२-२

क-एवं बाल्यावस्थानिवृत्तौ सप्राप्त यौवनो भोगसमर्थो भगवान् माता-पितृभ्या शुभे मुहूर्ते समरवीरनृपपुत्री यशोदा परिणायित ।

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र २६०

× × ×

२—समणस्सण भग० भज्जा जसोया कोडिन्ना गुत्तेण समणस्स ण० धूया कासवगोत्तेण, तीसेण दो नामधिज्जा

एवमा०—अणुज्जा इ वा पियदसणा इ वा...।

—आचाराङ्ग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाधिकार सूत्र ४००, पृष्ठ ३८९

३—हमने पृष्ठ १११ पर रायपसेनी मे वर्णित ३२-वें नाटक का विवरण दिया उसमे 'चरम कामभोग' का भी स्पष्ट उल्लेख है।

४—तिहि रिक्खम्मि पसत्थे महन्त सामन्तकुल पसूयाए।
कारिंति पाणिगहणं जसोअवररायकन्नाए ॥ ३२२ ॥

—आवस्सय निज्जुत्ति पृष्ठ ८५

× × ×

५—उम्मुक्कबालभावो कमेण अह जोव्वणं अणुप्पत्तो।
भोगसमत्थं णाउं अम्मा पिअरो उ वीरस्स ॥ ७८ ॥ भा. ॥
तिहि रिक्खम्मि पसत्थे महन्तसामन्तकुलपसूआए।
कारन्ति पाणिगहणं जसोअवररायकण्णाए ॥ ७९ ॥ भा. ॥

—आवश्यक हारिभद्रीय टीका १८२-२

६—इसी प्रकार की गाथा आवश्यक की मलयगिरि की टीका (पत्र २५९-२ मे भी है।

७—तिहि रिक्खम्मि पसत्थे महन्त सामन्त कुलपसू याए।
कारिन्ति पाणिगहणं जसोयवररायकन्नाए ॥ ८० ॥

—श्री नेमिचन्द्राचार्य-रचित-महावीर-चरिय पत्र ३४-१

× × ×

८—पुण्येऽहनि महीनाथो जन्मोत्सवसमोत्सवम्।
विवाहं कारयामास महावीरयशोदयो· ॥ १५१ ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुपचरित्र, पर्व १० सर्ग-२

९—सिद्धत्थनराहिवेण जेट्ठभाउगनंदिवद्धणजुवराएण य अणुगम्ममाणो सिरिवद्धमाणकुमारो सायरमवलोयणक्खित्तचित्तेण भवणमालावलसंठिएण पुरजणेण दंसिज्जंतो अंगुलिसहस्सेहिं पुज्जमाणो आसीससएहिं अग्घविज्जमाणो अक्खयसम्मिस्सकुसुमवुट्ठिवरिसेहिं-संपत्तो कमेण विवाहमडवंति, अह मंडवदुवारेच्चिय पडिरुद्धो पडिहारजणेण सामन्नलोओ, पविट्ठो पहाणलोएण सम अब्भिंतरंमि, विलयाजणेण ओमिलणपुव्वगं झत्ति विविहं पसाहिया सा जसोयवररायकन्ना वि, तथाहि...

पत्ताय तक्खणागयपुरोहिया रुद्धजलणकम्मंमि।
नववंदणमालामणहरंमि वरवेइगाभवणे ॥ ८ ॥
तत्तो पाणिग्गहणं पारद्धं गीय मंगल सणाहं।
सयलतइलोक्कन्नाविय परमाणंदं महिड्ढीए ॥ ९ ॥
....एव च सुरासुर नरपति तोसकारए वित्ते विवाह महूसवे ।

—गुणचन्द्र-रचित महावीर चरिय, पत्र १३२

+ + +

भगवान् महावीर विवाहित थे अथवा 'अविवाहित' थे, इस शका का बडा अच्छा समाधान 'श्री एकविंशतिस्थानप्रकरण' (पृष्ठ २३) मे मे मिलता है —

वसुपुज्ज मल्लि नेमी पासो वीरो कुमारपव्वइया ।
रज्जं काउं सेसा मल्ली नेमी अपरिणीया ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'वसु' इत्यादि—वासुपूज्यो मल्लिस्वामि नेमिजिन पार्श्वो वीरश्चैते पञ्च कुमारा—अव्यूढराज्यभारा प्रव्रजिता-दीक्षा गृहीतवन्त, शेपा एकोनविशतिर्नाभेयाद्या राज्य परिपाल्य व्रत भेजु, तथा मल्लिर्नेमी चेतौ द्वौ अपरिणीतौ—अविवाहितौ प्रव्रजितौ, अन्ये द्वाविंशतिर्जिनाः कृतपाणिग्रहणा प्राव्राजिपुरिति गाथार्थ ।

× × ×

भगवान् महावीर के विवाह सम्बन्धी शका का समाधान आवश्यक-निर्युक्ति के उस प्रसग से भी हो जाता है, जिसमें भगवान् महावीर के जीवन-काल की प्रमुख घटनाएँ गिनायी गयी हैं । गाथा है—

सुमिणमवहार भिग्गह जम्मणमभिसेय वुड्ढी सरणं च ।
भेसण विवाह वच्चे दाणे संबोह निक्खमणे ॥ २७७ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, पृष्ठ ८१ ।

इसकी संस्कृत-छाया इस प्रकार है—

स्वप्नोऽपहारोऽभिग्रहो जननमभिषेको वृद्धिः स्मरणं च ।
भीषणं विवाहोऽपत्यं दानं संबोधो निष्क्रमणम् ॥

इस पर मलयगिरि की टीका (पत्र २५२–२) इस प्रकार है—

विवाह विधिर्वाच्य....

भगवान् महावीर के अविवाहित होने की शका जिन लोगो के हृदय मे है, वे अपनी शका का समर्थन निम्नलिखित गाथाओ मे प्रयुक्त 'कुमार' शब्द से करते हैं :—

मल्ली अरिट्ठनेमी पासो वीरो य वासुपुज्जो ॥ ५७ ॥
ए ए कुमारसीहा गेहाओ निग्गया जिणवरिन्दा ॥
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तूण निक्खन्ता ॥ ५८ ॥

—पउमचरिय, वीसइमो उद्देसो, पत्र ६८–२ ।

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च ।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥ २२१ ॥

रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु ।
न य इच्छियाभिसेओ कुमारवासम्मि पव्वइया ॥ २२२ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, पृष्ठ ३९ ।

ठीक उसी प्रकार का उल्लेख दिगम्बर-पुराणो मे निम्नलिखित रूप में मिलता है—

वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमः ।
कुमारा निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽपरे ॥

—पद्मपुराण २०, ६७ ।

निष्क्रान्तिर्वासुपूज्यस्य मल्लेर्नेमिजिनांत्ययोः ।
पञ्चानां तु कुमाराणां राज्ञां शेषजिनेशिनाम् ॥

—हरिवंशपुराण ६०, २१४ भाग २, पृष्ठ ७१९ ।

णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य ।
पासो वि गहिद्तवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ॥ ६७ ॥

—तिलोयपण्णति, अधिकार ४, गाथा ६७० ।

इन श्वेताम्बर और दिगम्बर-ग्रंथो में 'कुमार' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, लोग अज्ञानवश उसका अर्थ 'कुँवारा' अथवा 'अविवाहित' लेते हैं, जबकि 'कुमार' शब्द का वह अर्थ ही नही होता है। यह भ्रम तो वस्तुत संस्कृत भाषा के शब्द को स्थानीय भाषा के शब्द के रूप में बदल देने से हुआ है। 'कुमार' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या होता है, इसके स्पष्टीकरण के लिए हम कुछ कोषो के प्रमाण दे रहे हैं :—

कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके ॥

शब्दरत्नसमन्वय कोष—पृष्ठ-२६८ ।

कुमारस्स्याद् हे वाले वरुणेऽश्वानुचारके ॥ २८ ॥
युवराजे च..................................।

—वैजयन्ति-कोप, त्र्यक्षरकाण्डे नानालिङ्गाध्याय', पृष्ठ २५९।

कुमार— चाइल्ड, ब्वॉय, यूथ, सन, प्रिंस।

—मोनियोर-मोनियर विलियम्स संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी, पृष्ठ २९२।

* * * *

कुमार— सन, ब्वॉय, यूथ, ए ब्वॉय बिलो फाइव, ए प्रिंस।

—आप्टे-संस्कृत-इग्लिश-डिक्शनेरी, पृष्ठ ३६३।

* * * *

कुमारो बालके स्कन्दे युवराजेऽश्ववारके।
वरुणानो... ॥ ६२ ॥

—महीपकृत अनेकार्थतिलक, काण्ड ३, श्लोक ६२, पृष्ठ ४४॥

* * * *

युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारक

—अमरकोष, पृष्ठ ७५ (नि. सा. प्रे.) काण्ड १ नाटयवर्ग, श्लोक १२।

युवराज कुमारो भर्तृदारक :

—अभिधान-चिन्तामणि, काण्ड २, श्लोक २४६, पृष्ठ १३६।

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि, 'कुमार' शब्द का अर्थ 'राजकुमार' है, न कि 'अविवाहित'। हमारे इस अर्थ से विवेकी दिगम्बर भी सहमति प्रकट करते हैं। अपने ग्रथ "जैन साहित्य और इतिहास" के परिशिष्ट (पृष्ठ ५६५) में तिलोयपन्नति के उपर्युक्त भाग का अर्थ करते हुए नाथूराम प्रेमी ने लिखा है .

"नेमि, मल्लि, वीर, वासुपूज्य और पार्श्व ने कुमारकाल में और शेष जिनो ग्रा तीर्थंकरो ने राज्य के अत में तप ग्रहण किया। राज्य के अत

का अर्थ है—राज्य भोगकर। इससे ही ध्वनित होता है कि कुमारकाल का अर्थ यहाँ 'कुँआरे थे' या 'विवाहित' यह उद्दिष्ट नही है।"

नाथूराम ने अपनी उसी पुस्तक मे एक स्थान पर 'कुँआरा' अर्थ लेने वालो की शका का उल्लेख करते हुए स्पष्टीकरण भी किया है (पृष्ठ १००)

"महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि, और वासुपूज्य इन (पाँच) को छोडकर शेष तीर्थंकर राजा हुए। ये पाचो क्षत्रियवश और राजकुलो मे उत्पन्न हुए। इन्होने राज्याभिषेक की इच्छा नही की और कुमारावस्था मे ही प्रव्रजित हो गये।"

जैन आगम-ग्रथो मे 'कुमारावास' शब्द आया है। उसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :—

कुमाराणामराजभावेन वासः कुमारवास.।

—स्थानाङ्ग सटीक, ठा० ५, उद्देश : ३, पत्र ३५१-२।

इसी प्रकार का अर्थ 'प्रश्नव्याकरण' मे भी दिया गया है—

कुमाराः – राज्यार्हा।

—प्रश्नव्याकरण अभयदेवसूरि-कृत टीका, पत्र ९६/२

आवश्यकनिर्युक्ति का एक प्रसग हम ऊपर दे आये हैं। उसके आगे के कुछ भाग को लेकर लोग अपनी शंका निम्नलिखित रूप मे उपस्थित करते हैं (आ० नि० दीपिका, पत्र ६३–१, ६४–१) :—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो॥ २२१॥
रायकुलेसुऽवि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअ कुलेसुं।
न य इच्छिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइआ॥ २२२॥
वीरो अरिट्ठनेमी पासो मल्ली अ वासुपुज्जो अ।
पढमवए पव्वइआ सेसा पुण पच्छिमवयंमि॥ २२६॥
गामायारा विसया निस्सेविआ ते कुमारवज्जेहिं।
गामागराइएसु च केसि(सु) विहारो भवे कस्स॥ २३३॥

इस प्रसंग मे ३ प्रश्नो पर शङ्का उपस्थित की जाती है—

(१) न य इच्छिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइआ।

(२) पढमे वए पव्वइआ सेसा पुण पच्छिमवयंमि।

(३) गामायारा विसया निसेविआ ते कुमारवज्जेहिं।

इन प्रश्नो का समाधान इस रूप में है.—

(१) उस पद में 'इच्छिआ' का अर्थ 'स्त्री' नही है वरन् 'अभिलषित', 'वाछित', 'इच्छित' अथवा 'इष्ट' है (देखिये, पाइअसद्दमहण्णवो, पृष्ठ १६६)। उसका अर्थ लोग जो 'स्त्री' करते हैं, वह अशुद्ध है। आगमोदयसमिति द्वारा प्रकाशित आवश्यक-निर्युक्ति मे यह अशुद्धरूप इस प्रकार छप गया है—"न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासमि पव्वइआ।"

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १३६।२।

प्रथम तो 'इत्थिआभिसेआ' यह पाठ ही अशुद्ध है। यहाँ होना चाहिए, 'इच्छिआभिसेआ'—जैसा कि मलयगिरि ने लिखा है। 'इच्छिआभिसेआ' का सस्कृत छायानुवाद होता है, 'ईप्सिताभिषेका' जैसा कि मलयगिरि ने लिखा है।[1] सागरानदसूरिजी अगर मलयगिरि की इस टीका पर ध्यान देते, तो उनका पाठ शुद्ध हो जाता और उन्होंने उस पद के नीचे टिप्पणी लगाकर जो अनर्थ किया है, वह भी न हो पाता।

(२) 'पढमवए पव्वइआ' वय के प्रथमाश मे दीक्षा ली, इसका भी यह अर्थ नही लिया जा सकता कि 'अविवाहितरूप' मे दीक्षा ली। 'पढमवए' की ही तरह का प्रयोग 'लोक-प्रकाश' मे भी हुआ है और वहाँ उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

१—इच्छियाभिसेया—ईप्सिताभिषेका—अभिलषित राज्याभिषेका,

—श्री आवश्यक निर्युक्ति, टीका श्री मलयगिरि-प्रथम भाग, पत्र २०४–१।

'न य इच्छिआभिसेआ ....'

'न चेप्सितराज्याभिषेका .. . '

—श्री आवश्यक निर्युक्तिदीपिका, भाग १, पत्र ६३–१।

वासुपूज्यमल्लिनेमि पार्श्ववीर जिनेश्वरा. ।
प्रवव्रजुर्वेयस्याद्येऽनुपात्तराज्य संपद: ॥१००२॥

प्रवव्रजुर्भुक्तराज्याः शेषा वयसि पश्चिमे ।
मण्डलेशा· परे तेषु चक्रिण· शान्तिकुन्थ्वराः ॥ १००३॥

अभोगफलकर्माणौ मल्लिनेमिजिनेश्वरौ ।
निरीयतुरनुद्वाहौ कृतोद्वाहाः परे जिना ॥ १००४॥

—लोकप्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४, प्रका (जै० ध० प्र० सभा, भावनगर)

अर्थात्—वासुपूज्य, मल्लि, नेमनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी ने विना राज्य प्राप्त किये प्रथम वय में दीक्षा ली और वाकी तीर्थंकरो ने राज्य भोगकर पश्चिम वय मे दीक्षा ली । उनमे शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ चक्रवर्ती थे और वाकी तीर्थंकर माण्डलिक राजा थे । मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोगावलि कर्म अवशेष नहीं होने से, उन्होंने विना व्याह किये ही दीक्षा ली और शेष २२ तीर्थंकरो ने लग्न करके दीक्षा ली ।

\+ \+ \+

(३) 'ग्रामायारा विसया निसेविया ते कुमारवज्जेहिं' के 'ग्रामायारा विसया' पद पर मलयगिरि की टीका इस प्रकार है .—

"ग्रामाचारा नाम विषया उच्यन्ते, ते विषया निषेविता—आसेविता कुमारवर्जैं ....शेषैः सर्वैस्तीर्थकृद्भि. । किमुक्तं भवति ?—वासुपूज्य-मल्लिस्वामी-पार्श्वनाथ-भगवदरिष्टनेमिव्यतिरिक्तैः सर्वैस्तीर्थकृद्भिरासेविता विषया· न तु वासुपूज्य प्रभृतिभि , तेषां कुमारभाव एव व्रतग्रहणाभ्युपगमादिति, अथवा ग्रामाचारा नाम ग्रामाकरादिषु विहारास्ते वक्तव्या. यथा कस्य भगवत. केषु ग्रामाकरादिषु विहार आसीदिति ।"

—आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरि-टीका, पूर्व भाग, पत्र २०५।२ ।

इसमे टीकाकार ने भगवान् महावीर का नाम ही नहीं दिया है ।

'ग्रामायारा विषया' पर दीपिकाकार श्रीमाणिक्य शेखरसूरि लिखते हैं—

"ग्राम्याचारा विषया उच्यन्ते । ते कुमारवर्जितैर्जिनैर्निषेविता. । कुमारौ च मल्लिनेमी । गामायारशब्देन वा अथवा ग्रामाचारो विहार उच्यते, स केषु ग्रामनगरादिषु कस्य बभूव ॥२३३॥

—श्री आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, प्रथम भाग, पत्र ६४।१ ।

इन्होने भगवान् महावीर का नामोल्लेख नही किया है ।

कामता प्रसाद जैन ने अपनी पुस्तक 'भगवान् महावीर' (द्वितीय आवृत्ति) मे पृष्ठ ७९, ८०, ८१ की पादटिप्पणी मे साम्प्रदायिक ढग की कुछ अनर्गल छीटाकशियाँ की हैं । उसमे उन्होने कुछ ऐसी बातें भी लिख डाली हैं, जो पूर्णत अशुद्ध और मिथ्या हैं । उस टिप्पणी का एक वाक्य है—"उस पर खास बात यह है कि स्वय श्वेताम्बरीय प्राचीन ग्रन्थो जैसे 'कल्पसूत्र' और 'आचाराग सूत्र' मे भगवान् महावीर के विवाह का उल्लेख नही है ।" हम ऊपर उन ग्रन्थो के मूल प्रमाण दे आये हैं । अत इस सम्बन्ध मे हम यहाँ कुछ नही कहना चाहते । 'आवश्यकनिर्युक्ति' की जो उनकी शका है, उसका भी हम ऊपर समाधान कर आये हैं ।

उन्होंने लिखा है—"प्राचीन आचार्यों की नामावली, चूर्णि और टीकाओ में विवाह की बात बढायी गयी, सम्भवतः दिखती है ।" यहाँ हम केवल इतना मात्र कहना चाहते हैं कि, जब मूल कल्पसूत्र मे 'भारिया जसोया कोडिण्णा गुत्तेणं' स्पष्ट लिखा है कि उनकी पत्नी का नाम यशोदा था, तब फिर विवाह की शका उठाना सर्वथा अनर्गल है ।

आपने अपनी उसी टिप्पणी में लिखा है—"श्वेताम्बर लोगो ने बुद्ध की जीवन-कथा के आधार पर महावीर स्वामी की कथा का निर्माण किया ।" अपने इस कथन की पुष्टि के लिए जो बातें कामताप्रसाद ने कही हैं, उनमे एक बात यह भी कही है—"बौद्ध कहते हैं कि गौतम ने यशोदा को व्याहा, श्वेताम्बर भी लिखते हैं कि महावीर ने यशोदा से विवाह किया था ।" 'यशोदा' नाम साम्य की बात कामताप्रसादजी के मन में कैसे आयी, यह नही कहा जा सकता, जब कि स्वय कामताप्रसादजी ने अपनी उसी पुस्तक

(पृष्ठ ७८) मे लिखा है कि राजा सिद्धार्थ यशोदा को अपनी पुत्रवधू वनाना चाहते थे। अत स्पष्ट है कि यह यशोदा नाम श्वेताम्वरो ने वौद्धो से नकल करके नही लिया है। और, यहाँ एक भूल यह और वता दूँ कि गौतम की पत्नी का नाम 'यशोदा' नही, पर 'यशोधरा' था।

कामताप्रसाद ने श्वेताम्वरो पर छीटाकशी कर दी, पर उनके साथी दिगम्बर भी 'कुमार' का अर्थ 'कुआरा' नही मानते। हमने उसके प्रमाण के लिए पहिले नाथूराम का एक उद्धरण दे दिया है। पर, कामताप्रसाद जी ने श्वेताम्बर-दिगम्वर का नाम लेकर यह मतभेद विना दिगम्बर-शास्त्रो के अवलोकन किये खडा किया है। चम्पालालजी-कृत 'चर्चा-सागर' मे एक श्लोक उद्धृत है। वह श्लोक सारी शका ही मिटा देता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

वासुपूज्यस्तथा मल्लिर्नेमि पार्श्वोऽथ सन्मति।
कुमारा. पञ्च निष्क्रान्ताः पृथिवीपतय परे॥

यहाँ स्पष्ट है कि 'कुमार' से प्रयोजन है कि जो पृथ्वीपति न हुआ हो। 'निर्वाण-भक्ति' में भी स्पष्ट उल्लेख है कि ३० वर्ष की उम्र तक भगवान् ने समस्त भोग भोगे। उसमें श्लोक है —

भुक्त्वा कुमारकाले त्रिंशद्वर्षाण्यनन्त गुणराशि·।
अमरोपनीत भोगान् सहसाभिनिवोधितोऽन्येद्यु.॥

ऐसा ही उल्लेख स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे निम्नलिखित रूप मे है—

तिहुयण पहाण सामिं कुमारकाले वि तविय तव चरणं।
वसुपुज्जसुय मल्लिं चरमतिय संथुवे णिच्चं॥

'भगवान् महावीर' के लेखक पन्यास कल्याणविजय जी ने अपनी पुस्तक मे भगवान् के विवाह का उल्लेख (पृष्ठ १२) किया है। परन्तु, उस पर एक टिप्पणी भी लगा दी है। और, टिप्पणि से एक भ्रम उपस्थित कर दिया है। उन्होंने लिखा है—"श्वेताम्बर-ग्रन्थकार महावीर को विवाहित मानते हैं और उसका मुख्य आधार 'कल्पसूत्र' है।" हमने विवाह के समस्त प्रमाण ऊपर दे दिये हैं। उनका उल्लेख हम यहाँ पुन नही करेंगे, पर कल्याण

विजय जी के कुछ भ्रमो पर विचार अवश्य करना चाहेंगें। आपने लिखा है— "...दीक्षा काल में या आगे-पीछे कही भी यशोदा का नामोल्लेख नही मिलता।" इसके लिए भी हम यहाँ कुछ अतिरिक्त प्रमाण देना आवश्यक नही समझते जब कि हम 'कल्पसूत्र' का ही प्रमाण ऊपर दे आये हैं।

आगे प कल्याण विजयजी ने लिखा है—"यदि तब तक यशोदा जीवित होती, तो महावीर की **बहन और पुत्री** की तरह वह भी प्रव्रज्या लेती अथवा अन्य रूप से उसका नामोल्लेख पाया जाता है।" यह सब लिखने के बाद प कल्याणविजय जी लिखते हैं कि—"इतना तो निश्चित् है कि महावीर के अविवाहित होने की दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता बिलकुल निराधार नही है।" प. कल्याण विजयजी ने महावीर-चरित्र के लिए जितना परिश्रम किया वह स्तुत्य है, पर उनकी विवाह की शका को कौन मिटा सकता है, जब कि वे उनकी पुत्री को प्रव्रज्या मान कर भी विवाह होने पर ही शका प्रकट करते हैं। पृष्ठ १२ की इस पाद-टिप्पणि के अतिरिक्त पृष्ठ ८१ पर प कल्याणविजय जी ने लिखा है "भगवान् महावीर की पुत्री ने भी—जो जमालि से व्याही थी—इसी वर्ष एक हजार स्त्रियो के साथ आर्याचन्दना के पास दीक्षा ले भगवान् के श्रमणी-सघ मे प्रवेश किया।" कल्याणविजय जी ने लिखा है—"महावीर ने २८-वें वर्ष के बाद घर मे रहकर दो वर्ष सयमी जीवन बिताया, ऐसे उल्लेख अनेक स्थलो मे मिलते हैं"—यहाँ 'अनेक' लिखकर कल्याणविजय जी चूक गये। उन्हे ग्रन्थो का नाम देना चाहिए था और जहाँ तक मैं जानता हूँ, जहाँ-जहाँ सूत्रो मे दो वर्ष तक सयमी जीवन बिताने की बात लिखी-है, वही-वही उनके विवाह की भी बात है।

महा-अभिनिष्क्रमण

भगवान् महावीर जब २८ वर्ष के हुए, तब उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। माता-पिता के देहान्त के बाद, भगवान् ने अपने बडे भाई नन्दिवर्द्धन के पास जाकर कहा कि मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और अब मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। नन्दिवर्द्धनने उन्हे समझाने की चेष्टा की। कहा कि, अभी माता-पिता के निधन का ही हम को बहुत शोक है। ऐसे समय पर आपका यह वचन घाव पर नमक छिडकने सरीखा है। अत, जब तक शोक से स्वस्थ-मन न हो जायें, आप कुछ काल तक ठहरिये। भगवान् ने उनसे ठहरने की अवधि पूछी। नन्दिवर्द्धनने कहा—"दो वर्ष तक।" भगवान्ने बडे भाई की आज्ञा स्वीकार कर ली। पर, इस दो वर्ष की अवधि में भी भगवान्ने साधु-सरीखा ही जीवन व्यतीत किया। इस काल मे वे गरम पानी पीया करते थे। निर्दोष आहार करते थे। रात्रि को वे कभी नहीं खाते थे। जमीन पर ही लेटते थे और पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

इस प्रकार जब एक वर्ष व्यतीत हो गया, तो उन्होंने दान देना प्रारम्भ किया। वे प्रतिदिन १ करोड ८ लाख स्वर्ण[1] (सिक्का विशेष) का दान करते थे। इस प्रकार वर्ष भर में उन्होंने ३ अरब ८८ करोड ८० लाख स्वर्ण का दान दिया।

भगवान् की दीक्षा लेने का निश्चय जब देवलोक के देवताओं को अवधि-ज्ञान से प्राप्त हुआ, तब वे सब देव आये और लोकान्तिक देवों ने भगवान् से

---

१ (अ) षोडश कर्ममापका एक सुवर्ण ... पञ्च गुञ्जा. एक कर्ममाषक
—अनुयोगद्वार सटीक, पत्र १५६।१।

(आ) धान्यमाषा दश सुवर्ण मापक पञ्च वा गुञ्जा
ते षोडश सुवर्ण कर्षो वा ॥
—कौटिलीयं अर्थशास्त्र २ अधि, ३७ प्र, पृष्ठ १०३।

(इ) पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥
—मनुस्मृति ८।१३५ भट्टमेधातिथि-भाष्य, पृष्ठ ६१८

कहा—"जय जय नदा ! जय जय भद्दा ! भद्दते, जय जय खत्तियवरवसभा। बुज्झहि भगवन् !" "अर्थात् तेरी जय हो ! आनदित हो ! हे भद्र ! तेरी जय हो ! तेरा कल्याण हो ! हे क्षत्रियवर वृषभ ! आप की जय हो, 'जय हो ! हे भगवन् ! आप दीक्षा ग्रहण करें। आप समस्त ससार मे सकलजीवो के लिए हितकर धर्मतीर्थ की प्रवर्तना करें।" ऐसा कह कर वे पुन 'जय-जय' शब्द का प्रयोग करने लगे और भगवान् को वदन करके, नमस्कार करके जिस दिशा से वे आये थे उसी दिशा मे चले गये।

भगवान् लोकान्तिक देवो से सम्बोधित होने के बाद, नन्दिवर्द्धन तथा सुपार्श्व (भगवान के चाचा) आदि स्वजनो के पास गये और बोले—"अब मैं दीक्षा के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ।" तब नन्दिवर्धन ने उनको अनुमति दे दी।

नन्दिवर्धन राजा ने अपनें कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर कहा—"एक हजार आठ सोने के, उतने ही चाँदी के, उतने ही रत्न के, उतने ही सोने-चाँदी के, उतने ही सोने-रत्नो के, उतने ही रत्न और चाँदी के, उतने ही सोने-चाँदी और रत्न के और उतने ही मिट्टी के (इस प्रकार के ८ जाति के) कलश तैयार कराओ।" कौटुम्बिको ने इतने सब कलश और अन्य सामग्रियाँ एकत्र की। उसी समय शक्र-देवेन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। और, अवधिज्ञान से भगवान् का दीक्षा-समय जानकर वह वहाँ आया और जैसे उन्होने ऋषभदेव का अभिषेक किया था, उसी प्रकार उन्होंने भगवान् महावीर का अभिषेक किया। नन्दिवर्धन ने भी भगवान् को पूर्वाभिमुख बिठला करके अभिषेक किया। उसके बाद भगवान् ने स्नान करके गधकापाय वस्त्र से शरीर पोछ करके शरीर पर दिव्य चदन का विलेपन किया। उस समय प्रभु का कठ-प्रदेश कल्पवृक्ष के पुष्पो से निर्मित माला से सुशोभित लगता था। उनके सारे शरीर पर सुवर्णमडित अंचल वाला स्वच्छ और एक लाख मूल्यवाला श्वेतवस्त्र सुशोभित हो रहा था। वक्षस्थल पर बहुमूल्य हार लटक रहा था। अगद और कड़े से उनकी भुजाएँ और कुण्डलो से कान सुशोभित थे। इस प्रकार वस्त्राभूषणो से अलकृत होकर भगवान् चन्द्रप्रभा नामक पालकी मे बैठे।

यह पाल की पचास धनुष्य लम्बी, पच्चीस धनुष्य चौड़ी और छत्तीस धनुष्य ऊँची थी। इसमे बहुत से स्तम्भ थे तथा मणि, रत्न आदि से वह सुशोभित थी।[1]

इस प्रकार हेमन्त-ऋतु मे, मार्गशीर्ष वदि १० और रविवार के दिन तीसरे पहर मे विजय मुहूर्त मे बेले[2] की तपस्या करके शुद्ध लेश्यावाले भगवान् महावीर चन्द्रप्रभा नामक पालकी में पूर्व दिशा की ओर मुख करके सिंहासन पर बैठे। प्रभु की दाहिनी ओर हंस-लक्षण युक्त पट लेकर कुल-महत्तरिका[3] बैठी। बाईं ओर दीक्षा का उपकरण लेकर प्रभु की धाई-माँ बैठी। पिछली ओर छत्र लिए एक तरुणी बैठी। ईशान-कोण में पूजा का कलश लेकर एक स्त्री बैठी और अग्नि-कोण मे मणिमय पखा लेकर एक अन्य रमणी बैठी। राजा नन्दिवर्धन की आज्ञा से पालकी उठायी गयी। उस समय शकेन्द्र दाहिनी भुजा को, ईशानेन्द्र बायीं भुजा को, चमरेन्द्र दक्षिण ओर के नीचे की बाँह को और बलीन्द्र उत्तर ओर के नीचे की बाँह को उठाये थे। इनके अतिरिक्त अन्य व्यन्तर भुवनपति, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो ने भी हाथ लगाया। उस समय देवताओ ने पुष्पो की वृष्टि की। भगवान् की पालकी के रत्नमय आगे अष्टमागल चलने लगे। जुलूस के आगे-आगे भभा, भेरी, मृदग, आदि बाजे बजने लगे। बाजो के बाद बहुत-से (दडीणो) डडेवाले, (मुडिणो) मुण्डित मस्तकवाले, (सिहढिणो) शिखाधारी, (जटिणो) जटाधारी, (हासकारा) हसनेवाले, (दवकरा) परिहास करने वाले, (खेड्डकारा) खेल करने वाले, (कदप्पिया) काम-प्रधान क्रीडा करने वाले, (कुक्कुत्तिया) भाड, (गायतया) गाते हुए, (वायतया) बजाते हुए, (नच्चता) नाचते हुए, (हसतया) हसते हुए, (रमतया) खेलते हुए, (हसावेंतया) हसाते हुए, (रमावेंतया) लोगो को क्रीडा कराते हुए जय-जयकार करते हुए पूरी मडली रवाना हुई। उसके बाद उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल और क्षत्रियकुल

कल्पसूत्र—१, सुबोधिका टीका पत्र २६९–२७०

२–दो उपवासो की तपस्या   ३–कुल की बडी-बूढ़ी।

के राजा तथा सार्थवाह प्रभृति देव-देवियाँ तथा पुरुष-समूह जुलूस मे चल रहे थे। इन सबके बाद नन्दिवर्द्धन राजा स्नान करके अच्छी तरह विभूषित होकर, हाथी पर बैठकर, कोरट-वृक्ष के पुष्पो की माला से युक्त, छत्र को धारण करके, भगवान् के पीछे-पीछे चल रहे थे। उन पर श्वेत चामर झला जा रहा था। और, हाथी, घोडे, रथ तथा पैदल चतुरगिणी सेना उनके साथ थी। उसके बाद स्वामी के आगे १०८ घोडे, और घुडसवार और अगल-वगल मे १०८ हाथी और हाथी के सवार और पीछे १०८ रथ चल रहे थे।

इस प्रकार वडी रिद्धि से और वडे समुदाय के साथ, शख, पणव (ढोल), भेरी, झल्लरी, खरमुही हुक्कीत, मुरज (ढोलक), मृदग, दुन्दुभी, आदि वाद्यो की आवाज के साथ कुडपुर के मध्य मे होते हुए ज्ञाताखण्डवन उद्यान मे अशोक वृक्ष के नीचे भगवान् के साथ चले जा रहे थे। अभिषेक के अवसर के समान उस समय बहुत से देव कुडपुर नगर मे आये थे। वे पुन "जय जय नदा जय जय भद्दा . " आदि उच्चरित कर भगवान् की स्तुति करने लगे। भगवान् ज्ञातखण्डवन मे अशोक वृक्ष के नीचे आकर अपनी पालकी से उतरे। भूमि पर उतरने के वाद भगवान् ने अपने आभूषण अलकार स्वय उतारे। कुल की एक वृद्धा नारी ने उनको उठा लिये। उस वृद्धा नारी ने उन्हे विदा देते हुए कहा—

"हे पुत्र, तुम तीव्र गति से चलना, अपने गौरव का ध्यान रखना। असि की धारा के समान महाव्रत का पालन करना, और श्रमण-धर्म मे प्रमाद न करना। निर्दोष ऐसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र द्वारा तुम नही जीती हुई इन्द्रियो को वश मे कर लेना। विघ्नो का मुकावला करके तुम अपने साध्य की सिद्धि में सदा लगे रहना। तप के द्वारा तुम अपने राग और द्वेष नामक मलो को नष्ट कर डालना, धैर्य्य का अवलम्वन करके उत्तम शुक्लध्यान द्वारा आठ कर्मशत्रुओ को नष्ट कर देना।" इस प्रकार कहकर नन्दिवर्धन आदि स्वजनवर्ग भगवान् को वन्दन करके नमस्कार करके स्तुति करके एक ओर बैठ गये। फिर, भगवान् ने स्वय पचमुष्टि लोच किया। उस समय शक्र देवेन्द्र

देवराय ने भगवान् के उन केशो को एक वस्त्र में ले लिया और उन्हें क्षीर-समुद्र मे वहा दिया। तव भगवान् के "नमो सिद्धाण" कहकर "करेमि सामाइय सव्व सावज्जं जोग पच्चक्खामि" (मैं सामायिक-चरित्र अंगीकार करता हूँ और यावज्जीवन सावद्य-पापवाले व्यापार का त्याग करता हूँ)। इस प्रकार उच्चरित करते ही, भगवान् को चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने गृहस्थ जीवन का त्याग प्रत्यक्षरूप से किया। और, साधु वन गये। वे घर से लुक-छिपकर नही भागे, वल्कि अपने आत्मवल से सव कुटुम्ब को समझाकर, डके की चोट पर सिंह की तरह, घर से निकल कर अणगार हुए।

भगवान् वर्द्धमान

निष्क्रमण से
केवल-ज्ञान
प्राप्ति तक

दे दिया। वह आधा वस्त्र लेकर वह घर पर गया और फटी हुई किनारी को ठीक कराने के लिए रफूगर[1] के पास गया। रफूगर ने पूछा कि, ऐसा अमूल्य वस्त्र तुझे कहाँ से मिला? ब्राह्मण ने उसे सच्ची बात कह सुनायी। तब रफूगर ने कहा—"दूसरा आधा वस्त्र भी ले आओ। तुम उस मुनि के पीछे-पीछे घूमना और जब वह गिर पड़े तब ले लेना। निस्पृह होने से वे उसको नही उठायेंगे। तब तुम उसे उठा लेना। मैं उसको रफू कर दूंगा। तब उसका मूल्य १ लाख दीनार होगा। फिर हम दोनो आधी-आधी मुद्रा बांट लेंगे।" अत ब्राह्मण भगवान् के पीछे-पीछे भटकने लगा।[2]

भ०महावीर ज्ञातखड-उद्यान से विहार करके उसी दिन शाम को—जब एक मुहूर्त दिन शेष रहा—कर्मारग्राम[3] आ पहुँचे। कर्मार ग्राम आने के लिए दो मार्ग थे[2]। एक जलमार्ग दूसरा स्थल मार्ग[4]। भगवान् स्थल मार्ग से आये और रात्रि वही व्यतीत करने के विचार से ध्यान मे स्थिर[5] हो गये।

१—जले, फटे कपडे के छोटे सुराख मे तागे भर कर बराबर करनेवाला—
 बृहत् हिन्दी कोश, पृष्ठ १०८७।

२—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र २८९।
 १ वर्ष १ मास के बाद जब भगवान् के शरीर से वह वस्त्र गिरा तब वह ब्राह्मण उसे उठा कर ले आया। त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक २-१४, २१९-२२०
 आवश्यक मलयगिरी की टीका पत्र २६६।२
 आवश्यक चूर्णी पत्र २६८।२

३—यह वन तथा क्षत्रियकुड के समीप मे ही स्थित था; क्योंकि भगवान् ने दीक्षा लेकर उसी दिन शाम को कर्मारग्राम जाकर रात्रि व्यतीत की थी। जो लोग लिछुआर के निकट-स्थित 'कुमारगाँव' को इस कर्मारग्राम से तुलना करते हैं, वे लोग बिना सोचे-समझे बातें करते हैं और अपनी अज्ञानता प्रकट करते हैं। 'कर्मार' का शाब्दिक अर्थ होता है, लुहार। अत कर्मारग्राम लुहारो के गांव को कहते हैं। लछुवार के पास जो कुमारग्राम है, वह इस से सर्वथा भिन्न है और वह भी वहाँ एक नही बल्कि दो 'कुमारगाम' पास ही पास हैं।

भगवान् महावीर जब ध्यान मे अवस्थित थे, तब कोई ग्वाला सारे दिन हल जोतकर सध्या समय जब बैलो सहित लौटा, तो भगवान् के पास बैलों को रखकर गायें दुहने के लिए घर चला गया। बैल चरते-चरते जगल में दूर निकल गये और जब ग्वाला दो बारा वहाँ लौटा तो उसने देखा कि, बैल वहाँ नही थे। उसने भगवान् से पूछा—"हे देवार्य, मेरे बैल कहाँ गये ?" भगवान् की ओर से कुछ भी प्रत्युत्तर न मिलने पर, उसने समझा कि, उनको मालूम नही है। वह जगल मे बैलो को ढूँढने चला गया। भाग्यवशात् बैल प्रात. स्वय भगवान् के पास आकर खडे हो गये।

(पृष्ठ १६२ की पादटिप्पणिका शेषाश)

विशेष स्पष्टीकरणके लिए देखिये 'वैशाली' (हिन्दी, पृष्ठ ६४-६६)
इस गाँव का आधुनिक नाम कामनछपरा गाँव है। (वीर-विहार-मीमासा, हिन्दी, पृष्ठ २३)

४—तत्थ य दो पंथा एगो पाणिएणं एगो पालीए, सामी पालीए जा वच्चति ताव पोरुसी मुहुत्तावसेसा जाता, सपत्तो य तं गामं

—आवश्यक चूर्णि, पत्र २६८।

तत्र च पथद्वय-एको जलेन अपरः स्थल्यां, तत्र भगवान् स्थल्यां गतवान गच्छंश्च दिवसे मुहूर्तशेषे कर्मारग्राममनुप्राप्तः इति

—आवश्यक, हरिभद्रीय वृत्ति, विभाग १, पत्र १८८।१

तत्र च पथद्वयं एको जलेनापरः पाल्या। तत्र च भगवान पाल्या गतवान्, गच्छश्च दिवसे मुहूर्तशेषे कर्मारग्राममनुप्राप्त.

—मलयगिरी-आवश्यक-टीका-भाग १, पत्र २६७।१।

५—नासाग्रन्यस्तनयनः प्रलम्बित भुजद्वय।
प्रभु प्रतिमया तत्र तस्थौ स्थाणुरिव स्थिर.॥ १६॥

—नासिका के अग्रभाग पर जिनकी दृष्टि स्थिर है, दोनो हाथ जिनके लम्बे किये हुए है, ऐसे भगवान् स्थाणु की तरह ध्यान मे स्थिर हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक १६, पत्र १६-२

सारी रात भटककर प्रात काल को जब ग्वाला वहाँ वापिस आया, तो उसने भगवान् के पास बैठे हुए अपने बैल देखे। देखते ही उसको क्रोध आ गया। वह झल्लाकर बोला—"बैलो को जानते हुए भी आप क्यो कुछ नही बोले ?"—और हाथ मे बैल बाँधने की रस्सी लेकर भगवान् को मारने दौडा। उस समय इद्र अपनी सभा मे बैठा विचार कर रहा था कि, जरा देखूँ तो सही कि, भगवान् प्रथम दिन क्या करते हैं ? उस समय ग्वाले को मारने के लिए तैयार होता देख, इन्द्र ने उसको वही स्तम्भित कर दिया और साक्षात् प्रकट होकर कहा—"हे दुरात्मन्, यह तू क्या करता है ? क्या तुझे यह नही मालूम कि, यह महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान कुमार हैं।" ग्वाला लज्जित होकर चला गया।[1]

उसके बाद इद्र ने भगवान् महावीर की वदना करके कहा कि, हे देवार्य, आपको भविष्य मे बहुत बडे-बडे कष्ट झेलने पडेंगे। आपकी आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा में रहूँ। इस पर भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"हे इन्द्र न कभी ऐसा हुआ है और न होगा कि देवेन्द्र या असुरेन्द्र की सहायता से अर्हन्त केवल-ज्ञान और सिद्धि प्राप्त करें। अर्हन्त अपने ही बल एव पराक्रम से केवल ज्ञान प्राप्त करके सिद्धि को प्राप्त करते हैं।"[2] तब इन्द्र ने मरणान्त

१—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक २५-२६, पत्र १९–२, आवश्यक चूर्णी पत्र २६९-२७०।

२—नो खलु सक्का! एव भूअं वा ३ ज ण अरिहता देविंदाण वा असुरिंदाण वा निसाए केवलणाण उप्पाडेंति उप्पाडेंसु वा ३ तव वा करेंसु वा ३ सिद्धि वा वच्चिसु वा ३ णण्णत्य सएण उट्ठाण कम्मबलविरियपुरिसक्कारपरक्कमेण। —आवश्यकचूर्णि—पत्र २७०।

ना पेक्षा चक्रिरेऽर्हन्त· पर साहायिक क्वचित् ॥२९॥
नैतद्भूत भवति वा भविष्यति च जातुचित्।
यदर्हन्तोऽन्यसाहाय्यादर्जयन्ति हि केवलम् ॥३०॥
केवल केवलज्ञान प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यत।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्रा परम पदम् ॥३१॥
—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १०, सर्ग ३, पत्र २०–१।

उपसर्ग टालने के लिए प्रभु की मौसी के पुत्र सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा मे छोड दिया ।

दूसरे दिन भगवान् ने कर्मारग्राम से विहार किया और कोल्लाग-सन्निवेश[1] आये । और, वहाँ वहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी और शक्कर से मिश्रित परमान्न (खीर) से भगवान् के छट्ठ के तप का पारणा किया ।

'आवश्यकचूर्णि' पत्र २७० मे इस प्रसग का पाठ "कोल्लाए सनिवेसे घतमधुसजुत्तेण परमन्नेण...पडिलाभितो" आता है ।

जैन-साधु के लिए मधु (शहद) का प्रयोग निषिद्ध है । इस परम्परा से अनभिज्ञ लोग प्राय यहाँ प्रयुक्त 'मधु' शब्द का गलत 'शहद-परक' अर्थ ले

---

१ कोल्लाग-सन्निवेश दो ही थे । एक वैशाली के पास दूसरा राजगृही के पास । तीसरा कोई कोल्लाग नही था । जो लोग लछवाड के पास तीसरे कोल्लाग की कल्पना करते हैं, वे अपनी भूगोल-सम्बन्धी अज्ञानता प्रकट करते हैं । विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिये 'वैशाली' (हिन्दी) पृष्ठ ८० ।

डाक्टर हार्नेल वैशाली वाले कोल्लाग को वैशाली का एक मुहल्ला मानते हैं ('महावीर तीर्थङ्कर की जन्मभूमि' जैन–साहित्य–संशोधक खड १, अक ४, पृष्ठ २१९) पर यह उनकी भूल है । विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिए, वैशाली (हिन्दी) पृष्ठ ५१, तथा पृष्ठ ५७ ।

यह स्थान बसाढ से उत्तर पश्चिम में दो मील की दूरी पर है । इसी का आधुनिक नाम कोल्हुआ है । देखीये 'वीर-विहार-मीमासा' हिन्दी पृष्ठ २३ ।

(पृष्ठ १६४ की पादटिप्पणि का शेषाश)

यह बात वास्तव मे सब आत्माओ से सम्बन्ध रखती है । कोई भी आत्मा जब तक अपने पराक्रम को प्रकट नही करता, स्वय किसी भी तरह का पुरुषार्थ प्रकट नही करता, तब तक उसको सिद्धि नही प्राप्त होती । कार्यसिद्धि सदा से स्वपराक्रम मे रही है । और, पराक्रमी पुरुष ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं । पर-आश्रय पर निर्भर रहनेवाला कभी स्वतत्र नही बन सकेगा ।

लेते हैं। और, वे यह देखने की चेष्टा नहीं करते कि 'मधु' का वस्तुत. कुछ अन्य अर्थ है भी या नही। अत ऐसे व्यक्तियो की जानकारी के लिए हम यहाँ कुछ प्रमाण दे रहे हैं —

(१) मधु=शूगर (शर्करा) मोन्योर-मोन्योर-विलियम्स-संस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ ७७९

(२) मधु=शूगर (शर्करा) आप्टे-रचित 'सस्कृत-इग्लिश-डिक्शनरी' पृष्ठ ७३७

(३) मधु (न)=चीनी सस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ ६३७।

(४) मधु=शर्करा-वृहत्-हिन्दी-कोष पृष्ठ १००१।

(५) 'मधुन शर्करायाश्चगुडस्यापिविशेपत' शब्दार्थ चितामरिण, तृतीय भाग, पृष्ठ ५०६

(६) हेमचन्द्राचार्य ने 'शर्करा' के लिए 'मधुधूलि' शब्द भी लिखा है अभिधान चिन्तामरिण, मर्त्यकाण्ड, श्लोक ६७, पृष्ठ १६६।

'मधु' शब्द का अर्थ केवल 'शहद' ही नही होता, वल्कि 'शर्करा' अथवा मीठी वस्तु भी होता है। अभिधान राजेन्द्र भाग ६, पृष्ठ २२९ मे 'महु' का अर्थ दिया है 'अतिशायिशर्करादिमधुरद्रव्ये।' इस प्रसग का उल्लेख त्रिषष्टि-शलाका पुरुपचरित्र, पर्व १०, (पत्र २०।१) मे जहाँ हेमचन्द्राचार्य ने किया है वहाँ मधु के स्थान पर स्पष्ट 'सिता' लिखा है

'चक्रे सितादिमिश्रेण परमान्नेन पारणाम्।'—सर्ग ३, श्लोक ३५। पत्र २०।१।

कोल्लाग सन्निवेश से भगवान् ने मोराकसन्निवेश की तरफ प्रस्थान किया। और वहाँ दूईज्जन्तक[1] नाम के पाषडस्थो[2] के आश्रम मे गये। उस आश्रम का

१—दूइज्जन्तकाभिधानपाषण्डस्थो दूत्तिज्जन्तक एवोच्यते।

—आवश्यक सूत्र हरिभद्रीय वृत्ति, विभाग १, पृष्ठ १९१-१।

—दूइज्जन्तक नाम के जो पाषण्डस्थ वे ही दूतिज्जन्तक कहे जाते हैं। दूइज्जन्त का अर्थ भ्रमणशील होता है। जो तापस सदा एक स्थान पर न रहकर, घूमते रहते हैं, वे दूइज्जन्तक तापस कहलाते हैं।

२—पापण्डिनो गृहस्था—पाषण्डस्थ का मतलव है, गृहस्थ।

साराश—भ्रमणशील, स्त्री को साथ में रखनेवाले और किसी विद्या द्वारा अपनी आजीविका चलानेवाले तापसो का जो आश्रम है, उसका नाम है—दूइज्जन्तक पाषण्डस्थ आश्रम।

कुलपति राजा सिद्धार्थ का मित्र था। भगवान् महावीर को आते हुए देखकर वह उनके सम्मान के लिए सामने गया। उससे मिलने के लिए भगवान् महावीर ने भी अपने दोनो हाथ बढाये। कुलपति के अति आग्रह पर भगवान् ने एक रात्रि वही व्यतीत की। और, दूसरे दिन जाते हुए कुलपति ने अति आग्रहपूर्वक कहा—"हे कुमारश्रेष्ठ, इस आश्रम को आप किसी दूसरे का न समझें। यहाँ कुछ समय रहकर इस आश्रम को पवित्र करें और यह चातुर्मास यही व्यतीत करो तो बहुत अच्छा।"

कुलपति की आग्रहपूर्ण विनती स्वीकार करके, भगवान् ने आगे विहार किया। और, समीपस्थ स्थानो मे भ्रमण करके चातुर्मास के लिए वापस लौट उसी दूइज्जन्तक नामके आश्रम मे आकर कुलपति के द्वारा बतलायी हुई पर्णकुटी मे रहने लगे।

प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभावना रखने वाले भगवान् महावीर को कुछ समय यहाँ ठहरने के बाद, यह स्वय मालूम होने लगा कि, यहाँ शाति नही मिलेगी। किसी जीव को जरा-सी भी तकलीफ हो, ऐसा भगवान् नही चाहते थे। वे सदा ध्यान मे लीन रहते थे। ससार के समस्त पदार्थों पर यावत् अपने शरीर पर भी—उनको ममत्व भाव नही था। अपने और पराये का भाव तो उनमें किंचित् मात्र भी नही था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उनके जीवन का लक्ष्य था। पर, इन आश्रमवासियो की प्रवृत्ति सर्वथा भिन्न थी। उनको अपनी झोपडी तथा अपनी अन्य वस्तुये प्राण से भी प्रिय थी। वे सदा उनकी रक्षा मे तत्पर रहा करते थे।

बरसात के दिन थे। धीरे-धीरे वर्षा हो रही थी। लेकिन, अभी घास नही उगी थी। अत, क्षुधा से पीडित गायें आश्रम की झोपडियो को खाने के लिए झपटती थी। अन्य सभी परिव्राजक उनको रोकते, भगाते अथवा मारते थे। लेकिन, भगवान् महावीर अपने ध्यान मे ही लगे रहते। तापसो ने कुलपति से भगवान् महावीर की शिकायत की कि, गायें झोपडी तक खा जाती हैं, पर महावीर उनको मारते या भगाते नही। कुलपति ने आकर भगवान् महावीर से अति मधुर वचन मे कहा—"हे कुमारवर, ऐसी उदा-

सीनता किस काम की ? एक पक्षी भी अपने घोसले की रक्षा मे तत्पर रहता है। आप क्षत्रियकुमार होकर क्या अपनी झोपडी की भी रक्षा नही कर सकते ?"

आश्रमवासियो के व्यवहार से भगवान् महावीर का दिल वहाँ से उठ गया और उन्होंने मन मे समझा कि, अब वहाँ रहना उचित नही है, क्योकि उससे आश्रमवासियो को दु.ख होगा। और, मैं अप्रीति का कारण बनूंगा। अत, वर्षाऋतु १५ दिन व्यतीत हो जाने पर भी, भगवान् ने वहाँ से विहार किया और अस्थिग्राम मे जाकर चौमासा व्यतीत किया। और, उस समय भगवान् ने पाँच प्रकार की प्रतिज्ञा ली.—

ना प्रीतिमद्गृहे वास. स्थेय प्रतिमया सह।
न गेहिविनय कार्यो मौन पाणौ च भोजनम्॥

(१) अब से अप्रीतिकारक स्थान मे कभी नही रहूँगा।
(२) सदा ध्यान मे लीन रहूँगा।
(३) सदा मौन रखूँगा—बोलूँगा नही।
(४) हाथ मे भोजन करूँगा।
(५) और, गृहस्थो का विनय नही करूँगा।

(कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पत्र २८८)

वहाँ (अस्थिकग्राय मे) गाँव के बाहर शूलपाणि यक्ष का मन्दिर था। वहाँ रहने के लिए भगवान् ने गाँव वालो की आज्ञा माँगी। तब लोगो ने कहा—"यह यक्ष महादुष्ट है और वह किसी को यहाँ ठहरने नहीं देता।" उस यक्ष की कहानी इस प्रकार है—

"यहाँ पहले वर्धमान नामक एक गाँव था और पास ही वेगवती नामक नदी बहती थी। उसके दोनो किनारो पर कीचड़ था। धनदेव नामक एक व्यापारी उन कीचड वाले रास्ते से ५०० गाडियाँ लेकर आ रहा था। उसकी गाडियाँ कीचड मे फँस गयी। उसके पास एक बडा बलिष्ट बैल था। उसके द्वारा उस व्यापारी ने अपनी कुल गाडियाँ कीचड से बाहर निकलवायी।

"अत्यंत बल करने से उस बैल को खून की कय हुई और वह वहीं गिर पडा। घनदेव को इससे बडा दु ख हुआ। गाँव के लोगो को उसकी सार-सँभाल के लिए धन और चारा देकर और बैल की सुरक्षा का प्रबघ करवा कर वह व्यापारी चला गया। लेकिन, बाद मे गाँव वालो ने उस बैल की खबर भी न ली और वह मर कर व्यन्तर-देव (यक्ष भी ८ व्यतर-देवो मे एक है) हुआ। अपने पूर्वभव का स्मरण करके, उसने गाँव के लोगो पर भीपण उपद्रव करने शुरू किये। सारे ग्राम में 'बीमारी' फैल गयी। लोग कीड़ो की तरह मरने लगे और हड्डियो का ढेर लग गया, जिसके कारण लोग उस गाँव को ही अस्थिक-ग्राम कहने लगे। लोगो ने समझा कि यह किसी देव का उपद्रव है। अत. सब ने मिलकर देव की आराधना की। तब उसने प्रकट होकर कहा—'मैं वही बैल हूँ और मरकर शूलपाणि यक्ष[१] हुआ हूँ। मेरे स्वामी के दिये हुए धन से तुमने मे रीरक्षा नही की। तुम सब मिल कर उसे खा गये, इसलिए मैं तुम्हारे ऊपर रुष्ट हुआ हूँ। अतः, यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो, तो मेरा एक मन्दिर बनवा दो और उसमे मेरी मूर्त्ति स्थापित करा दो। तब ग्राम मे शान्ति स्थापित होगी।'

"शूलपाणि (जिसके हाथ मे त्रिशूल है) के इस आदेश पर हमने वहाँ मन्दिर बनवा दिया है और उसमें एक पुजारी रख दिया है।" यह कथा कह कर लोगो ने भगवान् से कहा कि रात्रि मे यदि कोई पथिक इस मदिर मे ठहरता है, तो वह यक्ष उसको मार डालता है। अत यहाँ रहना उचित नही है।

इस कथा को सुनने के पश्चात् भी जब महावीर ने वहीं ठहरना चाहा तो निरुपाय होकर गाँववालो ने उन्हें अनुमति दे दी। शाम को जब पुजारी जाने लगा, तो उसने भी भगवान् महावीर को सचेत किया कि यहाँ ठहरना ठीक नही है। लेकिन, भगवान् ने उसका कुछ जवाब नही दिया। और, मदिर के एक कोने मे ध्यान मे स्थिर हो गये।

१—जिसके हाथ मे शूल है।

भगवान् महावीर को वहाँ ठहरा हुआ देख, व्यन्तर ने सोचा—"यह कोई मरने की इच्छा से यहाँ आया मालूम होता है। इसने गाँव के लोगो की तथा पुजारी की बात नही मानी और यहाँ आकर खडा हो गया। रात्रि होने दो तो फिर मैं इसकी खबर लेता हूँ।"

ज्यो ही सूर्यास्त हुआ, व्यन्तर ने अपने पराक्रम दिखलाने शुरू कर दिये। सब से पहले, उसने भयकर अट्टहास किया, जिससे सारा जगल कम्पायमान हो उठा। लेकिन, भगवान् महावीर इसमे अपने ध्यान से जरा-भी टस-से-मस नहीं हुए। तब उसने हाथी का रूप धारण किया और दत-प्रहार करने लगा तथा पाँव से रौंदने लगा। फिर भी भगवान् महावीर अपने ध्यान से विचलित नही हुए। तब उसने विकराल पिशाच का रूप धारण किया और तेज नाखूनो और दाँतो से भगवान् के अगो को काटने लगा। लेकिन, महावीर अपने ध्यान मे निश्चल रहे। फिर विषधर सर्प बनकर वह भगवान् को काटने लगा; लेकिन फिर भी वह अविचलित रहे। अत में क्रुद्ध होकर यक्ष ने अपनी दिव्य शक्ति से भगवान् के आँख, कान, नाक, शिर, दाँत, नख और पीठ मे ऐसी भयकर वेदना उत्पन्न की कि, जिससे साधारण मनुष्य तो मृत्यु को प्राप्त हो जाता[1] लेकिन, क्षमाशील महावीर इन वेदनाओ को धैर्यपूर्वक सहन कर गये।

इस प्रकार सारी रात शूलपाणि यक्ष ने भगवान् महावीर को नाना प्रकार की वेदनाएँ दी। लेकिन जब उसने देखा कि, भगवान् महावीर पर उसका कुछ प्रभाव नही पडा तब उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। भगवान् महावीर के दृढ मनोबल से टकराकर उसकी दुष्ट मनोवृत्तियाँ चूर हो गयीं। इसी समय सिद्धार्थ व्यन्तर देव ने प्रकट होकर शूलपाणि की भूल उसे बतायी। और, शूलपाणि क्षमाशील भगवान् के चरणों मे गिरकर अपने अपराधो की क्षमा याचना करने लगा और उनके धैर्य तथा उनकी सहनशीलता का गुणगान करने लगा।

१—एकापि वेदना मृत्युकारण प्राकृते नरे।
अधिसेहे तु ता स्वामी सप्तापि युगपद्भवा ॥१३२॥
—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित, पर्व १०, सर्ग ३, पत्र २३–२।

उसी रात्रि को पिछले प्रहर जब एक मुहूर्त रात बाकी रही, तो भगवान् को निद्रा आ गयी। और, उस समय उन्होंने १० स्वप्न देखे :—

१—अपने हाथ से बढते हुए ताड पिशाच को मारना

२—श्वेत पक्षी को अपनी सेवा करते हुए

३—चित्र-कोकिल पक्षी को अपनी सेवा करते हुए

४—सुगन्धित पुष्पो की दो मालाएँ

५—सेवा मे रत गौ-समुदाय

६—विकसित कमलवाला पद्म-सरोवर

७—समुद्र को तैर कर पार करना

८—उगते हुए सूर्य के किरणो को फैलते हुए

९—अपनी आँतो से मनुषोत्तर पर्वत को लपेटते हुए

१०—मेरु पर्वत पर चढते हुए

रात्रि को शूलपाणि का अट्टहास सुन कर गाँव के लोगों ने भगवान् महावीर के मृत्यु का अनुमान कर लिया था और पिछली रात को जब उसको गीत-गान करते हुए सुना तब लोगो ने समझा कि, यह यक्ष महावीर की मृत्यु की खुशी मे अब आनद मना रहा है।

अस्थिक गाँव मे उत्पल नामका एक निमित्तवेत्ता विद्वान् रहता था वह किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा मे जैन-साधु[1] था। और पीछे से गृहस्थ होकर निमित्त-ज्योतिष से अपनी आजीविका चलाता था।

१—तत्थय उप्पलो नाम पच्छाकडो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो नेमित्ति ओ भोमउप्पातसिमिणतलिक्ख अग सरलक्खण वजण अट्टग महानिमित्त जाणओ जणस्स सोऊण चिंतेति।

—वहाँ पार्श्वनाथ की परम्परा में साधुता स्वीकार करके वाद मे उसका त्याग करके गृहस्थ बना हुआ उत्पल नामका निमित्तक था जो भोम, उत्पाद, स्वप्न, अतरिक्ष, अग, स्वर, लक्षण और व्यजन इन अष्टाग निमित्त का

उत्पल को जब यह मालूम हुआ कि, भगवान् महावीर शूलपाणि यक्ष के मंदिर मे उतरे हैं तो वह सहसा चिंतित हो उठा और सारी रात अनिष्ट आशंकाओ मे व्यतीत करके सुबह होते ही इंद्रशर्मा पुजारी के साथ भगवान् महावीर को देखने के लिए गया। वहाँ जाकर उन सब ने देखा कि, भगवान् महावीर के चरणो मे पुष्प गंधादि सुगन्वित पदार्थ चढे हुए थे। इसको देख-कर गाँव के लोगो और उत्पल नैमित्तक के आनन्द की कोई सीमा न रही। हर्षावेश मे गगनभेदी नारे लगाते हुए, वे भगवान् के चरणो मे गिर पड़े और बोल उठे—"हे देवार्य! आपने देवबल से इस क्रूर-यक्ष को शात कर दिया। यह बहुत ही अच्छा हुआ।"

भगवान् के स्वप्नों का[1] फलादेश करते हुए वह उत्पल नामक नैमित्तिक[1] बोला—"भगवान्, आपने जो पिछली रात को स्वप्न देखे हैं, उनका इस प्रकार है —

(१) आप मोहनीय कर्म का अंत करेंगे।

(२) शुक्ल ध्यान आप का साथ नही छोडेगा।

(३) आप विविध ज्ञानमय द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे।

(४) ?

१—भगवती सूत्र सटीक, शतक १६, उद्देसा ६, सूत्र ५८०, तृतीय खंड पत्र १३०५, १३०६, कल्पसूत्र सबोधिका टीका पत्र २९४।

आवश्यकचूर्णि, पत्र २७४,

त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक १४७-पत्र २४-१.

[पृष्ठ १७१ की पादटिप्पणि का शेषांश]

महावेत्ता था—लोगो के मुख से सुनकर इस प्रकार (भगवान् की) चिंता करने लगा।

—आवश्यकचूर्णि, पत्र २७३।

(५) श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकात्मक चतुर्विध सघ आपकी सेवा करेगा

(६) चार प्रकार के देव आपकी सेवा मे उपस्थित रहेगे।

(७) ससार-समुद्र से आपका निस्तार होगा।

(८) आप केवलज्ञान को प्राप्त करेंगे।

(९) स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तक आपका यश फैलेगा।

(१०) सिंहासन पर बैठ कर आप देव और मनुष्यो की सभा मे धर्म की प्रस्थापना करेंगे।

"इस प्रकार नव स्वप्नो का फल मेरी समझ मे आ गया, लेकिन चौथे स्वप्न मे आपने जो सुगन्धित पुष्पो की दो मालाएँ देखी, उसका फल मेरी समझ मे नही आया।"

चौथे स्वप्न का फल बतलाते हुए, भगवान् ने कहा—"उत्पल, मेरे चौथे स्वप्न का फल यह होगा कि सर्व विरति (साधु धर्म) और देश विरति (श्रावक धर्म) रूप दो प्रकार के धर्म का मैं उपदेश करूँगा।"

अपना प्रथम चातुर्मास भगवान् ने १५-१५ उपवास के आठ अर्द्धमास तपश्चर्या द्वारा व्यतीत किया।[1]

---

१ आवश्यक चूर्णी, पत्र २७४, २७४

हस्तिग्राम

१—अस्थिक ग्राम और हत्यिगाम भिन्न-भिन्न नही हैं। दोनो एक ही स्थल का द्योतन करते हैं। उसके लिए हम यहाँ कुछ प्रमाण लिख रहे हैं—

(अ) यही हत्थिगाम सम्भवत अस्थिक ग्राम है। बौद्ध ग्रन्थों मे वर्णित 'हत्थिगाम' और जैन-साहित्य मे वर्णित 'अस्थिकग्राम' मे थोडा सा उच्चारण भेद है। परन्तु दोनो साहित्यो मे इसे विदेह के अन्तर्गत माना है। और वैशाली के निकट होना बताया है।

—'वीर-विहार-मीमांसा', (हिन्दी) पृष्ठ ४

(आ) बहुत-से आलेखो में हस्तिपद का उल्लेख कुछ ब्राह्मण-परिवारो की मूलभूमि के रूप मे मिलता है। यह कहाँ था, यह नही कहा जा सकता। परन्तु इससे वैशाली (उत्तर विहार मे स्थित मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ) के निकट वर्णित हस्तिग्राम का ध्यान हो आता है।

—'इडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली', भाग २०, अक ३, पृष्ठ २४१।

(इ) बौद्धग्रन्थो के 'हस्तिगाम' और जैन-वाङमय के 'अस्थिकगाम' एक ही हैं। वस्तुत उच्चारण-भेद से ही 'अस्थिक' का 'हत्थि' हो गया है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह पूर्णतया प्रमाणित है। सस्कृत 'अस्थि' का पहले 'अट्ठी' होता है फिर 'हड्डी' हो जाता है। 'अ' के स्थान पर 'ह' होना आरम्भ मे कई स्थानो पर देखा जाता है। 'ओष्ठ' का 'होठ' हो जाता है। 'अमीर का 'हमीर' हो जाता है।

ब्रह्मनाल, काशी
ता १-१०-४६

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

(उ) सोमवशी भवगुप्त प्रथम के ताम्रपत्र में जो हस्तिपद नामक स्थान आया है, वह भी सम्भवत हत्थिग्राम है।

—वीर-विहार-मीमासा (हिन्दी), पृष्ठ ३

इस 'हस्तिपद' या 'हस्तिग्राम' का अस्तित्व ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी तक था, क्योकि शैलेन्द्रवशीय जावा, सुमात्रा और मलयदेश के राजा वालपुत्रदेव—जो नालदा मे महाविहार बनाना चाहते थे—ने पाल-वश के महान राजा देवपाल के पास दूत भेज कर उनसे पाँच गाँव माँगे थे। देवपाल बौद्ध धर्म का सरक्षक था। अत उसने राजा वालपुत्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली और पाँच गाँव भेंट किये। उन पाँच गाँवो मे नातिका और हस्ति (हस्तिग्राम) का स्पष्ट उल्लेख है—देखिये 'हिस्ट्री आव बेंगाल', वाल्यूम १ पृष्ठ १२१-६७१ सम्पादक आर० सी० मजूमदार तथा नालदा ऐंड इट्स एपीग्राफिक मिटीरियल पृष्ठ ९७, १००।

वैशाली से भोगनगर जाते हुए, रास्ते मे 'हस्थिग्राम' पडता था और वह वज्जि प्रदेश मे स्थित था।

'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स,' भाग २, पृष्ठ १३१८

बुद्ध के विहार मे हत्थिगाम वैशाली से दूसरा पडाव था और भगवान् महावीर के विहार मे क्षत्रियकुण्ड से हत्थिगाम (अस्थिकग्राम) चौथा पडाव था।

अट्ठिगामस्स पढमं वद्धमाणय णामं होत्था

—आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ २७२

अर्थ—अस्थिकगाँव का नाम पहले वर्द्धमान था।

शूलपाणि नामक यक्ष द्वारा मारे गये वहुत से मनुष्यो की अस्थियाँ यहाँ एकत्र हो जाने से, इसका नाम 'अस्थिकग्राम' पड गया। क्योकि 'अस्थि' माने 'हड्डी' और 'ग्राम' याने 'समूह' इस प्रकार 'अस्थिकग्राम' का अर्थ 'हड्डीयो का समूह' हुआ।

'वर्धमान' नामधारी नगर के निम्न लिखित उल्लेख पाये जाते हैं—

१—'कथासरित्सागर' (अध्याय २४, २५) मे एक वर्द्धमान का उल्लेख मिलता है जो प्रयाग और वाराणसी के बीच मे स्थित था। 'मारकण्डेय पुराण' तथा 'वेताल-पचविशति' मे भी इसका उल्लेख मिलता है।

२—शाहजहाँपुर से २५ मील दूर बाँसखेडा मे प्राप्त ताम्र-पत्र मे वर्द्धमान के लिए वर्द्धमान-कोटि का उल्लेख आया है (देखिये मारकण्डेय पुराण, अध्याय ५८)। यहाँ ई० पूर्व ६३८ मे हर्षवर्द्धन ने पडाव डाला था। यह वर्द्धमान-कोटी आज दिनाजपुर जिले मे 'वर्द्धमान-कोटी' के नाम से विख्यात है। देवीपुराण अध्याय ४६ में वर्द्धमान का उल्लेख वग से पृथक स्वतन्त्र देश के रूप मे आया है।

३—स्पेंस हार्डी-लिखित 'मैनुअल आव बुद्धिज़िम' मे दाँता के निकट वर्द्धमान के अवस्थित होने का उल्लेख है (पृष्ठ ४८०)।

४—'जर्नल आव एशियाटिक सोसायटी आव वेंगाल' १८८३ मे 'ललितपुर-इस्क्रिप्शन' शीर्षक लेख मे एक वर्द्धमान का उल्लेख है, जो मालवा मे था।

५—एक वर्द्धमान अथवा वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र मे स्थित है, जो आज कल 'वडवान' के नाम से विख्यात है। यहाँ १४२३ ई० मे मेरुतुङ्ग नामक जैन विद्वान ने 'प्रवन्ध-चिन्तामणि' की रचना की थी।

६—एक वर्द्धमानपुर का उल्लेख दीपवश (पृष्ठ ८२) में आया है इसी को बाद के आलेखो में 'वर्द्धमान-भुक्ति' या वर्द्धमान नाम से लिखा गया है। यह कलकत्ता से ६७ मील दूरी पर स्थित वर्दवान नगर है।

यह अस्थिकग्राम जिसका पूर्व नाम वर्द्धमान था, इन सभी से भिन्न है। क्योंकि ये सभी वर्द्धमान विदेह देश के वाहर हैं और अस्थिकग्राम जहाँ भगवान महावीर ने अपना प्रथम चतुर्मास विताया था, विदेह देश में आया हुआ था। उसी का दूसरा नाम 'हस्तिग्राम' है।

दीनार

'उक्त देवदूष्य का मूल्य १ लाख दीनार होगा'—इस उक्ति के समर्थन में हम नीचे कुछ प्रमाण दे रहे हैं.—

(१) दीनार लक्षं मूल्येऽस्य भविष्यति विभज्य तत्।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक १४, पत्र १९-२।

दीणार सयसहस्सं लहिही व विक्कयम्मि तो तुज्झं।

—महावीरचरिय नेमिचन्द्र सूरि-रचित, पत्र ३७–१, गाथा ६७।

पडिपुण्णं व दीणार लक्ख मुल्लं.......।

—श्रीमहावीर चरित्रम् (प्राकृत) गुणचन्द्र गणि-रचित, पत्र १४४–१।

जैन-आगमो मे 'दीनार' शब्द अन्य प्रसगो मे भी आता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक (पूर्व भाग) पत्र १०५–२ में तथा जीवाजीवाभिगम् सूत्र सटीक पत्र १४७–२ में कल्पवृक्षो के प्रसग मे दीणारमालिया शब्द आया है। कल्पसूत्र में स्वप्न के प्रसग में जहाँ लक्ष्मी का वर्णन आता है, वहाँ भी 'दीणारमाल' शब्द आया है (सूत्र ३६, सुबोधिका टीका, पत्र ११६)। मालिका के इन प्रसगो मे 'दीणार' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है।

वृहत्कल्पसूत्र सटीक तथा सभाष्य (द्वितीय विभाग, पृष्ठ ५७४) में दीणार के सम्बन्ध मे निम्नलिखित उल्लेख अ या है—

पूर्वदेशे दीनारः।

अर्थात् दीनार पूर्व देश का सिक्का था।

आवश्यक की हारिभद्रीय टीका मे पत्र १८५–१ मे तथा ४३०–१ पर तथा आवश्यक निर्युक्ति दीपिका प्रथम विभाग) में (पत्र १८३–१) भी दीणार शब्द आया है।

पउमचरिय मे भी दीणार का उल्लेख है। अंगविज्जा मे

सुवण्णमासको व त्ति तहा रयय मासओ।
दीणारमासको व त्ति तधोणाण च मासको॥

—पृष्ठ ६६, गाथा १८५।

तथा—

सुवण्णकाकणी व त्ति तधा मासककाकणी।
तधा सुवण्णगुञ्ज त्ति दीणारि त्ति व जो वदे॥

—पृष्ठ ७२, गाथा ३६६।

गाथाएँ आयी हैं। इनमे 'दीनार' का स्पष्ट वर्णन है।

वसुदेवहिंडी मे पृष्ठ २८९ पर दीनार शब्द आया है।

समराइच्चकहा मे भी दीणार का उल्लेख आया है, इसे डाक्टर याकोवी ने कथासार मे पृष्ठ ४८, ५७, ७८ तथा १०१ मे लिखा है।

'दीणार' शब्द वैदिक-ग्रथो मे भी आता है—

(१) 'हरिवश पुराण' मे भी दीनार का उल्लेख है।

(२) कार्षापणो दक्षिणस्यां दिशि रूढः प्रवर्तते।
पणैर्निबद्ध पूर्वस्यां षोडशैव पणः स तु॥११६॥
पचनद्या· प्रदेशे तु या सज्ञा व्यावहारिकी।
कार्षापण प्रमाण तु निबद्धमिह वै तया॥११७॥
कार्षापणोऽन्धिका ज्ञेयश्चत (स्रोव?स्तु) धानकम्।
ते द्वादश सुवर्ण स्याद् दीना(रा?र)श्चित्रक. स्मृतः॥११८॥

—नारदस्मृति १८ अ०, स्मृति सदर्भ, खड १, पृष्ठ ३३०

(३) 'प्राची काचनदीनार चक्रे इव' ऐसा उल्लेख सुबन्धु-रचित वासवदत्ता (५-वीं शताब्दी) मे आता है, जिससे स्पष्ट है कि, यह सोने के सिक्के का नाम है।

(४) दशकुमार चरित्र मे (द्वितीय वृत्ति, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ६७) मे

मया जितश्चासौ षोडश सहस्राणि दीनाराणाम् उल्लेख आया है।
(५-६) पञ्चतन्त्र (हर्टल-सम्पादित) मे पृष्ठ १०९ पर दीनारसहस्रं तथा तंत्राख्यायिका (हर्टल-सम्पादित) मे पृष्ठ ४६ तथा ४७ पर दीनार शब्द कई बार आया है।

(७) राजतरगिणी (आर० एस० पण्डित का अनुवाद) मे तरग ३, श्लोक १०३, (पृष्ठ ६७) तथा तरग ५, श्लोक २०५ (पृष्ठ १७४) में भी दीनार शब्द आता है।

प्राचीन कोषो में भी 'दीनार' शब्द आया है। अभिधान चिन्तामणि कोष (भूमिकाण्ड, श्लोक ११२) मे स्वय हेमचन्द्राचार्य ने टीका मे सिक्को के वर्णन मे दीनारादि लिखा है। वैजयन्ती कोष (पृष्ठ १८९, श्लोक ४१) मे भी 'दीनार' शब्द आया है तथा कल्पद्रु कोष (खंड २, पृष्ठ ११३) में दीनार और निष्क शब्द समानार्थी बताये गये हैं।

मुद्राशास्त्रियो ने 'दीनार' का परिचय इस रूप मे दिया है। डा० वासुदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सिक्के' मे (पृष्ठ १६-१७) लिखा है —

"रोम-राज्य के सोने के सिक्के 'दिनेरियस' कहे जाते थे, उन्ही के नाम पर गुप्त सम्राटो ने 'दीनार' रखा। गुप्त-लेखो तथा साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है। साँची के एक लेख मे दीनार-दान देने का वर्णन मिलता है। 'पंचविंशति दीनारान्' तथा 'दत्ताः दीनारान्', 'दीनाराः द्वादश' आदि लेखो मे प्रयुक्त मिलते हैं। गुप्त राजा बुधगुप्त (छठी शताब्दी) के दामोदरपुर-ताम्रपत्र मे 'दीनार' सिक्के के लिए प्रयोग किया गया है। गुप्तकाल मे दीनार के अतिरिक्त 'सुवर्ण' शब्द का भी प्रयोग सिक्के के लिए आया है। परन्तु, दीनार का प्रयोग बहुत समय तक प्रचलित रहा। दसवी शताब्दी के मुसलमान यात्रियो सुलेमान तथा अल्-मसूदी ने 'दीनार' शब्द का प्रयोग सिक्को के लिए किया है।"

और, पृष्ठ २५ पर नारद, कात्यायन तथा बृहस्पति-स्मृतियो का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"चार कार्पापण एक अंडिका के वरावर था और चार अडिका एक 'सुवर्ण' अथवा 'दीनार' के वरावर मानी जाती थी।"

जैन-ग्रन्थो मे 'सुवण्ण' शब्द भी आता है। यह भी एक सोने का सिक्का था। इसका प्रमाण अनुयोगद्वार (सूत्र १३२, पत्र १५५–२, १५६–१) की टीका मे दिया है:—

"पोडष कर्णमापका एकः सुवर्ण."

अर्थात् १६ मापक का एक सुवर्ण होता था। भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशा ५, मे आता है:—

अशीति गुंज प्रमाणे कनके

अर्थात् ८० गुंज की वजन का 'कनक'। 'सुवण्ण' के सम्बन्ध मे मनुस्मृति में लिखा है:—

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम्।
पञ्च कृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥

—अध्याय ८, श्लोक १३४।

६ गौर सर्षप का एक मध्यम, ३ जव की एक रत्ती, ५ रत्ती का एक मासा और १६ मासे का एक सुवर्ण्ण होता है।

ठीक ऐसा ही परिमाण अर्थशास्त्र मे भी दिया है:—

धान्यमाषा दश सुवर्णमापक पञ्च वा गुञ्जाः ॥२॥
ते षोडश सुवर्णकर्षो वा ॥३॥
चतुः कर्ष पलकम् ॥४॥

—कौटिल्य अर्थशास्त्र २, १९, पृष्ठ १०३

—दश धान्यमाष (उडद के दाने) का सुवर्णमाष होता है और इतने ही का पांच गुंजा (रत्ती) ॥२॥ सोलह माष का एक सुवर्ण अथवा एक कर्ष होता है ॥३॥ चार कर्ष का एक पल होता है ॥४॥ यह सुवर्ण तोलने के वाटो का कथन किया गया है। इसको निम्न निर्दिष्ट रीति से दिखाया जा सकता है:—

१० उर्द के दाने = १ सुवर्ण माषक अथवा ५ रत्ती
१६ माषक = १ सुवर्ण अथवा १ कर्ष
४ कर्ष = १ पल

—कौटलीय अर्थशास्त्र (हिन्दी-अनुवाद, प्रथम भाग) उदयवीर शास्त्री-अनूदित, पृष्ठ २२६

इस प्रकार जैन-ग्रन्थो मे स्वर्ण का जो माप है, वह इतर ग्रन्थो से भी पुष्ट हो जाता है। और, 'सुवर्ण' सोने का सिक्का था, इसका भी जैन-साहित्य मे स्पष्ट उल्लेख है —

उत्तराध्ययन की नेमिचन्द्राचार्य की टीका के आठवें अध्याय (पत्र १२५-१) मे कपिलमुनि की कथा मे 'सुवन्नसय मग्गामि' उल्लेख से 'सुवर्ण' का सिक्का होना स्पष्ट रूपमे प्रकट है।

जैन-आगमो मे सोने के सिक्को के लिए एक और शब्द 'हिरण्ण' आता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक ५।१२३, नायाधम्म कहा ८, आदि ग्रन्थो मे इसका उल्लेख आता है। यह हिरण्ण भी स्वर्ण-मुद्रा थी। आचाराग मे वार्षिक दान के प्रकरण मे (द्वितीय श्रुतिकध, पत्र ३६०-१) 'हिरण्ण' शब्द आया है। इसके अनुवाद में रवजीभाई देवराज ने (पृष्ठ ३७ पर) 'सोना-मोहर' लिखा है। यह ठीक है। मेरा मत है कि दीनार, हिरण्ण और सुवण्ण शब्द समानार्थी हैं।

द्वितीय वर्षावास

प्रथम चातुर्मास अस्थिक ग्राम मे समाप्त करके शरद ऋतु मे (मार्गशीर्ष वदी १ के दिन) भगवान् ने वहाँ से विहार किया और मोराकसन्निवेश([1]) मे पधारे। वहाँ वे बाहर उद्यान मे ठहरे।

यहाँ पर अच्छन्दक नाम के पाखण्डी लोग थे। उनमे से एक अच्छन्दक उस गाँव में गया। वह ज्योतिष, वशीकरण आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाता था। भगवान् महावीर की महत्ता जान जाने के वाद लोग अच्छन्दक से मुँह मोडने लगे और भगवान् महावीर के पास आने लगे। एक दिन उस अच्छन्दक ने आकर भगवान् से प्रार्थना की—"हे देव, आप अन्यत्र निवास कीजिये, क्योंकि आपकी महिमा तो सर्वत्र है। मैं यदि अन्यत्र जाऊँ तो मेरी आजीविका नही चलेगी।" ऐसी परिस्थिति मे भगवान् ने वहाँ रहना उचित नही समझा और वहाँ से वाचाला की ओर विहार किया।

वाचाला नामके दो सन्निवेश थे, एक दक्षिण-वाचाला और दूसरा उत्तर-वाचाला। दोनो सन्निवेशो के वीच में सुवर्णवालुका और रूप्यवालुका नाम की दो नदियाँ वहती थीं। भगवान् महावीर दक्षिण-वाचाला होकर उत्तर-वाचाला जा रहे थे। उस समय उनके दीक्षा के समय का आधा दूष्य सुवर्ण-वालुका नामक नदी के किनारे कटको में फँस कर गिर पडा। भगवान् ने उसकी ओर एक दृष्टि डाली और आगे वढ गये। तव से ही भगवान् यावज्जीवन अचेलक रहे। [2]

देवदूष्य वस्त्र की ही लालच से सोम नाम का ब्राह्मण जो भगवान् के पीछे-पीछे वर्ष एक और एक मास तक घूमता रहा, उस आधे देवदूष्य को लेकर तुन्नवाय (रफूगर) के पास गया। तुन्नवाय से उसे अखड वनवा कर वह उसको वेचने के लिए राजा

१—आवश्यक चूर्णी, प्रथम भाग, पत्र २७५

२—आवश्यक चूर्णी, प्रथम भाग, पत्र २७६

नन्दिवर्द्धन [1] के पास ले गया। नन्दिवर्द्धन ने उसे देखकर पूछा—"यह देवदूष्य आपको कहाँ मिला ?" उस ब्राह्मण ने सारी कहानी कह सुनायी। इससे हर्पित हो राजा नन्दिवर्द्धन ने एक लाख दीनार देकर उसे खरीद लिया।

उत्तर वाचाला जाने के लिए दो मार्ग थे। एक कनकखल आश्रमपद के भीतर होकर जाता था। और दूसरा आश्रम के वाहर होकर आश्रम के भीतर का मार्ग सीधा था, लेकिन निर्जन और भयानक था। और, आश्रम के वाहर का मार्ग लम्बा था, पर निरापद होने के कारण वही मुख्य मार्ग था।

भगवान् आश्रमपद के भीतर के मार्ग से आगे वढे। भगवान् थोडी ही दूर चले होंगे कि, उन्हे रास्ते मे कुछ ग्वाले मिले। उन्होंने भगवान् से कहा—"देवार्य, यह मार्ग ठीक नही है। रास्ते मे एक अति दुष्ट 'दृष्टिविष' नाम का सर्प रहता है, जो पथिको को भस्म कर देता है। अच्छा हो, आप वापस लौट कर वाहर के मार्ग से जायें।"

भगवान् महावीर ने उन लोगो की वात पर कुछ ध्यान नही दिया और और वे उसी मार्ग से आगे वढ कर यक्ष के देवालय के मडप मे जाकर ध्यानारूढ हो गये।

यह सर्प पूर्व जन्म मे तपस्वी साधु था। एक दिन पारने के लिए एक वाल-शिष्य को साथ मे लेकर भिक्षा के लिए वस्ती मे गया। रास्ते मे इर्यासमिति [2] पूर्वक चलने पर भी एक मण्डूकी पाँव के नीचे कुचल गयी। उस शिष्य ने उसकी आलोचना [3] के लिए ध्यान आकृष्ट कराया। इस पर

१—गुणचन्द्र-रचित महवीर चरित्र, पत्र १५८-२

२—किसी भी जतु को क्लेश न हो एतदर्थ सावधानतापूर्वक चलना 'इर्यासमिति' है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य-टीका सहित, भाग २ अध्याय ९, सूत्र ५. पृष्ठ १८६। इस सम्बन्ध मे दशवैकालिक मे आया है।

पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिंचरे वज्जेंतो वीयहरियाइ पाणे य दगमट्टिया (अ० ३, उ० १, गा० ३)

—अर्थात् साधु को आगे की ४ हाथ भूमि देखकर चलना चाहिए।

३—आलोचना अभिविधिना सकलदोषाणालोचना—गुरुपुरत: प्रकाशना आलोचना—भगवती सूत्र, शतक १७ वाँ, उद्देश्य ३, पत्र १३३८—२ अभयदेव सूरी कृत टीका।

तपस्वी ने उत्तर दिया—"ये सब मण्डूकियाँ जो मरी हैं, उन सब को क्या मैंने ही मारा है?" शिष्य वय में छोटा होने बावजूद बड़ा सहनशील था। अतः चुप हो गया। 'गुरुजी सन्ध्या समय प्रतिक्रमण के वक्त आलोचना कर लेंगे'—ऐसा समाधान उसने अपने मन में कर लिया। जब प्रतिक्रमण के समय गुरु ने आलोचना नहीं की, तो शिष्य ने पुनः स्मरण कराया। तपश्चर्या से साधु का शरीर कृश हो गया था; लेकिन उसके कषाय मंद नहीं हुए थे। अतः तपस्वी डंडा लेकर मारने दौड़ा। लेकिन, बीच में खम्भे से टकराने से तपस्वी की मृत्यु हो गयी। मर कर वह ज्योतिष्क देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर कनकखल-नामके आश्रमपद में पाँच सौ तपस्वियों के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से कौशिक नाम से उत्पन्न हुआ। कौशिक-गोत्र का होने से और अत्यन्त क्रोधी होने के कारण, उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया। अपने पिता के निधन के बाद, वह उस आश्रम का मालिक हुआ। वह सदा आश्रम में घूमता और एक पत्ता भी नहीं तोड़ने देता। यदि कोई इस प्रकार प्रयास करता, तो वह पत्थर या परशु लेकर उसे मारने दौड़ता। उसकी इस निर्दयता को देख कर सब तपस्वी वहाँ से चले गये। एक दिन चण्डकौशिक कहीं गया था। उस समय श्वेताम्बी के राजकुमार बाग में जाकर फल-फूल तोड़ने लगे। जब चण्डकौशिक लौटा तो गोपों ने उसे बताया कि उद्यान में कुछ राजकुमार गये हैं। चण्डकौशिक तीक्ष्ण धार वाली (कुठार) कुल्हाड़ी लेकर राजकुमारों के पीछे दौड़ा। राजकुमार तो भागे; पर तपस्वी का पाँव फिसल गया। वह गड्ढे में गिर पड़ा। गिरने से कुल्हाड़ी का फाल सीधा हो गया और चण्डकौशिक उसी पर गिरा। उसका सर दो टुकड़ा हो गया। इस प्रकार उसकी मृत्यु हो गयी। वही चण्डकौशिक मर कर दृष्टिविष नाम का सर्प हुआ[1]।

सारे दिन आश्रमपद में घूमकर वह सर्प जब अपने स्थान को वापस लौटा तो उसकी नजर ध्यानावस्थित भगवान् पर पड़ी। चकित होकर वह सोचने लगा—"इस निर्जन में यह मनुष्य कहाँ से आया? लगता है कि, मनुष्य इसे यहाँ परोट करने आता है।" ऐसा विचार कर के, उसने अपनी

१—आ० चू०, प्रथम भाग, पत्र २७८।

विषाक्त दृष्टि भगवान् के ऊपर डाली। साधारण प्राणी तो उस सर्प के दृष्टि-पात् मात्र से ही भस्म हो जाता था। पर, भगवान् पर उसका कुछ भी प्रभाव नही पडा। उस प्रकार उसने दूसरी और तीसरी बार भी दृष्टि डाली। पर निष्फल रहा। अव उस सर्प का क्रोध एक दम बढ गया। आग-बबूला होकर उसने भगवान् के पाँव मे काट लिया। इससे भगवान् के चरणो से रक्त के वजाय दूध की धारा वह निकली। इस विचित्रता से चण्डकौशिक स्तब्ध रह गया। और, दूर हट कर अपने विप के प्रभाव की प्रतीक्षा करने लगा। पर, भगवान की शाति और स्थिरता मे जरा भी अतर नही आया। उसने दो बार और भगवान् को काटा, पर निष्फल रहा। इस घटना से उसका क्रोध और अभिमान दोनो ही नष्ट हो गये। उसी समय अपना ध्यान समाप्त करते हुए भगवान् महावीर बोले—उवसम भो चण्डकोसिया! (चडकौशिक शान्त हो!)।

भगवान् के मुख से अपना पूर्व नाम सुन कर, उसे अपनी पुरानी कथा स्मरण हो आयी। वह भगवान् के चरणो में आ गिरा, अपने पापो के लिए प्रायश्चित करने लगा और अनशन का व्रत ले लिया। सर्प को इस तरह पडे देख कर ग्वाले पत्थर से मारने लगे। ग्वालो ने जव देखा कि, वह सर्प किंचित् मात्र हिलता-डुलता नही, तो वे निकट आये और भगवान् के चरणो मे गिर कर उनकी महिमा का गान करने लगे। ग्वालो ने सर्प की पूजा की। (घयविकिरिणओ) घी वेचने वाली जो औरतें उधर से जाती तो वे उस सर्प को घी लगाती और स्पर्श करती। फल यह हुआ कि, सर्प के शरीर पर चीटियाँ लगने लगी। इस प्रकार सारी वेदनाओ को समभाव से सहन करके वह सर्प आठवें देवलोक सहस्रार मे देवरूप से उत्पन्न हुआ।

भगवान् ने आगे विहार किया और उत्तर वाचाला मे नागसेन के घर पर जाकर पन्द्रह उपवास के तप का पारना खीर से किया। वहाँ 'पञ्चदिव्य' प्रकट हुए। नागसेन का लडका १२ वर्षो से वाहर चला गया था। अक-स्मात् वह भी उसी दिन घर वापस लौटा।

उत्तर-वाचाला से भगवान् श्वेताम्वी नगरी गये। श्वेताम्वी-नगरी

के प्रदेशी राजा को भगवान के आगमन की बात मालूम होते ही, वह अधि-कारी वर्ग एव सैन्यबल के साथ भगवान के सम्मुख गया और अत्यन्त आदर पूर्वक उनका सम्मान एव वदन किया।[१]

केकय-राज्य

जैन-ग्रथो मे श्वेताम्बी को केकय की राजधानी बताया गया है (बृहत्कल्पसूत्र सभाष्य और सटीक, विभाग, ३, पृष्ठ ९१३; प्रज्ञापनासूत्र मलयगिरि की टीका सहित पत्र ५५-२, सूत्रकृताग सटीक प्रथम भाग पत्र १२२, प्रवचन सारोद्धार पत्र ४४६ (१-२)। यह केकय देश आर्य-क्षेत्र मे बताया गया है। आर्य-क्षेत्र में जैन लोग २५॥ राष्ट्र मानते हैं। उनमे केकय की गणना २५॥-वें राष्ट्र के रूप मे की गयी है—अर्थात् केवल आधा राज्य माना गया है।

पाणिनि में केकय-जनपद झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का नाम बताया गया है। उसी मे खिउडा की नमक की पहाडी है। वहाँ के निवासी (क्षत्रिय गोत्रापत्य) केकय कहलाते थे (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ६७) . 'वाणवि' की सीध मे सिन्धु के पूरव की ओर केकय जनपद (७।३।२) था, जिसमे सैंधव (सेंधा नमक) का पहाड था, जो आधुनिक झेलम, गुजरात और शाहपुर जिलो का केन्द्रिय भाग है। (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ५१) इससे स्पष्ट है कि, केकय देश वस्तुत पजाब मे था। इससे सकेत इस दिशा में मिलता है कि, श्वेताम्बी जो आधा केकय देश था, वह वस्तुत मूल केकय का—जो उत्तरापथ मे पडता था—उपनिवेश था।

हमारी पुष्टि इस बात से भी होती है कि, श्वेताम्बी का जो राजा बताया गया है, उसका नाम जैन-ग्रथो मे प्रदेशी (रायपसेणी, पयेसीकहा) और बौद्ध-ग्रथो मे पायासी, (दीर्घनिकाय, भाग २, पृष्ठ २३९) लिखा है। यह 'प्रदेशी' शब्द ही इस बात का द्योतन करता है कि वह वहाँ का निवासी नही था—बाहर का रहने वाला था। बौद्ध-ग्रथो मे आता है कि, पसेन्दी ने पायासी को श्वेताम्बी के निकट का भूभाग दे दिया था (डिक्शनरी आव

१—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १० सर्ग ३, श्लोक २८६ पत्र २९-१।

पाली प्रापर नेम्स, भाग २, पृष्ठ १८७) पर जैन-ग्रथो मे उसे स्वतत्र राज्य बताया गया है। बौद्ध-ग्रथो में उसे राजन्य' लिखा है ('पायासि राजञ्ञो' दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ २३६) दीघनिकाय के हिन्दी-अनुवादको राहुल साँकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यपको 'राजन्य' शब्द का अर्थ नही लगा। उन्होने उसे सीधा 'राजन्य' ही लिख दिया। और, एक स्थान पर उसका अर्थ माडलिक राजा लिखा। (दीघनिकाय, हिन्दी, पृष्ठ १९९) इससे अधिक भयकर 'भूल डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स मे है' जहाँ 'राजन्य' का अर्थ 'चिफ्टेन' लिखा है। पर, 'राजन्य' वस्तुत. क्षत्रियो का एक कुल था। जैन-ग्रन्थो में उसे ६ कुलो मे गिनाया गया है (देखिए वैशाली, हिन्दी पृष्ठ २६) आवश्यक निर्युक्ति (पृष्ठ ३१, गाथा १३३) मे भी 'राजन्य' को क्षत्रिय का एक कुल बताया गया है —उग्गा भोगा रायण्णा खत्तिआ

आवश्यक चूर्णि (पत्र २७८) में आता है "तस्स य अदूरे सेयविया नाम नगरी"—यह श्वेताम्बी नगरी कनकखल आश्रमपद के पास ही थी। यह श्वेताम्बी सावत्थी से राजगृह जाने वाले मार्ग पर अगला पडाव था। रायपसेणी मे इसे सावत्थी के निकट बतलाया गया है। फाहयान और बौद्ध-ग्रन्थो मे भी इसकी स्थिति सावत्थी के निकट कही गयी है। कुछ लोग आधुनिक सीतामढी को श्वेताम्बी मानते हैं, परन्तु जैन और बौद्ध दोनो मतो से यह स्थापना अनुकूल नही पडती, क्योकि सीतामढी तो सावत्थी से २०० मील दूर है। मि० वोस्ट ने बलेदिला को प्राचीन श्वेताम्बी माना है जो सहेत-महेत से १७ मील दूर और बलरामपुर से ६ मील है।

वहाँ से भगवान् ने सुरभिपुर की ओर विहार किया। सुरभिपुर जाते हुए, मार्ग मे भगवान् को रथो पर जाते हुए पाँच नैयक (नयक –नये कुशपु-शब्दार्थ चिंतामणि, भाग २, पृष्ठ १३४०) राजे मिले। उन सब ने भगवान् की वदना की। ये राजा प्रदेशी राजा के पास जा रहे थे।[1]

१—आ० चू०, प्रथमभाग, पत्र २८०, गुणचन्द्र-रचित महावीरचरित्र, पत्र १७७-२।

आगे विहार करते हुए, रास्ते मे गंगा नदी आयी। गंगा का पाट विशाल था। वह समुद्र की तरह हिलोरें लेती हुई वह रही थी। नदी पार करने के लिए भगवान् सिद्धदत्त की नौका मे बैठे। डोगी मे अन्य यात्रियो मे खेमिल नामक एक नैमित्तक भी था। नौका आगे बढते ही, दाहिनी ओर एक उल्लू बोला। उसको सुनते ही खेमिल ने कहा—"यह बड़ा अपशकुन हुआ। जरूर कोई बवडर होगा, लेकिन इन महापुरुष के प्रभाव से इस महान् आपत्ति का निवारण होगा।"

नौका गंगा के मध्य मे पहुँची। ठीक उसी समय सुदंष्ट्र नामक देव ने भगवान् को नाव मे बैठे देखा। उसे यह बात याद आ गयी कि, उन्होंने त्रिपृष्ठ के भव में सिंह के रूप मे उसे मार डाला था। अत उसका बदला लेने के लिए उसने नदी में भयंकर तूफान खड़ा किया। जोर से हवा के झोंके आने लगे। नौका भँवर मे चक्कर काटने लगी। यात्री रक्षा के लिए त्राहि-त्राहि करने लगे। मृत्यु समीप आयी देख, सभी अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। फिर भी, भगवान् महावीर उस नौका के कोने मे ध्यान लगाकर मेरु की तरह निश्चल बैठे रहे। तूफ़ान देखकर कम्बल-शम्बल नामक नागकुमार (एक भुवनपति देव) देवता का आसन विचलित हुआ और उन्होंने तूफ़ान शांत कर दिया।

कुछ समय बाद तूफान शांत हो गया। नौका किनारे पर आ गयी। नया जन्म समझकर यात्री जल्दी-जल्दी नाव से उतरने लगे। भगवान् महावीर भी नाव से उतर कर गंगा के किनारे चलते हुए थूणाक सन्निवेश[1] के बाहर ध्यान मे आरूढ हो गये।

कुछ समय के बाद पुष्य नाम का सामुद्रिक वेत्ता वहाँ से निकला और गंगा के तट पर पडे भगवान् के पदचिह्नो को देखकर आश्चर्य मे डूब गया। और, यह सोचने लगा—"यह पदचिह्न तो किसी चक्रवर्ती का है। यह अकेला

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८२। थूणाक सन्निवेश मल्लदेश में था। (वीर-विहार-मीमांसा, हिन्दी, पृष्ठ २४) यह पटना से उत्तर-पश्चिम और गण्डकी के दक्षिणी तट पर था।

घूम रहा है। चलूँ उसकी सेवा करूँ। जब वह चक्रवर्ती बनेगा, तो मेरे भी भाग्य खुल जाएँगे।" अत भगवान् के पदचिह्नो को देखता-देखता वह थूणाक-सनिवेश पहुँचा। सन्निवेश से बाहर भगवान् अशोक-वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित खडे थे। उनके चरण मे ही नही, उनके सारे शरीर मे चक्रवर्ती के लक्षण थे। उनको देखकर पुष्य चिता मे पड़ गया कि चक्रवर्ती लक्षणो से युक्त यह व्यक्ति साधु बनकर जगलो मे क्यो घूम रहा है।' अत उसका विश्वास सामुद्रिक-शास्त्र पर से उठ गया और वह अपने शास्त्र को प्रवाहित करने के लिए तैयार हो गया। उस समय इन्द्र ने आकर कहा—"पुष्य, तुम्हे सही लक्षण ज्ञात नही है, महावीर तो अपरिमित लक्षणवाले हैं। यह उत्तम धर्म-चक्रवर्ती हैं और चारो गतियों का अन्त करनेवाले हैं। देव-देवो के भी पूज्य हैं।" तब पुष्य, भगवान् को नमस्कार करके चला गया।

थूणाक-सन्निवेश से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर राजगृह[१] के बाहर नालदा[२] मे ठहरे। वहाँ भगवान् एक ततुवायशाला (बुनकर[३] के कारखाने) मे ठहरे। भागवान् ने उसके मालिक से अनुमति लेकर बुनकरशाला के एक कोने मे चातुर्मास किया। मासक्षमण (महीने भर उपवास) करके भगवान् ध्यान मे स्थिर हो गये। उस समय मख[४] जातीय मखली-पुत्र गोशाला[५] की भगवान् से भेंट हुई। वह भी चतुर्मास बिताने के विचार से वही ठहरा था।

१—प्राकृत मे इसे 'रायगिह' लिखा है। यह मगध देश की राजधानी थी। (बृहत्कल्पसूत्र सटीक, पुण्यविजय-सम्पादित, विभाग ३, पृष्ठ ६१३)। और, इसकी गणना १० प्रमुख राजधानियो मे की जाती थी (स्थानाग सूत्र, भाग २, ठाणा १०, पत्र ४७७)। आजकल बिहार मे स्थित राजगिर नाम से प्रसिद्ध स्थान प्राचीनकाल का राजगृह है। यह रेलवे-स्टेशन है और बिहार-शरीफ से १५ मील दूर है।

प्राचीन काल मे यह स्थान बडे व्यापारिक महत्व का था। यहाँ से सडकें विभिन्न भागो मे जाती थी। तक्षशिला से राजगृह १६२ योजन दूर थी। यह मार्ग सावत्थी होकर जाता था (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स,

---

[पृष्ठ १८६ की पादटिप्पणि का शेषांश]

भाग २, पृष्ठ ७२३, मज्झिम निकाय की पपचसूदनी-टीका, ii, ९८७, सयुक्त निकाय की टीका सारत्थपकासिनी i, २४३)। कपिलवस्तु से राजगृह ६० योजन दूर थी (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, भाग १, पृष्ठ ५१६) और कुशीनगर से २५ योजन दूर (दीघनिकाय, अ० २, ३)। राजगृह से गया ५ योजन दूर थी (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स भाग २, पृष्ठ ७२३, महावस्तु i, २५३)। राजगृह से नालदा १ योजन दूर था (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, भाग २, पृष्ठ ५६)।

डाक्टर मोतीचन्द्र ने सार्थवाह (पृष्ठ १७) में लिखा है कि, श्रावस्ती से तक्षशिला १९२ योजन दूर थी और वहां से राजगृह ६० योजन। अपने इस दूरी-निर्णय का डाक्टर साहब ने कोई प्रमाण नहीं दिया है।

२—नालंदा—पटना से दक्षिण-पूर्व मे ५५ मील, राजगृह से ७ मील, और वख्तियार-लाइट-रेलवे के नालदा-स्टेशन से २ मील की दूरी पर स्थित वडगांव प्राचीन काल की नालदा है। विहार-शरीफ से यह करीव ५ मील दूर है। विहार-शरीफ से राजगिर जाते हुए नालंदा नामक स्टेशन वीच मे पड़ता है। सूत्रकृताग नामक दूसरे आगम के सातवें अध्ययन मे 'नालदा' शब्द पर लिखा है—'सदा आर्थिभ्यो यथामित्यवितं ददातीति नालन्दा' आर्थियो को जो यथेप्सित प्रदान करता है, वह नालंदा है। वह 'राजगृह नगर वाहिरिका'—राजगृह नगर का शाखापुर था। ह्वेनसाग ने लिखा है इसका नाम आम्रवन के मध्य मे स्थित तालाव मे रहने वाले नाग के नाम पर नालंदा पड़ा।

(डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, खड २, पृष्ठ ५७, वील-लिखित भाग २, पृष्ठ १६७)

३—गुणचन्द्र-रचित 'महावीर-चरित्र' (पत्र १७३।१) मे उसका नाम अर्जुन लिखा है।

४—'इडालाजिकल स्टडीज' भाग २ (पृष्ठ २४५) मे डाक्टर विमलचरण

भगवान् के प्रथम मासक्षमण (उपवास) की पारना विजय सेठ ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक और आदर के साथ विविध भोजन-सामग्री से कराया। उस समय पच दिव्य (तहियं गंधोदय पुप्फवास, दिव्वा तहिं वसुहाराय वुट्ठा। पहताओ दुंदुभीओ सुरेहि आगासे अहोदाणं च घुट्ठे॥ उत्तराध्ययन, अध्ययन १२, गाथा ३६, पत्र १८२। और 'वसुहारा' की टीका दी है 'देवैः कृतायां स्वर्ण दीनाराणां वृष्टो) प्रकट हुए। उसको देखकर

[पृष्ठ १६० की पाद-टिप्पणी का शेषांश]

ला ने गोशाला को चित्रकार का पुत्र लिखा है। 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स' भाग २, पृष्ठ ४०० पर 'चित्र-विक्रेता' लिखा है। गोशाला का पिता मखली 'मख' था। वह न तो चित्रकार था और न चित्र-विक्रेता। चित्र दिखा कर जीवन-यापन करता था। (उवासगदसाओ-हार्नेल का अनुवाद परिशिष्ट १, पृष्ठ १) मख शब्द का अर्थ टीकाकारो ने किया है—

'चित्र फलक हस्ते गत यस्य स तथा।

'पाइअसद्दमण्णवो' (पृष्ठ ८१६) मे मख का अर्थ दिया है—एक भिक्षुक-जाति जो चित्र दिखा कर जीवन-निर्वाह करती है।

'मख' शब्द पर 'हरिभद्रीयावश्यकवृत्ति टिप्पणकम्' मे मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने लिखा है—'केदार पट्टिक.' (पत्र २४–१) जिससे स्पष्ट है कि मख शिव का चित्र लेकर भिक्षा मांगता था। ऐसा ही मत कार्पेटियर ने 'जर्नल आव एशियाटिक (सोसाइटी १६१३, पृष्ठ ६७१–२) मे प्रकट किया था। मेरे विचार से कार्पेटियर का विचार ठीक था।

५—गोशाला की माता नाम भद्रा था। एक बार मखली और भद्रा शरवण नाम के सन्निवेश मे एक ब्राह्मण की गोशाला मे ठहरे हुए थे। भद्रा उस समय गर्भवती थी। यहाँ गोशाला में ही उसे पुत्र उत्पन्न हुआ, इस लिए उसका नाम गोशाला रखा गया। छोटी उम्र से उद्धत होने के कारण वह माँ-बाप से अलग हो गया और मख-कार्य करके अपनी आजीविका चलाता और साधु के भेष में घूमता रहा। (देखिए भगवती सूत्र, १५-वाँ शतक, उद्देसा १)

गोशाला के मन मे विचार हुआ—"यह कोई मामूली साधु नही है। कोई प्रभावशाली तपस्वी मालूम होते है। अब अच्छा हो, मैं इनका शिष्य हो जाऊँ।" इस विचार से वह भगवान् के पास गया और बोला—"भगवान् मुझे अपना शिष्य बना लें।" भगवान् ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। और दूसरा मासक्षमण करके ध्यान मे स्थिर हो गये। इस दूसरे मास क्षमण का पारना आनन्द श्रावक ने 'खाजा' से उतनी ही भक्ति पूर्वक कराया। उसके वाद तीसरा मास क्षमण किया और उसका भी पारना सुनन्द श्रावक के यहाँ खीर से किया।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिए जाते हुए, गोशाला ने भगवान् से पूछा—'आज मुझे भिक्षा मे क्या मिलेगा!" भगवान् ने उत्तर दिया—"वासी उतरा हुआ कोदो का भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया (कूटग रूवग)"

भगवान् के वचनो को मिथ्या करने के उद्देश्य से वह वडे-वडे धनाढ्यो के यहाँ भिक्षा के लिए घूमने लगा; लेकिन उसको कही पर भी भिक्षा सुलभ नहीं हुई। अन्त मे, उनको एक लुहार के यहाँ खट्टी छाछ मिले भात का भोजन प्राप्त हुआ और दक्षिणा मे एक रुपया मिला, जो चलाने पर नकली सावित हुआ।

इस घटना का गोशाला के मन पर वडा भारी प्रभाव पडा। वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक हो गया। और, उसने यह निश्चय कर लिया कि जो वस्तु होने की है, वह होकर रहती है और जो कुछ होने वाला रहता है, वह पहले से ही निश्चित् रहता है।

चातुर्मास समाप्त होते ही, भगवान् ने नालदा से विहार किया और कोल्लागसन्निवेश मे जाकर वहुल ब्राह्मण के यहाँ अन्तिम मास क्षमण का पारणा किया। नालदा से भगवान् ने जव विहार किया, उस समय गोशाला भिक्षा लेने के लिए वाहर गया हुआ था। भिक्षा लेकर जव शाला मे आया, तो भगवान् वहाँ पर नहीं थे। पहले उसे विचार हुआ कि भगवान् नगर मे गये होगे। वह नगर में गया और भगवान् को ढूंढने लगा। गली-गली मे घूमा, पर भगवान् का उसे कही पता नही चला। वह निराश

घर लौटा और अपनी सभी वस्तुएँ दान देकर, सिर मुँडवाकर भगवान् की तलाश मे चल पडा ।

भगवान् को ढूंढते-ढूंढते वह कोल्लाग-सन्निवेश[1] मे जा पहुँचा । वहाँ उसने लोगो के मुख से एक महामुनि की चर्चा सुनी । वह भगवान् को ढूंढने सन्निवेश के अन्दर जा रहा था कि, भगवान् उसे मार्ग मे मिल गये । उसने भगवान् से पुन शिष्य बनाने की प्रार्थना की । इस बार भगवान् ने 'अच्छा' कहकर प्रार्थना स्वीकार कर ली । उसके बाद से ६ चौमासे तक गोशाला उनके साथ रहा ।

१—यह स्थान वैशाली के निकट स्थित कोल्लाग-सन्निवेश से भिन्न स्थान है । इसके सबध में भगवतीसूत्र पत्र १२१६-२ पर बताया गया है—"तीसे णं नालदाए बाहिरियाए अदूरसामते एत्थ ण कोल्लाए नाम सन्निवेसे होत्था ।" अर्थात् नालदा के निकट में कोल्लाग सन्निवेश था ।

तृतीय वर्षावास

कोल्लाग-सन्निवेश से गोशाला के साथ भगवान् ने सुवर्णखल[1] की ओर विहार किया । मार्ग मे उनको ग्वाले मिले, जो एक हांडी मे खीर पका रहे थे । गोशाला ने भगवान् से कहा—"जरा ठहरिए ! इस खीर को खाकर फिर आगे चलेंगे ।" भगवान् ने उत्तर दिया—"यह खीर पकेगी ही नहीं । बीच में ही हांडी फूट जाएगी और यह सब खीर नीचे लुढ़क जायेगी ।"

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८३ ।

गोशाला ने भगवान् का कथन ग्वालों को वता दिया। इस प्रकार की भविष्य-वाणी सुनकर ग्वाले भयग्रस्त होकर वडी सावधानी से खीर पकाने लगे। वांसो की खपाचो से, उस हांडी को ग्वालो ने चारो ओर से वांध दिया और उसको चारो ओर से घेर कर वैठ गये।

भगवान् तो आगे चले गये, लेकिन खीर खाने की लालच से गोशाला वही वैठा रहा। हांडी दूध से भरी हुई थी और उसमे चावल भी अधिक था। अत, जव चावल फूले तो हांडी फट गयी और सव खीर नीचे लुढक गयी। ग्वालो की आशा पर पानी फिर गया और गोशाला मुंह नीचा किये हुए वहां से रवाना हो गया। अव उसे इस वात पर पूरा विश्वास हो गया कि 'जो कुछ होनेवाला है, वह मिथ्या नही हो सकता।'

विहार करते हुए भगवान् ब्राह्मणगांव[२] पहुंचे। गोशाला भी यहां आ गया। इस गांव के दो भाग थे। एक नन्द पाटक और दूसरा उपनन्द पाटक। नन्द-उपनन्द दो भाई थे। ये अपने-अपने पत्ति के भाग को अपने-अपने नाम से पुकारते थे। भगवान् महावीर नन्दपाटक में नन्द के घर पर भिक्षा के लिए गये। भिक्षा मे भगवान् को दहीमिश्रित भात मिला। गोशाला उपनन्द पाटक मे उपनन्द के घर भिक्षा के लिए गया। उपनन्द की आज्ञा से उसकी दासी गोशाला को वासी भात देने लगी; पर गोशाला ने लेने से इनकार कर दिया और वोला—"तुम्हें वासी भात देते लज्जा नही लगती ?" गोशाला की वात सुनकर उपनन्द ने क्रोध मे आकर दासी को आदेश दिया कि इसे लेना हो तो ले नहीं उनके सिर पर पटक दे। दासी ने वैसा ही किया। इससे क्रुद्ध होकर गोशाला ने श्राप दिया—"यदि मेरे गुरु मे तप और तेज हो तो तुम्हारा प्रासाद जलकर भस्म हो जाय।" निकट के व्यन्तर-देवो ने विचार किया कि वचन झूठा न हो जावे, इसलिए उन्होंने उक्त महल को भस्म कर दिया।

२—यह ब्राह्मण-गांव राजगृह से चम्पा जाते हुए मार्ग में पड़ता था—देखिये वैशाली, हिन्दी, पृष्ठ ७०।

ब्राह्मणगाँव से भगवान् गोशाला के साथ चम्पा[1] नगरी को गये और तीसरा चातुर्मास भगवान् ने यही व्यतीत किया और उत्कुट्टुक (उकडूं) आदि विविध आसनो द्वारा ध्यान करके व्यतीत किया। प्रथम द्विमासी तप का पारना भगवान् ने चम्पा से बाहर किया।

चम्पा नगरी से भगवान ने कालायसन्निवेश[2] की ओर विहार किया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८४।

२—प्राचीन काल में यह अग देश की राजधानी थी (वृहत्कल्प सूत्र सटीक विभाग ३, पृष्ठ ६१३)। आधुनिक भागलपुर के निकट पूर्व मे चम्पा-नगरी है, यही प्राचीन काल की चम्पा है। इसके निकट ही चम्पा नाम को नदी बहती है। (देखिये, वीर-विहार-मीमासा, हिन्दी, पृष्ठ २५।)

चौथा चतुर्मास

कालाय-सन्निवेश मे आकर भगवान् एक खडहर में ध्यान मे स्थिर हो गये।[1] गोशाला भी द्वार के पास छिप कर बैठ गया। रात्रि को गांव के मुखिया का पुत्र सिंह विद्युन्मति नामकी दासी के साथ कामभोग की इच्छा से वहाँ आया। वहाँ कोई है तो नही, यह जानने की इच्छा से उसने एक-दो आवाजे लगायी। जब कोई प्रत्युत्तर न मिला, तो एकान्त समझ कर उन्होंने अपनी कामवासना पूरी की। जब वे लौट रहे थे, गोशाला ने विद्युन्मति का हाथ पकड लिया। गोशाला के इस व्यवहार से रुष्ट होकर सिंह ने उसे पीटा।

१—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २८४।

ध्यान में रात्रि व्यतीत करने के पश्चात्, दूसरे दिन प्रात भगवान् महावीर पत्तकालय (पत्रकाल)[1] नामक गांव मे गये। भगवान् रात्रि मे ध्यान मे आरूढ हो गये। और, यहाँ भी गोशाला एक कोने मे दुबक गया। रात्रि को ग्रामाधीश का स्कन्द नामक पुत्र दन्तिला नामक की दासी के साथ कामभोग की इच्छा से आया। दासी के साथ भोग भोग कर जब वह वापस लौट रहा था तो गोशाला ने दासी से छेडछाड की। और, इस बार भी वह पीटा गया।

पत्रकालय से भगवान् ने कुमाराक-सन्निवेश[2] की ओर विहार किया। वहाँ चपग-रमणीय (चम्पक-रमणीय) नाम के उद्यान मे कायोत्सर्ग मे स्थिर हो गये। उस सन्निवेश मे कूपनय नाम का एक धनाढ्य कुम्भकार रहता था। उसकी शाला में अनेक शिष्यो के साथ पार्श्वनाथ संतानीय मुनिचन्द्राचार्य ठहरे हुए थे। अपनी पाट पर वर्द्धन[3] नामक अपने शिष्य को स्थापित कर के वे जिनकल्पी हो गये थे।

मध्याह्न होने पर गोशाला ने भगवान् से कहा—"भिक्षा का समय हो गया है। भिक्षा के लिए गाँव मे चलिए।" भगवान् ने उत्तर दिया—"आज मेरा उपवास है। भिक्षा के लिए नहीं जाना है।"

गोशाला अकेले भिक्षा के लिए गांव मे गया। वहाँ उसने भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधुओ को देखा, जो विचित्र कपडे[4] पहने हुए थे

१—वही, पत्र २८४।

२—वही, पत्र २८५।

३—वर्द्धन का नाम चूर्णि मे नहीं है। केवल शिष्य लिखा है, परन्तु त्रिशष्टि-शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक ४४८ पत्र ३४२-२ में उसका नाम वर्द्धन दिया है।

४—त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक ४५२ पत्र ३४-२।

भगवान् पार्श्वनाथ के साधु रग-विरगे कपडे पहनते थे। उत्तराध्ययन, अध्ययन २३, गाथा ३१ की टीका में वादीवेताल शान्त्याचार्य ने लिखा है—

"..वर्द्धमान विनेयाना हि रक्तादिवस्त्रानुज्ञाने वक्रजडत्वेन वस्त्ररञ्जनादिषु प्रवृत्तिरतिदुर्निवारैव स्यादिति न तेन तदनुज्ञात, पार्श्वशिष्यास्तु न तथेति रक्तादीनामपि (धर्मोपकरणत्व)..... उत्तराध्ययन सटीक, पत्र ५०३-२

ऐसा ही उल्लेख कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका, पत्र ३, मे भी है।

और पात्रादि उपकरणो से युक्त थे। गोशाला ने उनसे पूछा—"आप कौन हैं ?" उन लोगो ने उत्तर दिया—"हम निर्ग्रन्थ हैं और भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य हैं।" गोशाला ने कहा—"आप किस प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं। इतना वस्त्र और पात्र साथ रख कर भी आप अपने को निर्ग्रन्थ बताते हैं। लगता है, आजीविका चलाने के लिए आपने ढोग रच रखा है। सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जिनके पास एक भी वस्त्र या पात्र नही है और वे त्याग तथा तपस्या की साक्षात् मूर्ति हैं। पार्श्वपत्य साधु ने कहा—"जैसा तू है, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी स्वयगृहीत लिंग होगे।"

इस प्रकार की बात सुन कर गोशाला बडा क्रुद्ध हुआ। उसने श्राप दिया कि मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल कर भस्म हो जाये। उन निर्ग्रन्थो ने गोशाला की श्राप की अपेक्षा करते हुए कहा—"लेकिन, तुम्हारे कहने से कुछ नही होने वाला है।" बहुत देर तक गोशाला उन साधुओं से वादविवाद करता रहा। अत में थक कर वापस लौट आया। लौट कर उसने भगवान् से पूछा—"आज परिग्रही और आरम्भी साधुओ से विवाद हो गया। और, मेरे श्राप देने पर भी उनका उपाश्रय जला नही। इसका क्या कारण है ?" गोशाला की बात सुनकर, भगवान् ने उसे बताया कि वे पार्श्वनाथ के सतानी साधु थे।

कुमाराक से गोशाला के साथ भगवान् चोराक-सन्निवेश[1] मे गये। यहाँ पर चोरो का भय होने से पहरेदार बडे सतर्क रहते थे। वे किसी अपरिचित को गाँव मे नही आने देते थे। जब भगवान् गाँव मे पहुँचे, तो पहरेदारो ने भगवान् से परिचय माँगा, लेकिन भगवान् ने कुछ भी उत्तर नही दिया। पहरेदारो ने उन्हे गुप्तचर समझ कर पकड लिया। पहरेदारो ने भगवान् और गोशाला दोनो को बहुत सताया, पर दो मे से किसी ने कुछ भी उत्तर नही दिया। इसकी सूचना उत्पल नैमित्तिक की बहिनें सोमा और जयन्ती को मिली। वे सयम ले कर पालने मे असमर्थ हो परिव्राजिकाए हो गई थी और उसी ग्राम मे रहती थी। वे दोनो घटनास्थल पर आयीं और

१—आवश्यक चूर्णि, भाग १, पत्र २८६। गोरखपुर जिले मे स्थित चौरा-चोरी।

उन्होने पहरेदारो को भगवान् का परिचय कराया। परिचय पाकर पहरेदारों ने भगवान् को मुक्त कर दिया और उनसे क्षमा याचना की।

चोराक से भगवान् ने पृष्ठ चम्पा[1] की ओर विहार किया और चौथा चातुर्मास पृष्ठ चम्पा मे ही व्यतीत किया। इस चातुर्मास मे आपने लगातार चार महीनो तक उपवास किया और वीरासन लगंडासन[3] आदि आसनो द्वारा ध्यान करके विताया। चातुर्मास समाप्त होते ही नगर के वाहर पारना कर के भगवान् ने कयगला सन्निवेश की ओर विहार किया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८७।

२—यह भी चम्पा के निकट ही स्थित था।

३—'लगड' शब्द सूत्रकृताग, द्वितीय श्रुतस्कध, द्वितीय अध्ययन, (वावू वाला सस्करण पृष्ठ ७५९) सूत्र ७२ में आया है। उस पर दीपिका मे लिखा है—"वक्र काष्ठ तद्वत् शेरते ये ते लगडशायिन" (पृष्ठ ७६५)।

पाँचवाँ चतुर्मास

कयंगला(१) मे दरिद्रथेरा(२) नामक पाखडी रहते थे। वे सपत्नीक, सारम्भी और परिग्रह वाले थे। वहाँ वाग के मध्य मे कुल-परम्परा से चला आता एक भव्य देवल था। भगवान् महावीर रात को उस देवालय के एक ओर कोने में जाकर ध्यान मे खडे हो गये।

१—कयगला—मध्यदेश की पूर्वी सीमा पर था। इसका उल्लेख रामपाल-चरित्र में मिलता है। यह स्थान राजमहल जिले मे है। श्रावस्ती के पास भी एक कयगला है। यह उससे भिन्न है।

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८७।

उस दिन धीरे-धीरे पानी की बूंदें पड रही थी और ठडी हवा चल रही थी। माघ का महीना होने के कारण, काफी ठडक थी। उस दिन उस देवालय में धार्मिक उत्सव था। अत स्त्री-पुरुप और बालक मन्दिर में नृत्य करने लगे। गोशाला सर्दी से परीशान था, इस कारण उसे इस प्रकार का गाना-बजाना अच्छा नही लगा। अत वह उन लोगो की धार्मिक प्रवृत्ति की निन्दा करने लगा कि यह िस प्रकार का धर्म कि जिसमे स्त्री-पुरुष साथ मिलकर नाचें और गायें। अपने धर्म की निन्दा सुनकर गांव वालो ने गोशाला को मदिर से बाहर निकाल दिया।

बाहर बैठा-बैठा गोशाला ठड से कांपने लगा और कहने लगा कि इस ससार मे सत्य बोलने वाले को ही विपत्ति आती है। लोगो को गोशाला की दशा पर दया आयी और देवार्य का शिष्य समझ कर उन्होने उसको देवालय के अदर बुला लिया। गोशाला इस पर भी अपनी आदत से बाज नही आया और फिर निन्दा करनी शुरू कर दी। गोशाला के व्यवहार से युवक उत्तेजित हुए और उसे मारने दौडे। पर, वृद्धो ने उन्हें मना कर दिया और आदेश किया कि बाजे इतनी जोर से बजाये जायें कि गोशाले की आवाज सुनायी ही न पडे। इतने मे सुबह हो गयी और भगवान् ने वहाँ से श्रावस्ती की ओर विहार किया।

भगवान् श्रावस्ती[1] के बाहर ध्यान मे स्थिर हो गये। भिक्षा-काल होने पर गोशाला ने उनसे भिक्षा के लिए चलने को कहा। भगवान् ने उत्तर दिया—"आज मेरा उपवास है।" तब गोशाला ने पूछा—"अच्छा बताइए, आज भिक्षा मे क्या मिलेगा ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"मनुष्य का मास।" उसने सोचा—"यहाँ तो मास की ही आशका नही है फिर मनुष्य के मांस की कहाँ बात ?" यह विचार कर के वह भिक्षा के लिए चला।

१—श्रावस्ती—आजकल ताप्ती के किनारे का सहेत-महेत ही प्राचीन श्रावस्ती है। प्राचीन काल मे यह कोशल की राजधानी थी। यह साकेत से ६ योजन राजगृह से उत्तर-पश्चिम में ४५ योजन, सकस्स से ३० योजन, तक्ष-शिला १४७ योजन, सुप्पारक से १२० योजन थी। राप्ती का प्राचीन नाम अचिरवती या अजिरवती है। जैन-सूत्रो मे इसे इरावदी कहा है।

उस नगरी मे पितृदत्त नाम का गाथापति (गृहस्थ) रहता था। उसकी भार्या का नाम श्रीभद्रा था। उसे जब बच्चे होते तो मृत ही जन्मते। अत उसने शिवदत्त-नाम के नैमित्तिक से पूछा—"मुझे कोई ऐसा मार्ग बताइये कि जिससे मेरे बच्चे जियें।" शिवदत्त ने उसे बताया—"मृत जन्मे हुए बालक का रुधिर-मास पीसकर उसकी खीर बनाकर किसी तपस्वी-साधु को खिलाने से तुम्हारे पुत्र जीवित रहेगे। लेकिन, जब वह खा कर चला जाये, तब तुम अपना घर बंद कर देना, ताकि क्रुद्ध होकर वह तुम्हारा घर न जला पाये।" उसी दिन श्रीभद्रा को मृत पुत्र जन्मा था। उसने उसकी खीर उसी विधि से बनायी। और, उसे बनाने के बाद, वह किसी साधु की प्रतीक्षा मे द्वार पर खड़ी थी। इतने मे गोशाला उसे दिखायी पडा। उसने खीर गोशाला को खिला दिया। लौट कर आने के बाद गोशाला ने खीर खाने की बात भगवान् से कही। और, भगवान् ने मृत बच्चे की बात गोशाला को बता दी। गोशाला ने मुँह मे उँगली डाल कर वमन किया तो उसे भगवान् की सब बातें सच मालूम हुई। इस घटना का भी प्रभाव गोशाला पर पडा और "यद् भावी तद् भवति" की भावना उसमे अधिक सुदृढ हो गयी। क्रुद्ध होकर वह गया और उसन भिक्षा देने वाली स्त्री का सारा मुहल्ला जला ही दिया।

श्रावस्ती से भगवान् हल्लिदुय गाँव की ओर गये। उस नगर से बाहर हलिद्दग नामका एक विशाल वृक्ष था। भगवान् उसके नीचे कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये। गोशाला भी साथ मे था। श्रावस्ती जाने वाला एक सार्थवाह रात मे निकट ही ठहरा था। सर्दी से बचने के लिए उन लोगो ने रात्रि मे फूस जलाया। सुबह होते ही सार्थवाह वहाँ से चला गया। पर, रात की आग बढते-बढते वहाँ आ पहुँची, जहाँ भगवान् ध्यानावस्थित थे। गोशाला ने भगवान् से कहा—'भगवन् चलिये। आग इस ओर आ रही है।" ऐसा कह कर गोशाला तो चला गया, पर भगवान् महावीर वही रह गये। इससे भगवान् के पैर आग से झुलस गये।

दोपहर को भगवान् नगला[१] गाँव गये और गाँव के वाहर वासुदेव के मदिर में ध्यान मे स्थिर हो गये। वहाँ कुछ लडके खेल रहे थे। गोशाला ने आँख निकाल कर उन सब को डरा दिया। लडके गिरते-पडते वहाँ से भागे। सूचना पाकर गाँव के वयस्को ने आकर गोशाला को खूब पीटा।

नगला से विहार करके भगवान् आवर्त्त पधारे। यहाँ वे बलदेव के मदिर मे ध्यान मे स्थिर हो गये। आवर्त से भगवान् चोराय-सन्निवेश गये और वहाँ भी एकान्त मे ध्यान मे निमग्न हो गये। यहाँ गोशाला जब गोचरी के लिए जा रहा था, तो लोगो ने उसे गुप्तचर समझ कर पकड लिया और खूब पीटा।

चोराय-सन्निवेश से भगवान् कलबुका-सन्निवेश गये। इसके निकट के (शैलप) पर्वत-प्रदेश के स्वामी मेघ और कालहस्ती नामक दो भाई रहते थे। कालहस्ती चोरो का पीछा करता हुआ जा रहा था कि रास्ते मे उसे भगवान् महावीर और गोशाला मिले। कालहस्ती ने उन दोनो से पूछा—"तुम कौन हो?" पर, भगवान् ने उसका कुछ भी उत्तर नही दिया और कुतूहलवश गोशाला भी कुछ नही बोला। कालहस्ती ने दोनो को पकडकर पीटा और मेघ के पास भिजवा दिया। मेघ ने भगवान् महावीर को गृहस्थाश्रम में एक वार देखा था। उसने भगवान् को पहचान लिया और उन्हें मुक्त करके अपने भाई की अज्ञानता के लिए क्षमा-याचना करने लगा।

भगवान् के मन में यह विचार उठा कि अभी मुझे वहुत-से कर्म क्षय करने हैं। इस परिचित प्रदेश में रहने से उन कर्मों को क्षय करने मे विलव हो रहा है। अत ऐसे अनार्य प्रदेश मे जाना चाहिए, जहाँ मेरा कोई भी परिचित न हो और मैं अपने कर्मों को शीघ्र नष्ट कर सकूँ।

१—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २८९। यह कोशल देश मे था। बौद्ध-साहित्य मे इच्छानगल नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ वेद-शास्त्र के वडे-वडे पडित रहते थे। (देखिये वीर-विहार मीमासा, हिन्दी, पृष्ठ २६)

अतः भगवान् ने लाढ[1] देश की ओर विहार किया। जो उस समय अनार्य देश गिना जाता था।

जब भगवान् अनार्य देश मे गये तो उन्हें वहाँ एकदम गये-बीते स्थान पर ठहरना पडता। बैठने के लिए उनको आसन भी धूल-भरे और विषम मिलते थे। वहाँ के अनार्य लोग भगवान् को मारते और दातो से काटने दौडते थे। भगवान् को वहाँ बडी कठिनाई से रूखा-सूखा आहार मिलता था। वहाँ के कुत्ते भगवान् को कष्ट देते और काटने के लिए ऊपर गिरते थे। वहाँ के अनार्य और असंस्कारी लोगो मे हजार मे से कोई एक उन कष्ट देते हुए और काटने के लिए दौडते हुए कुत्तो को रोकता था। शेष लोग तो कुतूहल से छू-छू करके उन कुत्तो को काटने के लिए प्रेरित करते। वे अनार्य लोग भगवान् को दण्डादि से भी मारते थे। इन सब कष्टो को शान्ति और समभाव से भगवान् ने सहन किया।[2]

भगवान् राढ देश से वापस लौट रहे थे, और उस प्रदेश की सीमा पर आये हुए पूर्णकलश नाम के अनार्य गांव मे से निकल कर, आप आर्यदेश की सीमा में आ रहे थे, तब रास्ते मे उनको दो चोर मिले जो अनार्य प्रदेश मे चोरी करने जा रहे थे। भगवान् का सामने मिलना उन्होने अपशकुन समझा और उनको मारने दौडे। उस समय इन्द्र ने स्वय आकर आक्रमण को निष्फल किया और चोरो को उचित रूप मे दण्डित किया।

१—इसकी राजधानी कोटिवर्ष थी। आधुनिक वानगढ ही प्राचीन कोटिवर्ष है। इसके दो भाग थे उत्तर राढ और दक्षिण राढ। इनके बीच में अजय नदी बहती थी। कुछ लोग भ्रम से इसे गुजरात देशीय लाट मानते हैं। इस सम्बन्ध मे उन्हे मेरी पुस्तक 'वीर-विहार-मीमासा' (हिन्दी) देखनी चाहिए। वस्तुत लाढ प्रदेश बगाल मे गगा के पश्चिम में था। आजकल के तामलुक, मिदनापुर, हुगली और वर्दवान जिले इस प्रदेश के अन्तर्गत थे। मुर्शिदावाद जिले का कुछ भाग इसकी उत्तरी सीमा के अतर्गत था।

२—आचाराग, नवम स्कध, तृतीय उद्देशक, गाथा १-४।

आर्य-देश में आकर भगवान् ने पाँचवाँ चातुर्मास भद्दिया[1] नगरी मे किया। इस चातुर्मास मे भी भगवान् ने चातुर्मासिक तप और विविध आसनो द्वारा ध्यान किया। चातुर्मास समाप्त होते ही भगवान् ने भद्दिया नगर के बाहर पारना करके कदली समागम की ओर विहार किया।

१—अगदेश का एक नगर था। भागलपुर से ८ मील दक्षिण मे स्थित भदरिया गाँव प्राचीन भद्दिया है। (वीर-विहार-मीमासा हिन्दी, पृष्ठ २६)

छठाँ चातुर्मास

कदली-समागाम से भगवान् महावीर जम्बूसड[1] गये और वहाँ स तम्बाय-सन्निवेश[2] गये। यहाँ गाँव से बाहर भगवान् ध्यान मे स्थिर हो गये। इस गाँव मे पार्श्वनाथ सतानीय नन्दिसेण नाम के बहुश्रुत-साधु थे। गच्छ की चिन्ता का भार सौंप करके वे जिनकल्पी आचार पालते थे। और, ध्यान मे रहते थे। गोशाला गाँव में गया और उनके शिष्यो से झगडा करके भगवान् के पास आ गया। नन्दिसेण साधु उस रात को चौराहे पर खडे हो कर ध्यान कर रहे थे, तब आरक्षक के पुत्र ने उनको चोर समझकर भाले से मार डाला। उसी समय उनको अवधिज्ञान हुआ और मर कर वे देवलोक गये। गोशाला को इस बात की सूचना मिली तो वह उपाश्रय में गया। वहाँ

१—जम्बूसड—वैशाली से कुशीनारा वाले मार्ग पर अम्बगाँव और भोगनगर के बीच मे वैशाली से चौडा पडाव था।

(देखिये वीर-विहार-मीमासा हिन्दी, पृष्ठ २६)

२—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध—पत्र २९१

साधुओं को फटकार कर उसने उनके गुरु के निधन की सूचना दी और अपने स्थान को वापस चला गया।

तम्बाय-सन्निवेश से भगवान् कूपिय-सन्निवेश[1] गये। यहाँ लोगों ने भगवान् को (चारिय) गुप्तचर समझकर पकड़ लिया और खूब पीटा। भगवान् ने उनके प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। अत, वे कैद कर लिए गये। पार्श्वनाथ संतानीय विजया और प्रगल्भा नाम की साध्वियों को जब इस बात की सूचना मिली, तो वे उस स्थान पर गयीं, जहाँ पर भगवान् कैद थे। उन साध्वियों ने भगवान् का वंदन करके पहरेदारों से कहा—"अरे, यह क्या किया? क्या तुम लोग राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्मचक्रवर्ती भगवान् महावीर को नहीं पहचानते? अगर इन्द्र को तुम्हारे दुष्कार्य का पता चला, तो तुम्हारी क्या दशा होगी? इन्हें शीघ्र मुक्त करो।" भगवान् का परिचय सुनकर सभी अपने किये पर पश्चाताप करने लगे और भगवान् से क्षमा-याचना करने लगे।"

कूपिय-सन्निवेश से भगवान् ने वैशाली की ओर विहार किया। गोशाला ने यहाँ भगवान् के साथ चलने से इनकार करते हुए कहा—"आप न तो मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहने से मुझे सुख है। आपके साथ मुझे भी कष्ट झेलना पड़ता है और सदा भोजन की चिन्ता बनी रहती है।

गोशाला यहाँ से राजगृह नगरी की ओर गया और भगवान् वैशाली की ओर[2]। वहाँ वे एक कम्मारशाला (लुहार के कारखाने) में जाकर ध्यान में आरूढ हो गये। उस कारखाने का मालिक लुहार ६ महीने से बीमार था। दूसरे दिन बीमारी के बाद अपने यंत्रादि के साथ जब वह अपने काम पर

१—कोपिया—यह दूह बस्ती जिले की खलीलाबाद तहसील की खलीलाबाद-मेहदावल सड़क के सातवें मील पर स्थित है। बस्ती शहर से यह स्थान लगभग २१ मील की दूरी पर है। इसका प्राचीन नाम अनुपिया था। देखिये-कोपिया (मदन मोहन नागर) सम्पूर्णानंद-अभिनन्दन-ग्रंथ, पृष्ठ १९५

२—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २९२।

गया, तो वहाँ उसने भगवान् को ध्यानावस्था में खडे देखा। भगवान् को देख कर उसने सोचा कि आज यह नगा साधु मुझे अमगल रूप दिखलायी पडा। उसे बडा कोध आया। और, इस परम मगल को अज्ञानवश अमगल समझ कर हाथ मे हथौडा लेकर भगवान् को मारने दौडा। उसी समय इन्द्र ने अवधिज्ञान से भगवान् की चर्या जानने के विचार से देखा तो उसे सभी कुछ दिखलायी पड गया। वह तत्काल वहाँ आया और उसी घन को लोहार के सिर पर मार कर उसे यमलोक पहुँचा दिया। और, भगवान् को नमस्कार करके इन्द्र वापस चला गया।

वैशाली से विहार कर के भगवान् ग्रामक-सन्निवेश आये। और, ग्रामक के बाहर एक उद्यान मे विभेलक-यक्ष के मन्दिर मे कायोत्सर्ग मे खडे हो गये। वह यक्ष सम्यक्त्वी था। उसने भक्तिपूर्वक भगवान् की स्तुति की।

ग्रामक-सन्निवेश से भगवान् शालीशीर्ष आये और बाहर उद्यान मे योगारूढ हो गये। माघ[१] का महीना था। कडाके की सर्दी पड रही थी। और नगे बदन भगवान् ध्यान मे रत थे। कटपूतना नाम की एक वाणव्यतरी देवी वहाँ आयी। भगवान् को देखते ही उसका क्रोध चमक पडा। क्षण भर मे उसने परिव्राजिका का रूप धारण कर लिया और बिखरी हुई जटाओ में जल भरकर भगवान् के ऊपर छिडकने लगी और उनके कधे पर चढ कर अपनी जटाओ से भगवान् को हवा करने लगी।

पानी के छीटे भगवान् को साही के काँटे की तरह बिंधने। पर, इस भीषण और असाधारण उपसर्ग को भी भगवान् ने पूर्ण स्वस्थ मन से सहन किया।

कटपूतना के उपसर्ग को धैर्यपूर्वक और क्षमापूर्वक सहन करते हुए भगवान् को लोकावधि[२] ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस से आप लोकवर्ती समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् देखने और जानने लगे। अत मे, भगवान् की सहन-

---

१—त्रिशष्टिशलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक ६१४ पत्र ४०-१।

२—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध. पत्र २९३।

शीलता और धैर्य के आगे कटपूतना को अपनी हार माननी पडी। पराजित कटपूतना भगवान् की पूजा करने लगी।

शालीशीर्ष से भगवान् ने भद्दिया[1] नगरी की ओर विहार किया और छठाँ चातुर्मास आपने भद्दिया मे ही व्यतीत किया।

गोशाला जव से भगवान् से अलग हुआ, तव से उसे वडे कष्ट सहने पडे और भगवान् को ढूँढते-ढूँढते ६ महीने के वाद शालीशीर्ष में वह पुन. भगवान् से आ मिला और उन्ही के साथ रहने लगा।

भद्दिया के इस चातुर्मास मे भगवान् ने चातुर्मासिक तप करके विविध प्रकार के योगासन और योगक्रियाओ की साधना की। चातुर्मास समाप्त होते ही आपने भद्दिया के वाहर चातुर्मास तप का पारणा किया और वहाँ से मगध भूमि की ओर विहार किया।

१—अग-देश का एक नगर था। भागलपुर से ८ मील दक्षिण मे स्थित भदरिया गाँव प्राचीन भद्दिया है।

सातवाँ चतुर्मास

सरदी और गरमी के आठ मास तक भगवान् मगध के विविध भागों मे गोशाला के साथ विचरे। और, जव वर्षा ऋतु समीप आयी, तो चतुर्मास के लिए आलभिया पधारे। और, सातवाँ चतुर्मास आलभिया नगरी मे किया।

आलभिया के चतुर्मास मे भी, भगवान् ने चतुर्मासिक तप किया। और, चतुर्मास समाप्त होते ही, भगवान् ने नगर से वाहर जाकर तप का पारना किया। और, वहाँ से कुडाक-सन्निवेश की ओर गये।

केवल-ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी भगवान् महावीर ने एक वर्षावास आलभिया मे किया था (कल्पसूत्र, सूत्र १२१) यहाँ शखवन नामक उद्यान मे एक चैत्य था। इस नगर मे ऋषि भद्रपुत्र आदि श्रावक रहते थे। (भगवती सूत्र श० ११ उ० १२, पत्र १००८) उवासग दसाओ मे वर्णित दस मुख्य श्रावको मे चुल्लशतक नामक मुख्य श्रावक भी यही का था (अध्ययन ५)। यहाँ के राजा का नाम जितशत्रु मिलता है तथा यहाँ के पोग्गल नामक एक परिव्राजक को महावीर स्वामी ने अपना श्रावक बनाया था।

अ—हार्नेल ने उवासगदसाओ के परिशिष्ट खण्ड मे (पृष्ठ ५१-५३) को आलभिया की अवस्थिति पर विचार किया है और कई मत दिये हैं —

(१) कर्नल यूल ने इसकी पहचान रीवा से की है।

(२) फाह्यान की यात्रा के बील-कृत अनुवाद मे (बुद्धिस्ट रेकार्ड आव द' वेस्टर्न वर्ल्ड, पृष्ठ XLIII) आता है कि कन्नौज से अयोध्या जाते समय गगा के पूर्वी तट पर फाह्यान को एक जगल मिला था। फाह्यान ने लिखा है कि बुद्ध ने यहाँ उपदेश दिया था और वहाँ स्तूप बना है। हार्नेल ने लिखा है कि पालि शब्द अळवी और सस्कृत अटवी का अर्थ भी जगल होता है।

इसकी स्थिति के सम्बन्ध मे कनिंघम का मत है कि नवदेवकुल ही अळवी हो सकती है, जिसका उल्लेख ह्वेन च्याग ने किया है। कन्नौज से १९ मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित नेवल मे अब भी इसके अवशेष हैं (आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, खड १, पृष्ठ २९३) फाह्यान और ह्वेनच्याग के दिये वर्णन से इस दूरी का मेल बैठ जाता है।

(३) मेरा मत यह है कि, जैन-ग्रन्थो मे आया आलभिया बौद्ध-ग्रन्थो मे आया आळवी एक ही स्थान के नाम है।

आ—राहुल साकृत्यायन ने आळवी की पहचान अर्वल (जिला कानपुर) से की है। (बुद्धचर्या, पृष्ठ २४२)

३—संयुक्तनिकाय की भूमिका मे बुद्धकालीन भारत के भौगोलिक परिचय में भिक्षु जगदीश और धर्मरक्षित ने आळवी की पहचान उन्नाव जिले के नेवल से की है। (पृष्ठ ६)

पर मेरा मत यह है कि, महावीर के विहार मे आयी आलभिया न तो उन्नाव मे हो सकता है और न कानपुर मे। भगवान् का विहार-क्रम था मगध, आलभिया, कुडाकसन्निवेश, मर्द्दनसन्निवेश, वहुसाल, लोहार्गला और पुरिमताल। अत निश्चय रूप मे इस स्थान को प्रयाग से पूर्व मे (प्रयाग मगध के बीच मे) होना चाहिए। डाक्टर हार्नेल ने बिना विहार-क्रम मिलाये ही प्रयाग से पश्चिम मे उसे पहचानने की चेष्टा की।

आठवाँ चतुर्मास

कुडाक-सन्निवेश[1] मे भगवान् वासुदेव के मन्दिर मे कुछ समय तक रहे और वहाँ से विहार कर मद्दन[2]–सन्निवेश मे जाकर बलदेव के मदिर मे ठहरे। वहाँ से भगवान् बहुसालग[3] नामक गाँव मे गये और शालवन के उद्यान मे स्थिर हो गये। यहाँ शालार्य नामक व्यन्तरी ने भगवान् के ऊपर बहुत उपसर्ग किये, लेकिन अत मे थक कर के अपने स्थान पर वापस लौट गयी। वहाँ से भगवान् लोहार्गला नामक स्थान पर गये।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खड, पत्र २९३

२—मद्दन का उल्लेख महामयूरी मे भी मिलता है। वहाँ पक्ति इस प्रकार है 'मर्दने मद्दपो यक्षो'। कुछ लोग मद्दप को स्थान वाची मानकर मर्दन को व्यक्तिवाची मानते हैं। पर, यह ठीक नही है। मर्दन स्थानवाची है और मद्दप व्यक्तिवाची। महामयूरी मे वर्णित 'मर्दन' और महावीर स्वामी के विहार का 'मद्दन' वस्तुत एक ही स्थान है।

३—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खड, पत्र २९८

लोहार्गला में उस समय जितशत्रु नामका राजा राज्य करता था। एक पडोसी राज्य के साथ उसकी अनबन चल रही थी। अत उसके राज्य के सभी अधिकारी बहुत ही सतर्क रहते थे। और, शक पडने पर किसी को भी पकड लेते थे। उन्ही दिनो मे भगवान् महावीर और गोशाला वहाँ आये। पहरेदारो ने उन दोनो का परिचय पूछा, पर उनको कुछ भी उत्तर नही मिला। अत पहरेदारो ने भगवान् और गोशाला दोनो को पकड कर राजा के पास भेज दिया।

जिस समय भगवान् महावीर और गोशाला राजसभा मे लाये गये, उस समय अस्थिक ग्राम का वासी नैमित्तिक उत्पल भी वहाँ उपस्थित था। भगवान् को देख कर उत्पल खडा हो गया और हाथ जोड कर राजा से बोला—"हे राजन्! यह राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं। यह गुप्तचर नहीं हैं। चक्रवर्ती के लक्षणो को भी जो मात करे, ऐसे इनके पाद-लक्षणो को तो देखिये।" जितशत्रु ने उत्पल के कथन पर अविलम्ब उनके बधन खोल दिये और आदरपूर्वक सत्कार करके अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा।

लोहार्गला से भगवान् ने पुरिमताल[१] की ओर विहार किया[२] और नगर के बाहर शकटमुख-नामक उद्यान मे कुछ समय तक ध्यान मे स्थिर रहे।

१—जैन-ग्रन्थो मे प्रयाग का प्राचीन नाम पुरिमताल मिलता है। यही वटवृक्ष के नीचे शकटमुख नामक उद्यान मे आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुए थे (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक, वक्ष० २, सूत्र ३१, पत्र १४६-२) यहाँ द्वितीय चक्रवर्ती सगर ने सगम पर राजसूय-यज्ञ किया था। उस समय कोई उनकी यज्ञ-सामग्री को गगा मे फेंकने लगा। उसकी रक्षा के लिए ऋषभदेव भगवान् की मूर्ति स्थापित की गयी। फिर यज्ञ हुआ। पर्वतक नामक एक कपटी ब्राह्मण ने चक्रवर्ती सगर पर सेनमुखी आदि विद्याए फेंकी। और, वहाँ सोमवल्ली छेदकर सोमपान किया। तब से लोग उस स्थान को दिति-प्रयाग कहने लगे। जो नही जानते थे, वे

पुरितामल नगर में वग्गुर नामका श्रेष्ठि रहता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। वह वध्या थी। संतान के लिए उसने बहुत से देवी-देवताओ की मानताए मानी, पर उसे पुत्र न हुआ। एक दिन वह शकटमुख उद्यान में क्रीडा करने गया। घूमते हुए, उसने एक पुराना मदिर देखा, जिसमे भगवान् मल्लिनाथ की मूर्ति विराजमान थी। उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि यदि मुझे पुत्र या पुत्री हुई, तो मैं भक्तिभाव से भगवान् मल्लिनाथ का मदिर निर्माण करवाऊँगा। भाग्य से भद्रा को गर्भ रह गया और जब से गर्भ रहा, तब से ही उन्होंने देवालय निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। अब वह तीनो काल भगवान् की पूजा करता और पक्का श्रावक बन गया। योग्य समय पर वग्गुर को पुत्र प्राप्ति हुई। श्रेष्ठि और उनकी पत्नी दोनो ही अति प्रसन्न हुए और भगवान् मल्लिनाथ की पूजा करने चले। उसी उद्यान मे भगवान् महावीर ध्यानावस्थित थे। उसी समय ईशान देवेन्द्र सब ऋद्धियो के साथ भगवान् का वदन करने आया। वदन करके वह जा रहा था, ठीक उसी समय वग्गुर सेठ भगवान् मल्लिनाथ की पूजा के लिए जा रहे थे। इन्द्र बोला—"अरे क्या तू प्रत्यक्ष तीर्थंकर को नहीं जानता, जो मूर्ति की पूजा करने जा रहा है। यह भगवान् महावीर स्वामी जगत के नाथ और सभी के पूज्य हैं। तब वग्गुर सेठ ने वहाँ आकर 'मिच्छामि दुक्कडम' करके भगवान् की पूजा की।

[पृष्ठ २०६ की पादटिप्पणि का शेषांश]

प्रयाग कहते (वसुदेवहिंडी, पृष्ठ १६३)। यही अग्निकापुत्र नामक एक साधु ने निर्वाण प्राप्त किया। निकट के देवताओ ने उस समय वहाँ उत्सव मनाया तब से यह प्रयाग तीर्थ माना जाने लगा (प्रयाग इति तत्तीर्थं प्रथित त्रिजगत्यपि परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, श्लोक १६६) यहाँ चित्र नाम के एक ऋषि हुए हैं (उत्तराध्ययन सटीक अ० १३, गाथा २, पत्र १८८-१) विपाकसूत्र मे यहाँ के एक राजा महाबल का उल्लेख मिलता है (३, ५७ पृष्ठ २६)

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खड, पत्र २६५।

पुरिमताल से भगवान् उन्नाग और गोभूमि होकर राजगृह पहुँचे और आठवाँ वर्षवास उन्होने राजगृह[1] मे किया। इस वर्षवास मे भगवान् ने चातुर्मासिक तप और विविध योग-क्रियाओ की साधना की। चातुर्मास समाप्त होते ही भगवान् ने राजगृह से विहार किया और बाहर जाकर चातुर्मासिक तप का पारना किया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २९६।

नवाँ चतुर्मास

भगवान् महावीर के मन में फिर विचार उठा—"अब भी बहुत से क्लिष्ट कर्म मेरी आत्मा के ऊपर चिपके हुए हैं। उन्हे शीघ्र नष्ट करने के लिए मुझे अभी अनार्य-देश मे परिभ्रमण करना चाहिए, क्योकि यहाँ के लोग मुझे जानते हैं, इससे कर्मों को नष्ट करने मे विलम्ब हो रहा है। अत पुन अनार्य देश मे जाना चाहिए।" ऐसा विचार करके उन्होने राढदेश[1] की वज्रभूमि और सुम्हभूमि जैसे अनार्य प्रदेश में विचरना प्रारम्भ किया।

१—(अ) शास्त्रो मे भगवान् के लाढ देश मे आने को कुछ लोग उनका अर्वुद-देश में विहार मानते हैं और इस लाढ अथवा राढ की समता लाट-देश से करते हैं। परन्तु, यह उनका भ्रम हैं। लाढ अथवा राढ देश की राजधानी कोटिवर्ष थी। उसके सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ विद्वानो के मत दे रहे है :—

(१) राढ—बगाल का वह भाग जो गगा के पश्चिम मे स्थित है। उसमे तमलुक, मिदनापुर तथा हुगली और वर्दवान जिले सम्मिलित थे।

(४) लाढ का प्रमुख नगर कोटिवर्ष था। कोटिवर्ष दिनाजपुर जिले में स्थित बानगढ़ है।

—द' हिस्ट्री आव बंगाल, (आर० सी० मजूमदार-कृत), पृष्ठ ९

(५) कोटिवर्ष—उत्तरी बंगाल में स्थित दिनाजपुर—पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इण्डिया, हेमचन्द्रराय चौधुरी-कृत, ५-वाँ संस्करण—पृष्ठ ५६१)

(६) वज्रभूमि (हीरे वाली भूमि) से हमें आईने-अकबरी में (भाग २) पृष्ठ १३८, (यदुनाथ सरकार द्वारा अनूदित) वर्णित दक्षिणी-पश्चिमी बंगाल में स्थित मदारन सरकार का ध्यान हो जाता है, जहाँ हीरे की खान थी। यह सरकार वीरभूमि, बर्दवान तथा हुगली तक फैली थी।

(ब) अपनी पुस्तक 'ज्यागरैफिकल डिक्शनरी आव ऐंशेंट ऐंड मिडिवल इण्डिया' में श्री नन्दलाल दे ने (पृष्ठ १६४) राढ की चर्चा करते हुए लिखा है—लाढ देश में २४-वें तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान केवल-ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व १२ वर्षों तक विहार करते रहे। अपनी इस उक्ति

भगवान् महावीर यह पहले से ही जानते थे कि, अनार्य-देश मे विचरने का अर्थ कष्टो को मोल लेना है। वहाँ भगवान् को ठहरने के लिए भी स्थान नही मिलता था। अत. वे किसी वृक्ष के नीचे अथवा खँडहर में ठहर जाते थे। अनार्य-देश के लोग भगवान् का मखौल उडाते। भगवान् को देखते ही उनको चारो ओर से घेर लेते और घूर-घूर कर उन्हे देखने लगते थे। वे वे उनपर पत्थर फेंकते, धूल उडाते, गालियाँ बकते और उन्हे दाँत काटते और उन पर शिकारी कुत्ते छोडते, जो भगवान् को काट लेते। इन सारे कष्टो को सहकर भगवान् अडिग बने रहे। उन अनार्यो के प्रति उनमे लेश-

---

[पृष्ठ २१२ की पादटिप्पणी का शेपाश]

के प्रमाण में उन्होंने बूलर-रचित 'इण्डियन सेक्ट आव जैंनिज्म' का उल्लेख किया है। उक्त पुस्तक में बूलर (पृष्ठ २६) ने लिखा है—१२ वर्षो से अधिक समय तक (केवल वर्षा मे विश्राम करते हुए) वे लाढ प्रदेश में—वज्जभूमि और सुम्हभूमि मे विहार करते रहे।"

पर, यह दे महोदर्य और बूलर दोनो का भ्रम है। महावीर स्वामी ने अपना पूरा छद्मकाल अनार्य प्रदेश मे नही बिताया था। पाठक यहाँ दिये पूरे विवरण से इस उक्ति की भूल समझ जायेंगे।

(स) अपनी पुस्तक 'प्री-एरियन ऐंड प्री ड्रेविडियन इन इण्डिया' (पृष्ठ १२५) मे श्री सेलविन लेवी ने आचाराग का उद्धरण देते हुए लिखा है—"लोग खुख्खू करके कुत्तो से महावीर स्वामी को कटाते।" और, आगे उन्होने "खुख्खू" और "तुत्तू" शब्द को समान माना है। पर, अपने इस निर्णय मे लेवी ने भूल की है। मूल आचाराग भाग, १, मे शब्द 'छुच्छू' (पत्र २८१।२) है, न कि 'खुख्खू'। और, 'तुत्तू' तथा 'छुच्छू' मे मूल-भूत अतर यह है कि 'त्तुत्तू' कुत्ते के बुलाने के लिए प्रयुक्त होता है और 'छुच्छू' दूसरो पर आक्रमण कराने के लिए।

(द) हमने इस सबध मे 'वीर-विहार-मीमासा' (हिन्दी) मे विशेप रूप से विचार किया है। जिज्ञासु उसे देख सकते हैं।

मात्र का आवेग उत्पन्न नही हुआ। अपने कर्मो का क्षय होते देख उनकी आत्मा में एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होता। और, उनके मुख पर प्रसन्नता की एक विशेष आभा दृष्टिगोचर होती। करुणामूर्ति महावीर का समभाव यहाँ पूर्ण रूप से खिल उठता। अनार्य लोग भगवान् को पीडा पहुँचाने में कोई कसर न छोडते, लेकिन भगवान् महावीर के करुणापूर्ण नेत्रो पर जब उनकी दृष्टि पडती तब उनकी क्रूरता पिघलने लगती।

इन चार महीनो में भगवान् को रहने के लिए कोई स्थान नही मिला। अत, यह नवाँ चौमासा भगवान् ने पेडो के नीचे या खडहरो में ध्यान धर कर और घूम कर ही समाप्त किया। छद्मस्थ काल मे यही एक चौमासा भगवान् ने अनार्यदेश मे किया।

छ महीने तक अनार्य देश मे विचर कर वर्षा काल के बाद भगवान् आर्यदेश[२] मे वापस आ गये।

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खंड, पत्र २९६

दसवाँ चातुर्मास

अनार्य-भूमि से निकल कर भगवान् और गोशाला सिद्धार्थपुर से की ओर जा रहे थे। रास्ते मे सात पुष्प वाला एक तिल का पौधा देखकर गोशाला ने पूछा—"भगवन् ! क्या यह तिल का पौधा फलेगा ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"हाँ, यह पौधा फलेगा। उसमे सात पुष्प-जीव हैं। वे एक ही फली मे उत्पन्न होगे।" यह सुनकर पीछे से गोशाला ने उस तिल के पौधे को उखाड कर फेंक दिया, जिससे उसमे फल ही न लगे। और, वे दोनों ही कूर्मग्राम की ओर गये। लेकिन, भवितव्यता-वश उसी समय वर्षा हुई और वह तिल का पौधा एक गाय के खुर के नीचे आकर जमीन मे चिपक गया।

महावीर और गोशाला कूर्मग्राम पहुँचे और वहाँ मध्याह्न समय हाथ ऊँचा करके जटा खोल कर सूर्यमंडल के सामने दृष्टि रख कर वैश्यायन-नामक बाल-तपस्वी[1] को घोर तपश्चर्या करते हुए देखा।

उस तापस का पूर्व जीवन इस प्रकार था। चम्पा और राजगृह के मध्य मे गोबर नाम का एक गाँव था। वहाँ गोशखी नाम का एक अहीर कुटुम्बी रहता था। उसकी पत्नी का नाम बन्धुमती था। वह बन्ध्या थी। उसके पास खेटक नाम का एक गाँव था। चोरो ने आकर उस गाँव को लूटा और लोगो को पकड ले गये। उस गाँव मे वेशिका नाम की एक स्त्री थी। जो अत्यन्त रूपवती थी, वह सप्रसूता थी, उसका पति मारा गया था। अत उसको जो लडका पैदा हुआ उसको एक वृक्ष के नीचे रख कर उस

१—लौकिक तापस राजेन्द्राभिधान, भाग ५, पृष्ठ १३१८, 'फुलिश ऐसेटिक' —हिस्ट्री आव आजीवक, पृष्ठ ४९।

२—त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ७८, पत्र ४३-२

स्त्री को चोर उठा ले गये। गोशखी-नामक अहीर ने प्रात काल उस लडके को देखा और उसको घर ले जाकर वह पुत्रवत् लालन-पालन करने लगा। इधर चोरो ने उस लडके की माँ वेशिका को एक वेश्या के यहाँ चम्पा नगरी मे बेच दिया। वेश्या ने उसको अपना सब व्यवहार सिखलाया। वेशिका का लडका जब जवान हुआ तो एक समय मित्रो के साथ घी की गाडी लेकर चम्पा नगरी मे गया। नगरनिवासियो को चतुर रमणियो के साथ विलास करते देखकर, वह भी क्रीडा के लिए वेश्याओ के मुहल्ले मे गया। और, वहाँ एक सुन्दर वेश्या को देखकर उस पर मुग्ध हो गया। आभूषण आदि से उसे प्रसन्न करके रात को आने का सकेत करके वह चला गया। रात मे स्नान-विलेपनादि से सज्ज होकर उस गणिका के पास जाते हुए उसका पाँव विष्टा मे पड गया। लेकिन, शीघ्रतावश मार्ग मे खडे हुए गाय के वत्स से पाँव रगड कर जाने लगा। वत्स के गाय से मनुष्यवाचा मे कहा—"देखो माँ, यह मनुष्य विष्टायुक्त पाँव मुझ पर पोछ रहा है।" वत्स की बात सुनकर गाय बोली—"बेटा! चिंता मत करो। यह कामान्ध अपनी माता को ही भोगने के लिए जा रहा है। उसको ज्ञान ही कहाँ है ?"

इस बात को सुन कर चिन्तामग्न वह वेश्या के पास गया और धन देकर, उससे उसकी जीवन-कथा पूछने लगा। जब उस वेश्या ने अपनी सारी कथा कह सुनायी, तो वह लौट कर अपने ज्ञात माता-पिता बधुमती-गोशखी के पास गया और उनसे पूछने लगा—"आज सच बताइए कि क्या आप मेरे सगे माता-पिता हैं या आप लोगो ने मुझे मोल लिया है।" बधुमती और गोशखी ने सारा वृतात सच-सच कह सुनाया। अत, वह सीधा अपनी माँ के पास पहुँचा और उस कुटनी से अपनी माता को छुडा कर अपने गाँव ले गया।

लेकिन, अपनी माता के साथ भोग-भोगने के विचार से उसे बडी ठेस लगी और वह तापस हो गया।[1]

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २९७। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ७८-१०६ पत्र ४३-२—४४-२।

यही तापस घोर तपश्चर्या कर रहा था। उसकी जटाओ से जो जूएँ गिरती, उनको उठा कर वह पुन. अपनी जटा मे रख लेता। उसे देखकर गोशालक ने महावीर स्वामी से पूछा—"यह जूँओ का घर कौन है ?" इस प्रकार गोशाला को बार-बार प्रश्न करते देख, तापस को क्रोध आया और उसने अपनी तेजोलेश्या गोशाला के ऊपर छोडी। गोशाला डर के मारे भागा और भगवान् के बगल मे जा छिपा। भगवान् ने शीतलेश्या से तेजोलेश्या का निवारण किया। यह देखकर उस तापस ने भगवान् से कहा—"यह आपका शिष्य है। यह मुझे नही ज्ञात था। नही तो, मैं ऐसा न करता।" और, वह चला गया।

तेजोलेश्या की बात सुनकर, गोशाला ने भगवान् महावीर से उसे प्राप्त करने की विधि पूछी। तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि बतलाते हुए भगवान् ने कहा—"छ महीने तक लगातार छठ की तपश्चर्या (दो उपवास) करके सूर्य के सामने दृष्टि रखकर खडे-खडे उसकी आतापना ले और पकाये हुए मुट्ठी भर छलकेदार कुल्माष[1] और चिल्लू भर पानी से पारना करे तो उस तपस्वी को थोडी-बहुत मात्रा मे तेजोलेश्या की प्राप्ति होती है।"[2]

कुछ समय के बाद भगवान् ने फिर सिद्धार्थपुर की ओर विहार किया। जब वे उस तिल के पौधे के पास पहुँचे, तो गोशाला बोला—"देखिये भगवन्! वह तिल का पौधा नही पनपा, जिसके सम्बध मे आपने भविष्य-वाणी की थी।" भगवान् ने अन्य स्थान पर उगे तिल के पौधे को दिखला कर कहा—"गोशाला! यह वही तिल का पौधा है, जिसे तुमने उखाड

१—'कुल्माषा' राजमाषा—नेमिचद्राचार्यकृत उत्तराध्ययन टीका, पत्र १२६-१

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २६६,
तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि के सम्बन्ध मे हारिभद्रीयावश्यक वृत्तिटिप्पणकम् मे श्रीमन्मलधार गच्छीय हेमचन्द्र ने लिखा है—अगुली-चतुष्टयनखाक्रान्तहस्ते यका मुष्टिर्बध्यते सा सनखा कुल्माप पिण्डिकेत्यु-च्यते (पत्र २५–२)

कर फेंक दिया था।"

गोशाला को पहले तो विश्वास नही हुआ, लेकिन जब उसने उस पौधे से फली को तोडकर देखा तो उसमे सात ही तिल निकले थे। इस घटना से गोशाला नियतिवाद के सिद्धान्त के प्रति और दृढीभूत होकर बोला—"इस प्रकार सभी जीव मरकर पुन अपनी योनि मे ही उत्पन्न होते हैं।[1]

यहाँ से गोशाला भगवान् से अलग होकर श्रावस्ती नगर मे गया। और, वहाँ आजीवक-मत को मानने वाली हालाहला[2] नामक कुम्हारिन के यहाँ उसकी भट्ठीशाला मे तेजोलेश्या की साधना करने लगा।

भगवान् महावीर द्वारा वतायी विधि से, ६ महीने तक तप और आतापना के वल पर उसने तेजोलेश्या सिद्ध की। अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए वह कूएँ के पास गया और ककड़ मार कर एक जल भरने वाली दासी का घडा तोड दिया। जव वह क्रुद्ध होकर गाली देने लगी, तो गोशाला ने तेजोलेश्या का प्रयोग किया। विजली की तरह तेजोलेश्या ने उस दासी को भस्म कर दिया।

अष्टाग निमित्त के पारगामी शोण, कलिन्द, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेशान और अर्जुन—जो पहले पार्श्वपात्य साधु थे, और वाद मे दीक्षा छोड कर निमित्त के वल पर अपनी आजीविका चलाते थे[3]—से गोशाला ने निमित्त-शास्त्र का अध्ययन किया। इस ज्ञान के द्वारा वह सुख, दु.ख, लाभ, हानि, जीवन और मृत्यु—इन छ वातो मे—सिद्धवचन नैमित्तिक वन गया।

तेजोलेश्या और निमित्तज्ञान-जैसी असाधारण शक्तियो से गोशाला का महत्व खूब बढा। प्रतिदिन उसके अनुयायियो और भक्तो की सख्या वढने लगी। सामान्य भिक्षु गोशाला अब आचार्य की कोटि मे पहुँच गया और आजीवक-सम्प्रदाय का तीर्थंकर बन कर विचरने लगा।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २९९।

२—भगवती सूत्र, शतक १५, सूत्र, १ (तृतीय खंड, पृष्ठ ३६७)

३—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक १३५, पत्र ४५-२।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पहुँचे। एक दिन बाहर आप कायोत्सर्ग मे स्थिर थे, तब लडको ने आपको पिशाच समझकर खूब तग किया। उस समय शङ्ख राजा, जो राजा सिद्धार्थ का मित्र था, भगवान् महावीर को पहचान कर उनसे मिलने आया और उनके चरणो में पड कर उसने उनकी वदना की।

वैशाली से भगवान् ने वाणिज्यग्राम की ओर प्रस्थान किया। वैशाली और वाणिज्यग्राम के मध्य मे गण्डकी नदी बहती थी। भगवान् ने नाव द्वारा उस नदी को पार किया। किनारे पहुँचने पर नाविक ने किराया माँगा। भगवान् ने उसको कुछ उत्तर न दिया तो नाविक ने उन्हे रोक रखा। उसी समय शंख राजा का भांजा—चित्र, जो दूत-कार्य से कही गया हुआ था—वहाँ आ गया और किराया देकर उसने भगवान् को मुक्त कराया और उनकी[1] पूजा की।

वाणिज्यग्राम मे जाकर नगर से बाहर भगवान् ध्यान मे स्थिर हो गये। इस गाँव मे आनद नामक एक श्रमणोपासक रहता था। निरन्तर छठ (दो दिन का उपवास) की तपश्चर्या और आतापना के कारण आनद को 'अवधिज्ञान'[2] ज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी। भगवान् के आगमन की बात सुनकर वह उनके पास गया और वदन करके बोला—"हे भगवन्! आपका शरीर और मन दोनो ही वज्र के बने हैं। अत., अति दु सह परीषह और दारुण उपसर्गों के आने पर भी आपका शरीर टिका हुआ है। अब निकट-भविष्य मे ही आपको केवल-ज्ञान की प्राप्ति होगी।"

वाणिज्यग्राम से विचरते हुए भगवान् श्रावस्ती पधारे और दसवाँ चातुर्मास आपने श्रावस्ती[3] में किया। इस वर्षावास में भगवान् ने नाना प्रकार के तप किये और योगक्रियाओ की सिद्धि की।

१—आवश्यकचूर्णि, प्रथम खण्ड, पत्र २६६।

२—इन्द्रियमनोनिरपेक्षे आत्मनो रूपिद्रव्य साक्षात्कारकारणे ज्ञानभेदे-स्था० २ ठा०

आत्मा, इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जिस ज्ञान से पदार्थो को प्रत्यक्ष देखता है उस विशेष ज्ञान को अवधिज्ञान कहते है।

३—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खण्ड, पत्र ३००।

ग्यारहवाँ चातुर्मास

दसवाँ चातुर्मास समाप्त होते ही भगवान् ने श्रावस्ती से सानुलट्ठिय सन्निवेश की तरफ विहार किया। यहाँ पर आप भद्र[1], महाभद्र[2] और सर्वतोभद्र[3] प्रतिमाओ की आराधना करते हुए ध्यानमग्न रहे और अविच्छिन्न सोलह उपवास[4] किये।

तप का पारना करने के लिए, भगवान् आनन्द गृहपति के घर गये। आनन्द की बहुला-नामक दासी रसोई मे बरतन साफ कर रही थी और ठण्डा अन्न फेंकने जा रही थी। इतने मे भगवान् वहाँ आ पहुँचे। दासी ने पूछा—"महाराज, आपको क्या चाहिए ?" उस समय भगवान् ने दोनो हाथ पसारे और दासी ने बडी भक्ति से उस अन्न को उनके हाथो पर रखा। और,

---

१—पूर्वादिदिक्चतुष्टये प्रत्येक प्रहर चतुष्टय कायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्र द्वय मानेति—स्थानाग सूत्र सटीक, प्रथम भाग, पत्र ६५–२।
पूर्व आदि चारो दिशाओ में प्रत्येक मे चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना। इसका प्रमाण दो अहोरात्र है।

२—महाभद्रापि तथैव, नवरमहोरात्र कायोत्सर्गरूपा अहोरात्र चतुष्टय माना —स्थानाग सूत्र सटीक, प्रथम भाग, पत्र ६५–२।
पूर्व आदि चारो दिशाओ मे अहोरात्र कायोत्सर्ग करना। इसका मान चार अहोरात्र है।

३—सर्वतोभद्र तु दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्र कायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदशक प्रमाणेति।—स्थानाग सूत्र सटीक, प्रथम भाग, पत्र ६५–२।
दशो दिशाओ मे प्रत्येक में अहोरात्र कायोत्सर्ग करना। इसका मान दस अहोरात्र है।

४—आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पत्र ३००।

भगवान् ने उस बचे हुए अन्न से ही पारना किया।

सानुलट्ठिय से भगवान् ने दृढभूमि की ओर विहार किया और पेढाल गाँव के पास स्थित पेढाल-उद्यान में पोलास नाम के[1] चैत्य मे जाकर अट्ठम तप (तीन दिन का उपवास) करके, एक भी जीव की विराधना न हो, इस प्रकार एक शिला पर शरीर को कुछ नमाकर हाथ लम्बे करके किसी रुक्ष-पदार्थ पर दृष्टि स्थिर करके दृढमनस्क होकर अनिमेष दृष्टि से भगवान् वहाँ एक रात्रि ध्यान मे स्थिर रहे। यह महाप्रतिमा-तप कहलाता है।

भगवान् की ऐसी उत्कृष्ट ध्यानावस्था देखकर, इन्द्र ने अपनी सभा मे कहा—"भगवान् महावीर के बराबर इस जगत मे कोई ध्यानी और धीर नही है। मनुष्य तो क्या, देवता भी उनको अपने ध्यान से चलायमान नही कर सकते।"[२]

इन्द्र के मुख से एक मनुष्य की ऐसी प्रशसा सगमक-नामक देव से सहन नही हुई। उसने कहा—"ऐसा कोई मनुष्य नही हो सकता जो देवो की तुलना मे आ सके। अभी जाकर मैं उनको ध्यान से चलायमान करता हूँ।" ऐसी प्रतिज्ञा करके वह शीघ्र ही पोलास-चैत्य मे जा पहुँचा, जहाँ भगवान् महावीर ध्यानारूढ थे। भगवान् को ध्यान से विचलित करने के लिए सारी रात उसने बीस अति भयकर उपसर्ग किये :—

(१) पहले उसने प्रलयकाल की तरह धूल की भीषण वृष्टि की। भगवान् के नाक, आँख, कान उस धूल से भर गये, लेकिन अपने ध्यान से वे ज़रा भी विचलित नही हुए।

(२) धूल की वर्षा करने का उपद्रव शात होते ही, उसने वज्र-सरीखी तीक्ष्ण मुंहवाली चीटियाँ उत्पन्न की। चीटियो ने महावीर के सारे शरीर को खोखला बना दिया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३०१।

१—आवश्यक चूर्णि प्रथम खड, पत्र ३०२।

(३) फिर उसने मच्छर के झुड-के-झुड भगवान् पर छोडे जो उनके शरीर को छेद कर खून पीने लगे। उस समय भगवान् के शरीर मे से वहते हुए दूध-सरीखे खून से भगवान् का शरीर झरने वाले पहाड-सरीखा मालूम होता था।

(४) यह उपसर्ग शान्त ही नही हुआ था कि, प्रचड मुखवाली घृतेलिका (दीमक) आकर भगवान् के शरीर से चिपट गयी और उनको काटने लगी। उनको देखने से ऐसा लगता था, मानो भगवान् के रोगटे खड़े हो गये हो।

(५) उसके वाद उस देव ने विच्छुओ को उत्पन्न किया, जो अपने तीखे दशो से भगवान् के शरीर को दशने लगे।

(६) फिर उसने न्यौले उत्पन्न किये, जो भयकर शब्द करते हुए भगवान् की ओर दौडे और उनके शरीर के मास-खड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

(७) उसके पश्चात् उसने भीमकाय सर्प उत्पन्न किये। वे भगवान् को काटने लगे। पर, जब उनका सारा विप निकल गया, तो ढीले होकर गिर पडे।

(८) फिर, चूहे उत्पन्न किये। जो भगवान् के शरीर को काटते और उस पर पेशाव करके 'कटे पर नमक' की कहावत चरितार्थ करते।

(९) उसने लम्बी सूँडवाला हाथी (गजेन्द्र) उत्पन्न किया, जो भगवान् को उछाल कर लोक लेता था। दाँतो से भगवान् पर प्रहार करता था, जिससे वज्र-सरीखी भगवान् की छाती मे से अग्नि की चिनगारियाँ निकलती थी। लेकिन, हाथी भी अपने प्रयत्न मे सफल नही हुआ।

(१०) उसके वाद हथिनी ने भी भगवान् पर वैसा ही उपद्रव किया। उनके शरीर को वींध डाला। अपने शरीर का जल-विप की तरह भगवान् पर छिडका। लेकिन, वह भी भगवान् को विचलित करने में सफल नहीं हुई।

(११) उसके बाद उसने पिशाच का रूप ग्रहण किया और भयानक रूप मे किलकारी भरते हुए, हाथ मे वर्छी लेकर भगवान् की ओर झपटा। पर, अपनी सारी शक्ति आजमाने के बाद भी वह असफल रहा।

(१२) फिर उसने विकराल बाघ का रूप धारण किया। उसने वज्र-सरीखे दाँतो से और त्रिशूल की तरह नखो से भगवान् के शरीर का विदारण किया। पर, वह निष्फल रहा।

(१३) फिर, उसने सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप धारण किया और हृदय-विदारक ढग से विलाप करते हुए कहने लगा—"हे वर्द्धमान, तुम वृद्धावस्था मे हमे छोडकर कहाँ चले गये।" लेकिन, भगवान् अपने ध्यान मे स्थिर रहे।

(१४) उसने एक शिविर की रचना की। उस शिविर के रसोइए को भोजन बनाने की इच्छा हुई, तो उसने भगवान् के दोनो पैरो के बीच आग जला दी और बीच में भोजन पकाने का बर्तन रखा। वह अग्नि भी भगवान् को विचलित करने में समर्थ नही हुई। प्रत्युत् अग्नि मे तपे सोने के समान भगवान् की काति प्रदीप्त होने लगी और उनके कर्म-रूपी काष्ठ भस्म होने लगे। इस बार सगम लज्जित तो अवश्य हुआ, पर अभी भी उसका मद नही उतरा!

(१५) उसने फिर चाडाल का रूप धारण किया और भगवान् के शरीर पर विविध पक्षियो के पिंजरे लटका दिये, जो भगवान् के शरीर पर चोच और नख से प्रहार करने लगे।

(१६) फिर, उसने भयकर आँधी चलायी। वृक्षो को मूल से उखाड़ता हुआ और मकानो की छतो को उडाता हुआ, वायु गगनभेदी निनाद के साथ बहने लगा। भगवान् महावीर कई वार ऊपर उड़ गये और फिर नीचे गिरे; लेकिन फिर भी वे ध्यान से विचलित नही हुए।

(१७) उसके बाद उसने बवडर चलाया, जिसमे भगवान् चक्र की तरह घूमने लगे; लेकिन फिर भी वे ध्यान से च्युत नही हुए।

(१८) थककर उसने भगवान् पर कालचक्र चलाया, जिससे भगवान् घुटने तक जमीन मे धँस गये । लेकिन, इतने पर भी भगवान् का ध्यान भग नही हुआ ।

इन प्रतिकूल उपसर्गों से भगवान् को विचलित करने मे अपने को असमर्थ पाकर, उसने अनुकूल उपसर्गों द्वारा भगवान् का ध्यान भग करने का प्रयास किया ।

(१९) और, एक विमान मे बैठकर भगवान् के पास आया और बोला—"कहिये आपको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग ?" लेकिन, भगवान् महावीर फिर भी अडिग रहे ।

(२०) अत मे, उसने अतिम उपाय के रूप में एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख खडी कर दिया । लेकिन, उसके हाव-भाव भी भगवान् को विचलित नही कर सके ।

जब रात्रि समाप्त हुई और प्रात काल हुआ, तब भगवान् महावीर ने अपना ध्यान पूरा करके वालुका की ओर विहार किया ।[१]

भगवान् महावीर की मेरु की तरह धीरता और सागर की तरह गम्भीरता देखकर सगमक लज्जित हो गया । अब उसे स्वर्ग मे जाते लज्जा लगने लगी । लेकिन, इतने पर भी उसका हौसला पूरा नहीं हुआ । अत मार्ग मे उसने ५०० चोरो को खड़ा करके भगवान् को भयभीत करना चाहा । वालुका से भगवान् ने सुयोग, सुच्छेता, मलय और हस्तिशीर्ष आदि गाँवो मे भ्रमण किया । इन सब गाँवो मे सगमक ने कुछ-न-कुछ उपद्रव खडे किये ।

एक समय भगवान् तोसलिगाँव[२] के उद्यान मे ध्यानारूढ[३] थे । तब संगमक साधु का वेष बनाकर गाँव में गया और सेंध मारने लगा ।

१–आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३११ ।

२—इसका वर्तमान नाम धौलि है । यहाँ अशोक का लेख भी है । यह स्थान खण्डगिरी-उदयगिरी के निकट है ।

३—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खण्ड, पत्र ३१२ ।

लोगो ने उसको चोर समझ कर पकड़ा और जब पीटने लगे तो वह बोला— "मुझे क्यो पीटते हो। मैं तो अपने गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ।" जब लोगो ने पूछा कि तेरा गुरु कौन है, तो उसने उद्यान मे ध्यानमग्न महावीर स्वामी को बता दिया।

लोग वहाँ गये तो लोगो ने वहाँ भगवान् को ध्यान में खडे देखा। अत, भगवान् को ही चोर समझ कर उन पर धावा कर दिया और बाँध कर गाँव मे ले जाने वाले थे कि, इतने मे महाभूतिल नामका एक ऐन्द्रजालिक वहाँ आ पहुँचा। उसने भगवान् का परिचय गाँव वालो को करा कर उनको मुक्त कराया। अब लोग उस साधु की खोज करने लगे, लेकिन उसका कही भी पता नही चला। तब गाँव वालो को मालूम हुआ कि इसमे कुछ-न-कुछ रहस्य है।

तोसली से भगवान् मोसलि[१] पहुँचे[२] और उद्यान मे कायोत्सग मे खडे हो गये। इस समय भी सगमक ने आप पर चोर होने का आरोप लगाया। सिपाही भगवान् को पकड कर राजा के पास ले गये। राजसभा मे राजा सिद्धार्थ के मित्र सुमागध नामका राष्ट्रिय[३] बैठा हुआ था। भगवान् महावीर को देखकर वह खडा हो गया। और, भगवान् का परिचय करा कर उसने उनको बन्धन से मुक्त कराया। आप वहाँ से पुन तोसलि जाकर उद्यान मे ध्यानरूढ हो गये।

यहाँ सगमक देव ने चोरी के औजार लाकर भगवान् के पास रख दिये। इन औजारो को देखकर लोगो ने आपको चोर की शका से पकड लिया और तोसलि-क्षत्रिय के पास ले गये। क्षत्रियने आपसे बहुत-से प्रश्न पूछे और

१—कलिंग देश का एक विभाग था। भरत के नाट्य-शास्त्र मे इसका उल्लेख है।

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३१३.

३—(अ) राष्ट्रीय—राष्ट्रचिंता नियुक्ता—प्रश्नव्याकरण अभयदेव-सूरिकृत टीका, पत्र ९६

(आ) राष्ट्रियो नृपते श्याल ॥२४७॥ काड ३, अभिधान चिन्तामणि

· (पृष्ठ २२५ की पादटिप्पणि का शेषांश)

(इ) राजश्यालस्तु राष्ट्रिय ॥१४॥ प्रथम काड, अमर-कोष

(ई) शब्दसिद्धि के नियमानुसार "राष्ट्रे अधिकृत" इति राष्ट्रिय इस अर्थ में राष्ट्रादिय ६-३-३ सिद्धहेम व्याकरण के नियमानुसार अधिकार अर्थ मे इयन् प्रत्यय आकर भी राष्ट्रिय बनता है। अत राष्ट्र मे देश में जो अधिकारी या अध्यक्ष है, वह राष्ट्रिय कहलाता है। अमरकोष के एक टीकाकार क्षीरस्वामीने भी यही अर्थ किया है।

क्षीरस्वामी ने अपनी टीका मे कहा है कि नाटक छोडकर राष्ट्रिय का अर्थ राष्ट्रविकृत होता है। अर्थात् वह प्राधिकारी जो राष्ट्र, राज्य अथवा प्रान्त के मामलो को देखने के लिए नियुक्त किया गया हो।

—'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंश्येंट इडिया' राय चौधरी—कृत पृष्ठ २९० (पाद-टिप्पणि)

(ऊ) 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग रुद्रदामन के शिलालेख मे इस रूप मे हुआ है :—

८—मौर्यस्य राज्ञ चन्द्र (गु) [प्त,] [स्य] राष्ट्रियेण [वै] श्येन पुष्पगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्यस्य (कृ) ते यवन राजेन तुष [।] स्फेनाधिष्ठाय।

'सिलेक्ट के इस्क्रिप्शस बियरिंग आन इडियन हिस्ट्री ऐंडसिविलाइजेशन पृष्ठ १७१.

(ए) बरुआ ने अपनी पुस्तक 'अशोक ऐंड हिज इस्क्रिप्सस' मे (पृष्ठ १४८, १४९, १५०) लिखा है :—

तालाव का निर्माता वैश्य पुष्यगुप्त चन्द्रगुप्त मौर्य का राष्ट्रिय था। यहाँ राजनीतिक और शासन-सम्बन्धी पूरा रहस्य राष्ट्रिय शब्द मे है। 'राष्ट्रिय' शब्द का अर्थ अमर-कोष मे राजा का साला दिया है। अमरसिंह ने उसका वह अर्थ दिया है, जिस अर्थ मे उसका प्रयोग संस्कृत-नाटको मे होता है। अत. इस सम्बन्ध में क्षीरस्वामी का यह मत ठीक है कि राष्ट्रिय राष्ट्राधिकृत को कहते हैं, जो राष्ट्र, राज्य अथवा प्रान्त देखभाल के लिए नियुक्त होता है। कीलहार्न ने पुष्यगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रान्तीय

परिचय जानना चाहा। लेकिन, भगवान् ने कुछ भी उत्तर नही दिया' और न अपना परिचय ही बताया। इससे तोसलि-राजा और उनके सलाहकारो को विश्वास हो गया कि जरूर यह कोई छद्मवेशधारी साधु है। अत उन्होने आपको फाँसी की सजा सुनायी। अधिकारी आपको फाँसी के फदे पर ले गये और गले मे फासी का फदा लगाया, लेकिन तख्ता चलाते ही फदा टूट गया। इस तरह सात वार फासी लगायी गयी और सातो बार फदा टूटता गया। इस घटना से सब अधिकारी आश्चर्य मे पड गये और राजा के समीप जाकर सब घटना कह सुनायी। राजा वडा प्रभावित हुआ। और, उसने आदरपूर्वक उनको मुक्त कर दिया।

तोसलि से भगवान् सिद्धार्थपुर गये और वहाँ भी चोर की आशका से पकडे गये, लेकिन कौशिक नाम के एक घोडे के व्यापारी (आस-वणिओ) ने आपका परिचय बताकर आपको मुक्त करा दिया। वहाँ से आप व्रज-गाम गये।[1]

१—आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पत्र ३१३।

(पृष्ठ २२६ की पादटिप्पणि का शेषाश)

गवरनर लिखा है। लेकिन, राय चौधरी ने लिखा है कि यह पद सम्भवत इम्पीरियल हाई कमिश्नर-सरीखा था, जिसकी तुलना मिस्र के लार्ड क्रोमर से की जा सकती है। राय चौधरी राष्ट्रिय को राष्ट्रपाल शब्द के समकक्ष लेते हैं।

बुद्धघोप ने एक प्रसग मे लिखा है—जब मगध के अजातशत्रु राजा की सवारी निकलती थी, तो राष्ट्रिय लोगो को महामात्र लोगो के साथ स्थान मिलता था। ये महामात्र बडे अच्छे कपडे पहने ब्राह्मण होते थे, जो जयघोप करते चलते थे। राष्ट्रिय लोग भी वडे सज-धज के कपडे पहनते थे और हाथ मे तलवार लेकर निकलते थे।

अत स्पष्ट है कि 'राष्ट्रिय' शब्द वस्तुत 'प्रान्तपति' के पद का द्योतक है।

व्रजगाम—गोकुल मे उस दिन पर्व होने से, सब के घर मे खीर पकी थी। भगवान् भिक्षा के लिए गये। सगमक वहाँ भी पहुँच गया और आहार को अशुद्ध करने लगा। भगवान् सगमक की कार्रवाई समझ गये और नगर छोड कर बाहर चले गये।

सगमक छ महीने से भगवान् को निरतर कष्ट दे रहा था और विविध उपायो से सता रहा था। भगवान् को ध्यान से चलित करने के लिए, उसने बहुत-से उपाय किये। लेकिन, वह सफल नही हो सका। इन सब कृत्यो के बाद सगमक को यह अनुभव हुआ कि भगवान् महावीर का मनोबल पहले से दृढतर ही होता जा रहा है, तब उसने अपनी हार स्वीकार कर ली और भगवान् के पास जाकर बोला—"इन्द्र ने आपकी जो स्तुति की थी, वह पूर्णत सत्य है। आप सत्य-प्रतिज्ञ हैं और मैं अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हुआ हूँ। अब मैं भविष्य मे किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित करूँगा।"

सगमक के इस वचन को सुनकर भगवान् महावीर ने कहा—"सगमक! मैं किसी के वचन की अपेक्षा नही रखता हूँ। मैं तो अपनी इच्छा के अनुसार ही विचरता हूँ।"

भगवान् के अपूर्व समभाव और क्षमाशीलता से पराभूत होकर सगमक वहाँ से चला गया। दूसरे दिन भगवान् उसी व्रजगाम में गये। पूरे छ महीने के बाद आपने वत्सपालक-एक वृद्धा-के हाथ से खीर से पारणा किया।

सगमक जब देवलोक में गया तब इन्द्र उसके ऊपर बडा क्रुद्ध हुआ। उसकी भर्त्सना करते हुए उसको देवलोक से निकाल दिया। सगमक अपनी पत्नी के साथ जाकर मेरु पर्वत के शिखर पर रहने लगा।

व्रजगाम से भगवान् ने श्रावस्ती की ओर विहार किया। अलभिया, सेयविया आदि प्रसिद्ध नगरो मे होते हुए आप श्रावस्ती पहुँचे और नगर के उद्यान मे ध्यानारूढ हो गये।

श्रावस्ती से कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरो मे

घूमते हुए, आप वैशाली पधारे और ग्यारहवाँ चातुर्मास आपने वशाली मे ही व्यतीत किया।

वैशाली के वाहर समरोद्यान था। उसमें वल्देव का मदिर था। उसी मे भगवान् महावीर ने चातुर्मासिक तप करके चातुर्मास विताया।[1]

वैशाली में जिनदत्त नाम का श्रेष्ठी रहता था। ऊसकी ऋद्धि-समृद्धि क्षीण हो जाने से, वह जीर्णश्रेष्ठी नाम से विख्यात था। जिनदत्त सरल एव परम श्रद्धालु था। वह प्रतिदिन भगवान् महावीर को वदन करने के लिए जाता था और आहार-पानी के लिए प्रार्थना करता था। लेकिन, भगवान् नगर में कभी जाते ही न थे। सेठ ने सोचा—"भगवान् को मास-क्षमण (एक महीने का उपवास) महीना पूरा होगा, तव आयेंगे। महीना पूरा हुआ तव सेठ ने विशेष आग्रहपूर्वक भगवान् से प्रार्थना की लेकिन भगवान् न आये। तव उसने द्विमासिक क्षमण की कल्पना की। जव दो महीने के अत में भी प्रार्थना करने पर भगवान् नही आये, तो उसने त्रिमासिक मास-क्षमण की कल्पना की। जव तीन महीने पूरे हुए तो उसने फिर भगवान् से प्रार्थना की और इस वार भी जव भगवान् न आये, तो उसने सोच लिया कि भगवान् ने चातुर्मासिक तप किया है। चातुर्मासिक तप पूरा होने पर सेठ ने भगवान् से अपने घर पधारने की विनती वडे अनुनय-विनय से की और घर वापस लौट कर भगवान् के आने की प्रतीक्षा करने लगा। जव मध्याह्न हो चुका, तव पिंडेपणा (भिक्षाचर्या) के नियम के अनुसार नगर मे घूमते हुए भगवान् ने अभिनव श्रेष्ठी के घर मे प्रवेश किया। घर के मालिक ने भगवान् महावीर को देखते ही दासी को इशारा किया कि जो कुछ हो वह दे दो। दासी ने लकडी की कलछी (दारुहस्तक) से कुलमाप (राजमाप) लिया और भगवान् ने उसमे ही चातुर्मास-तप का पारणा किया।

१—अ—त्रिपष्टिशलाका, पुरुप चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ३४३, पत्र ५३-१

आ—महावीर चरिय नेमिचन्द्र-रचित, श्लोक ४३, पत्र ४८-२।

जीर्ण सेठ को जब यह सब बात मालूम हुई कि, भगवान् ने अन्यत्र पारणा कर लिया, तब उसे बड़ी निराशा हुई और अभिनव सेठ के भाग्य की जहाँ भगवान् ने आहार लिया था भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। चतुर्मास समाप्त होते ही, भगवान् ने वैशाली से सुसुमारपुर की ओर विहार किया।

बारहवाँ वर्षावास

भगवान् ने ग्यारहवाँ चातुर्मास वैशाली नगरी मे बिताया। यहाँ भूतानन्द[1] ने आकर प्रभु से कुशल पूछा और सूचित किया कि थोड़े काल में आपको केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति होगी। वहाँ से प्रभु सुसुमार-नामक नगर की ओर गये। वहाँ चमरेन्द्र का उत्पात[2] हुआ। उसकी कथा भगवती-सूत्र मे निम्नलिखित रूप में आयी है।

१—जैन-साहित्य में ६४ प्रकार के इन्द्र वर्णित हैं। २० इन्द्र भवनपति के, ३२ व्यन्तर के, २ ज्योतिष्क के और १० वैमानिक के। भवनपति के इन्द्र निम्नलिखित हैं —

प्रथम भवनपति के—१ चमर और २ बलि असुरकुमारेन्द्र हैं, द्वितीय के ३ धरण और ४ भूतानन्द नागकुमारेन्द्र हैं। तृतीय भवनपति के—५ वेणु और ६ वेणुदारी सुपर्णकुमारेन्द्र हैं चतुर्थ भवनपति के ७ हरि और ८ हरिसह विद्युत्कुमारेन्द्र हैं, पंचम भवनपति के—९ अग्निशिख और १० अग्निमाणव अग्निकुमारेन्द्र है, षष्ठम् भवनपति के—११ पूर्ण और १२ वासिष्ठ दीपकुमारेन्द्र हैं, सप्तम् भवनपति के—१३ जलकान्त और १४ जलप्रभ उदधिकुमारेन्द्र हैं, अष्टम भवनपति के—१५ अमितगति और १६ अमित वाहन दिशाकुमारेन्द्र हैं। नवम भवनपति के—१७ वेलम्ब और १८ प्रभंजन,

"हे गौतम, उस काल मे, उस समय मे, मैं छद्मस्थ अवस्था मे था और मुझे दीक्षा लिये ११ वर्ष बीत चुके थे। मैं निरन्तर छठ्ठ-छठ्ठ के तप कर्म-पूर्वक तथा सयम और तपश्चर्यापूर्वक आत्म-भावना-युक्त अनुक्रम से, विहार

(पृष्ठ २३० की पादटिप्पणि का शेषांश)

वातकुमारेन्द्र हैं तथा दशम भवनपति के—१९ घोष और २० महाघोष स्तनितकुमारेन्द्र हैं।

व्यन्तर के निम्नलिखित इन्द्र है —१ काल और २ महाकाल पिचाचेन्द्र हैं। ३ सुरूप और ४ प्रतिरूप भूतेन्द्र हैं। ५ पूर्णभद्र और ६ मणिभद्र यक्षेन्द्र हैं। ७ भीम और ८ महाभीम राक्षसेन्द्र हैं। ९ किन्नर और १० किंपुरुष किन्नरेन्द्र हैं। ११ सत्पुरुष और १२ महापुरुष किंपुरुषेन्द्र हैं। १३ अतिकाय और १४ महाकाय महोरगेन्द्र हैं। १५ गीतरति और १६ गीतयश गन्धर्वेन्द्र हैं।

व्यन्तर विशेष—१ सन्निहित और २ सामान्य अणपण्णेन्द्र हैं। ३ घात और ४ विहात पणपण्णेन्द्र हैं। ५ ऋषि और ६ ऋषिपालक ऋषिवादीन्द्र हैं। ७ ईश्वर और ८ महेश्वर भूतवातीन्द्र हैं। ९ सुवत्स और १० विशाल क्रन्दितेन्द्र हैं। ११ हास्य और १२ हास्यरति महाक्रन्दितेन्द्र हैं। १३ श्वेत और १४ महाश्वेत कुभाडेन्द्र हैं। १५ पतय और १६ पतयपति पतयेन्द्र हैं।

ज्योतिष्क—१ चन्द्र और २ सूर्य ये दो ज्योतिष्केन्द्र हैं।

वैमानिक—सौधर्म देवलोक के इन्द्र—१ शक्र। ईशान देवलोक के—२ ईशानेन्द्र, सनत्कुमार देवलोक के—३ सनत्कुमार हैं, माहेन्द्र देवलोक के ४ महेन्द्र, ब्रह्मदेवलोक के—५ ब्रह्मलोकेन्द्र, लातक देवलोक के—६ लातकेन्द्र, महाशुक्र देवलोक के—७ महाशुक्रेन्द्र, सहस्रार देवलोक के—८ सहास्रारेन्द्र, आनत-प्राणत देवलोक के प्राणतेन्द्र और आरण-अच्युत देवलोक के अच्युतेन्द्र हैं।

—स्थानांग सूत्र ९४, ९८

करते गाँव-गाँव फिरते हुए, जिस ओर सुसुमारपुर नगर है, जिस ओर अशोक वन खड है, जिस ओर उत्तम अशोक के वृक्ष हैं, जिस ओर पृथ्वी शिला-पट्टक[2] है, उस ओर आया। उसके बाद अशोक के उत्तम वृक्ष के नीचे, पृथ्वी शिलापट्टक पर अट्ठम (तीन उपवास) तप प्रारम्भ किया। मैंने दोनो पैर मिला (साहट्टु) करके हाथो को नीचे की ओर लम्बे कर,[3] एक पुद्गल पर (निर्निमेष) दृष्टि स्थिर करके, शरीर के अगो को स्थिर करके शरीर के अगो को यथास्थित रख कर सभी इद्रियो से गुप्त, एक रात्रि की मोटी' प्रतिमा स्वीकार की।

"उस काल मे उस समय में चमरचचा राजधानी में इन्द्र नही था और पुरोहित नहीं था। उस समय पूरण नाम का बाल-तपस्वी १२ वर्ष पर्याय

१—यह सुसुमारगिरि प्रतीत होता है। भग्ग (भर्गो) देश की राजधानी थी। भग्ग देश वैशाली और सावत्थी के बीच मे ही था। इसका वर्तमान नाम चुनार है।

२—मृसण शिलायाम—आ० म० १ अ० (चिकनी चट्टान)

३—चत्तारि अगुलाइँ पुरओ ऊणाइ जत्थ पच्छिमओ।
पायाण उस्सग्गे एसा पुण होइ जिणमुद्दा॥

—प्रवचन सारोद्धार सटीक, १, ७५, पत्र १२–२

इस पर टीका करते हुए नेमिचन्द्र सूरि ने लिखा है—

एषा पुनर्भवति जिनमुद्रा यत्र पादयोरुत्सर्गेऽन्तरं भवति। चत्वार्यंगुलानि पुरत अग्रभागे न्यूनानि च तानि पश्चिम भागे इति॥

—वही, पत्र १५–२

जिनमुद्रा—जिसमें पैर के अग्रभाग में चार अंगुल और पीछे की ओर चार अगुल से कुछ कम अतर रख करके, दोनो पैरो को समान रखकर खड़े होकर, दोनो हाथों को नीचे लटका कर रखा जाता है।

—धर्मसग्रह (गुजराती भाषानुवाद) भाग १, पृष्ठ ३८६।

जिनमुद्रा का यही विवरण 'विधिमार्गप्रपा' (पृष्ठ ११६) आदि ग्रन्थो भी मिलता है।

पाल मासिक सलेखना से आत्मा का ध्यान करता साठ समय (तीस दिन) अनशन कर मृत्यु को प्राप्त करके चमरचचा राजधानी की उपपात सभा मे इन्द्र रूप मे उत्पन्न हुआ[४]। उस समय तुरन्त पैदा हुए असुरेन्द्र असुरराज ने पाँच प्रकार की पर्याप्तियो को प्राप्त करने के बाद, अवधि-ज्ञान से स्वाभाविक रीति से सौधर्मावतसक नाम के विमान मे शक्र नामक के सिंहासन पर बैठकर इन्द्र को दिव्य और भोग्य भोगो को भोगते हुए देखा। उसको इस प्रकार भोगो को भोगते देखकर चमरेन्द्र के मन मे विचार हुआ—"यह मृत्यु को

४—देवताओ के जन्म के सम्बन्ध में वृहत्सग्रहणी सूत्र (पृष्ठ ४१८) मे आता है।

अतमुहुत्तेए चिय पज्जत्तातरुणपुरिससकासा।
सव्वभूसएवरा अजरा निरुआ समा देवा ॥१९०॥

इस पर विशेपार्थ देते हुए गुजराती भाषानुवाद मे लिखा है—

"देव-देवी देवशैया मे उत्पन्न होते है। . उत्पन्न होने के स्थान पर देव-दूष्य (वस्त्र) से आच्छादित विवृत योनि एक देवशैय्या होती है।... देवगति मे उत्पन्न होनेवाला जीव एक क्षरण मे उपपात सभा में देवदूष्य वस्त्र के नीचे अगुल के असख्यातवें भाग मे उत्पन्न होते है। उत्पन्न होने के साथ ही आहारादिक पाँच पर्याप्तियाँ एक ही मुहुर्त मे प्राप्त करने के बाद वे पूर्ण पर्याप्तिवाले हो जाते हैं। . और, ३२ वर्ष का व्यक्ति जिस प्रकार भोगो को भोगने के योग्य होता है, वैसे ही तरुण अवस्थावाले होते हैं।

—वृहत्सग्रहणी सूत्र (गुजराती भाषानुवाद सहित) पृष्ठ ४२०

५—पर्याप्तियाँ ६ हैं। प्रवचन सारोद्धार (सटीक, उत्तर भाग, पत्र ३८६–२) में आता है·—

आहार १, सरीरिं २, दिय ३, पज्जति आणपाण ४, भास ५, मणे ६।
.. .. ॥१७॥

—आहार पर्याप्ति, २ शरीर पर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ प्राणापान पर्याप्ति, ५ भाषा पर्याप्ति, ६ मनःपर्याप्ति।

चाहनेवाला,' बुरे लक्षणोंवाला, लज्जा और शोभा रहित (अपूर्ण) चतुर्दशी को जन्म लेने वाला, यह हीनपुण्य कौन है? मेरे पास सब प्रकार की दिव्य देव-ऋद्धि प्राप्त होने पर भी, यह कौन है, जो मेरे ऊपर मेरे सामने दिव्य भोगों को भोगता हुआ विचर रहा है।" ऐसा विचार करके चमरेन्द्र ने सामानिक सभा में उत्पन्न देवों को बुलाकर कहा—'हे देवों के प्रिय, यह मृत्यु का इच्छुक कौन है, जो इस प्रकार भोगों को भोग रहा है।" असुरेन्द्र चमर के इस प्रश्न को सुनकर वे सामानिक सभा में उत्पन्न हुए देवों को अत्यन्त हर्ष और संतोष हुआ। वे दोनों हाथ जोड़ कर, दसों नख मिलाकर, चमरेन्द्र का जयजयकार करने लगे। फिर वे बोले—'हे देवताओं के प्रिय, यह देवराज शक्र भोगों को भोगता विचर रहा है।" उस सामानिक-सभा में उत्पन्न देवों के मुख से इस प्रकार सुनकर चमरेन्द्र बड़ा कुपित हुआ और उसने भयंकर आकृति बना ली क्रोध के वेग से कांपता हुआ वह चमरेन्द्र देवों से बोला—"हे देवो देवेन्द्र शक्र दूसरा और असुरेन्द्र असुरराज चमर दूसरा है? देवेन्द्र देवराज शक्र बड़ी ऋद्धिवाला है, तो हे देवानुप्रियो मैं देवराज देवेन्द्र शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करूँगा।"

१—भगवती-सूत्र मे यहाँ मूल शब्द है 'अपत्थियपत्थए,' इसका संस्कृत रूप है 'अप्रार्थितप्रार्थक।' 'अपत्थियपत्थए' शब्द का यही अर्थ आवश्यक की हरिभद्रीय टीका (पत्र १९२-१) मे भी दिया है। पर, इसका अच्छा स्पष्टीकरण जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका वक्षस्कार ३, सूत्र ४५, पत्र २०२-१) मे है। अप्रार्थित—केनाप्यमनोरथगोचरीकृत प्रस्तावात्-मरण तस्य प्रार्थको—अभिलाषी, अयमर्थ—यो मयासह युयुत्सु स मुमूर्षरेवेति, दुरन्तानि। मनुष्य के लिए अप्रार्थित और प्रार्थित क्या है इस पर दशवैकालिक मे प्रकाश डाला गया है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणवह घोर निग्गथा वज्जयति ण॥

दशवैकालिक सूत्र सटीक अध्याय ६, गाथा २१९, पत्र १००

"ऐसा कहकर चमर गरम हुआ। अब उस असुरेन्द्र चमरेन्द्र ने अवधिज्ञान का प्रयोग किया। और, उस अवधिज्ञान मे उसने मुझे (महावीर स्वामी को) देखा। इस प्रकार मुझको देखकर उसे सकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवत महावीर जम्बूद्वीप नामके द्वीप में, भारतवर्ष मे, सुंसुमारपुर नगर में, अशोकवनखड-नामक उद्यान मे, अशोकवृक्ष के नीचे, पृथ्वी-शिलापट्टक पर, अट्ठमतप करके, महाप्रतिमा स्वीकार करके विहार कर रहे हैं। मैं श्रवण भगवान् महावीर का आसरा लेकर देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से हीन करूंगा। वह (महावीर स्वामी) मेरे लिए कल्याण रूप होगें।

"ऐसा विचार करके चमरेन्द्र अपने शयन से उठकर देवदूष्य पहनकर उपपात सभा से पूर्व दिशा की ओर चला। फिर, जिस ओर सुधर्मा सभा है और जिस ओर चौपाल (चोप्पाल-चतुष्पाट) आयुधागार है, वहाँ गया और वहां से चमर ने फलिहयरण (परिघरत्न-लोहे की गदा) लिया। बिना किसी को साथ लिये, क्रोध मे चमरचचा राजधानी मे से निकला और तिगिच्छकूट नामक उत्पात-पर्वत पर आया। वहाँ आकर उसने वैक्रिय समुद्घात किया और उत्तर वैक्रिय रूप बनाकर उत्कृष्ट गति से, जहाँ पृथ्वी शिलापट्टक था, जहां मैं था, वहाँ आया और तीन बार मेरी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करके इस प्रकार बोला—"हे भगवन्, आपकी शरण लेकर मैं स्वय ही देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।"

"ऐसा करके वह चमरेन्द्र उत्तर-पूर्व के दिक्-भाग की ओर चला। वहाँ उसने वैक्रिय समुद्घात किया। वैसा करके उस चमर ने एक बडा घोर भयकर एक लाख योजन ऊँचा काला शरीर बनाया। ऐसा रूप धारण करके चमर हाथ पटकता, कूदता, मेघ की तरह गरजता, सिह की तरह दहाडता, उछलता, पिछडता। ऐसा करते, वह चमर परिघ को लेकर ऊँचे आकाश मे उडा। वह चमरेन्द्र कही बिजली की तरह चमकता, और कही बरसात की तरह बरसता। ऊपर जाते हुए उसने वाणव्यतर देवो मे त्रास मचाया, ज्योतिष्कदेवो के दो भाग कर डाले और आत्मरक्षक देवो को

भगा दिया। परिघरत्न को आकाश मे घुमाते हुए, असख्य द्वीपो और समुद्रो मे होकर, जहाँ सौधर्मावतक नामक विमान है, जहाँ सुधर्मा सभा है, वहाँ आकर उसने एक पैर पद्मवर-वेदिका पर रखा और दूसरा पाँव सुधर्मा-सभा मे रखा और परिघरत्न से बडे-बडे हुकारपूर्वक उसने इन्द्रकील को तीन बार ठोका। उसके बाद वह चमर इस प्रकार बोला—"देवेन्द्र देवराज शक्र कहाँ है ? वे चौरासी हजार सामानिकदेव कहाँ हैं ? वे करोडो अप्सराएँ कहाँ है ? उन सब को आज नष्ट करता हूँ। तुम सब मेरे आधीन हो जाओ।" इसी प्रकार के कितने ही अशुभ वचन चमरेन्द्र ने कहे। चमरेन्द्र की बात सुनकर देवेन्द्र देवराज को क्रोध हुआ। क्रोध से देवराज के माथे मे तीन रेखायें पड गयी और उन्होंने चमरेन्द्र से इस प्रकार कहा—अरे चौदस के दिन जन्मा हीनपुण्य असुरेन्द्र असुरराज चमर तू आज ही मर जायेगा।' ऐसा कह कर वहीं उत्तम सिंहासन पर बैठे-बैठे उसने वज्र ग्रहण किया और उसे चमरेन्द्र पर छोडा। हजारो उल्काओ को छोडता हुआ, अग्नि से भी तेजस्वी, वह वज्र चमरेन्द्र की ओर बढा। उसे देख कर असुरराज चमरेन्द्र ने सोचा कि, कहीं ऐसा ही अस्त्र मेरे पास भी होता तो कितना अच्छा होता। पर, वज्र तो आ ही रहा था। अत वह पग को ऊँचा करके शिर को नीचा करके उत्कृष्ट गति से असख्य द्वीपों और समुद्रो के बीच मे होता हुआ, जिस ओर जम्बूद्वीप था, जिस ओर अशोक का वृक्ष था, जिस ओर मैं (महावीर स्वामी) था, वहाँ आया और रुँधे गले से बोला—"आप ही मेरे शरण हो।" ऐसा कहता हुआ वह दोनो पावो के बीच मे गिर गया।

उस समय देवराज शक्रेंद्र को यह विचार हुआ कि, असुरेन्द्र केवल अपने बल से सौधर्मकल्प तक नहीं आ सकता। ऐसा विचार करके शक्र ने अवधि-ज्ञान से देखा और मुझे (महावीर स्वामी) देख लिया। मुझे देख कर वह अरे-अरे करता हुआ दिव्यगति देवगति से वज्र पकडने के लिए दौडा। असख्य द्वीपो और समुद्रों को पार करता, शक्र उस स्थल पर आया, जहाँ मैं था और मेरे से चार अगुल की दूरी पर स्थित वज्र को पकड लिया। शक्र ने वज्र को पकड कर मेरी तीन बार परिक्रमा की। और पूरी कथा कह कर

क्षमा माँगी।[1]

यहाँ से भगवान् भोगपुर[2] और नदग्राम होते हुए मेढियग्राम पधारे। यहाँ एक गोपालक ने भगवान् को कष्ट देने की चेष्टा की।

मेढिय से आप कौशाम्वी गये और पौष वदि एकम के दिन भगवान् महावीर ने भिक्षा-सम्बन्धी यह घोर अभिग्रह[3] किया—"सिर से मुडित, पैरो मे वेडी, तीन दिन की उपवासी, पके हुए उडद के वाकुल, सूप के कोने मे लेकर भिक्षा का समय व्यतीत होने के वाद, द्वारके वीच मे खडी हुई, दासीपने को प्राप्त हुई और रोती हुई किसी राजकुमारी से भिक्षा मिले तो लेना अन्यथा नही।"

इस प्रकार की भीपरण प्रतिज्ञा करके भगवान् महावीर प्रतिदिन कौशावी[4] नगरी में भिक्षा के लिए निकलते थे, लेकिन भगवान् का अभिग्रह पूर्ण नही होता था और वे लौट जाते थे। ऐसे घूमते हुए चार महीने व्यतीत हो गये, लेकिन भगवान् का अभिग्रह पूरा नही हुआ। सारे नगर मे चर्चा

१—भगवती सूत्र, शतक ३, उद्देसा २

२—वौद्धग्रथो में इसे भोगनगर लिखा है। वैशाली से कुशीनारा वाले पडाव पर यह पाँचवाँ पडाव था।

३—"सामी·य इम एतारूव अभिग्गह अभिगेण्हति, चउव्विहदव्वतो ४, दव्वतो कुमासे सुप्पकोरोण, खित्तओ एलुग विक्खभइत्ता कालओ नियत्तेसु भिक्खायरेसु, भावतो जदि रायधूया दासत्तरण पत्ता रिणयलवद्धा मुडियसिरा रोयमाणी अब्भत्तट्ठिया, एव कप्पति, सेस रण कप्पति, कालो य पोसवहुलपाडिवओ। एव अभिग्गह घेत्तूरण कोसवीए अच्छति।"

—आवश्यकचूरिण, भाग १, पत्र ३१६–३१७।

४—वत्स अथवा वश की राजधानी थी। आजकल कोसम नाम से यह प्रसिद्ध है, जो इलाहावाद से ३० या ३१ मील की दूरी पर यमुना के किनारे है। विशेष जानकारी के लिए देखिए 'ज्ञानोदय' वर्प १ अंक ६-७ मे प्रकाशित मेरा लेख कोशावी)

फैल गयी कि भगवान् भिक्षा के लिए निकलते तो हैं, लेकिन बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

एक दिन आप कौशाम्बी के अमात्य सुगुत[1] के घर पधारे। अमात्य की पत्नी नन्दा श्राविका भक्तिपूर्वक भिक्षा देने आयी। लेकिन, भगवान् महावीर बिना कुछ लिए ही चले गये। नन्दा को बड़ा पश्चाताप हुआ। तब दासियों ने कहा—"ये देवार्य तो प्रतिदिन यहाँ आते हैं और बिना कुछ लिये ही चले जाते हैं।" तब नदा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई कठिन अभिग्रह ले रखा है और इसी कारण से वे आहार-ग्रहण नहीं करते। नन्दा इससे बड़ी चिंतित हुई।

जब सुगुप्त घर पर आया और उसने नन्दा को उदास देखा तो उसने नन्दा से उदासी का कारण पूछा। नन्दा ने उत्तर दिया—"क्या आपको मालूम है कि भगवान् महावीर आज चार-चार महीनो से भिक्षा के लिए निकलते हैं और बिना कुछ लिये ही लौट जाते हैं? आपका यह प्रधानपद किस काम का कि चार महीने बीत जाने पर भी उनको भिक्षा न मिले और आपकी यह बुद्धिमत्ता किस काम की, अगर आप उनके अभिग्रह का पता न लगा सकें?" सुगुप्त ने अपनी पत्नी को आश्वासन दिया कि मैं ऐसा उपाय करूँगा कि वे भिक्षा ग्रहण कर लें।

जिस समय भगवान् के अभिग्रह की बात चल रही थी, उस समय विजया नाम की प्रतिहारी वहीं खड़ी थी। उसने यह बात सुनकर महल में जाकर महारानी मृगावती से कही। रानी भी बड़ी दुःखित हुई और राजा से बोली—"भगवान् महावीर बिना भिक्षा के लिये, नगर से चार महीने से लौट जाते हैं। आपका राजत्व किस काम का कि आप उनके अभिग्रह का पता न लगा सकें।

राजा शतानीक ने रानी को शीघ्रातिशीघ्र व्यवस्था करने का आश्वासन दिया। राजा ने तथ्यवादी नामक उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात

१—आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३१६।

पूछी। पर, तथ्यवादी ने बताने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

फिर, राजा ने सुगुप्त नामक मन्त्री से पूछा। सुगुप्त ने कहा—"महाराज अभिग्रह के अनेक प्रकार होते हैं, लेकिन किसके मन का क्या अभिप्राय है, यह बताना कठिन है।" उन्होने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक अभिग्रह तथा सात पिंडैषणा पानैषणाओ का निरूपण करके साधुओ के आहार-पानी लेने-देने की रीतियो का वर्णन किया।

राजा शतानीक ने प्रजा को आहार-पानी देने की विधियो से अवगत करा दिया कि भगवान् महावीर के आने पर इस तरह आहार-पानी दिया जाये। प्रजा ने भी उसका पालन करके भगवान् को भिक्षा देने का प्रयास किया पर भगवान् ने भिक्षा नही ली और कोई भी भगवान् के आग्रह को भाँप न सका।

भगवान् के अभिगृह को छ महीने पूरे होने मे केवल पाँच दिन ही शेष थे। भगवान् अपने नियम के अनुसार कौशाम्वी मे भिक्षा के लिए घूमते हुए धनावह नामक श्रेष्ठि के घर पर गये। यहाँ आपके अभिगृह पूर्ण होने मे कुछ न्यूनता रही। अत, भगवान् वापस लौट रहे थे कि चन्दना की आँखो में मे अश्रु वह उठे। भगवान् ने अपना अभिग्रह सम्पूर्ण हुआ जान कर, राजकुमारी चन्दना के हाथसे भिक्षा ग्रहण की।

उस चन्दना की कथा इस प्रकार है—'चम्पा-नगरी मे दधिवाहन-नामक राजा राज्य कर रहा था। उसको धारिणी-नामकी रानी और वसुमती-नामकी पुत्री थी। किसी कारण से कौशाम्वी के राजा शतानिक ने एक ही रात[१] मे नाव द्वारा सेना ले जाकर चम्पा को घेर लिया। चम्पा का राजा

१—"इओ य सयाणिओ चपं पधाविओ दहिवाहणं गेण्हामित्ति, णावा कडएण गतो एगाए रत्ती ए, अचिंतिया चेव णगरी वेढिया, तत्थ दधिवाहणो पलात्तो।" आवश्यक चूर्णि भाग-१ पृष्ठ ३१८

कौटिल्य-अर्थशास्त्र की टीका मे 'रात्रि' से दिन-रात लेने को लिखा है। (देखिए-कौटिल्य अर्थशास्त्र का अग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ६७ की पाद-टिप्पणि २) 'रात्रि' का अर्थ दिन-रात भी होता है, यह आप्टे की सस्कृत-इगलिश-डिक्शनरी, भाग ३, पृष्ठ १३३७ पर दिया गया है। उसमे महाभारत आदि के प्रमाण भी दिये है।

दधिवाहन भयभीत होकर भाग गया। शतानीक के सैनिको ने अपनी इच्छानुसार चम्पा नगरी लूटी। एक ऊँट-सवार धारिणी और वसुमती को लेकर भागा।

शतानीक विजयी होकर कौशाम्वी लौट कर आया। धारिणी के रूप पर, मोहित होकर सुभट ने उससे विवाह करने की वात की। शील की रक्षा के लिए धारिणी अपनी जिह्वा कुचल कर मर गयी। तव ऊँट-सवार ने वसुमति को कौशाम्वी लाकर धनावह सेठ के यहाँ वेंच दिया। सेठ पुत्रीवत् वसुमती का पालन-पोषण करने लगा। उत्तम गुणो से युक्त और चन्दन-समान शीतल व्यवहार वाली होने से वह 'चन्दना' नाम से पुकारी जाने लगी।

कालान्तर मे चदना युवती हुई। उसकी रूप-राशि दिन-पर-दिन निखरने लगी। धनावह श्रेष्ठि की स्त्री मूला को उसे देख कर ईर्ष्या होने लगी। उसके मन मे प्राय यह विचार उठता—"यदि श्रेष्ठि इससे विवाह कर लेंगे तो मेरा क्या होगा ?"

एक दिन दोपहर को श्रेष्ठि घर आया। कोई नौकर उपस्थित नही था। चन्दना ने ही श्रेष्ठि का पैर धुलवाया।

उस समय उसका सुन्दर केशपाश जमीन पर लटकने लगा। उसका केशपाश कीचड मे पड कर खराव न हो, इस विचार से श्रेष्ठि ने उले उठा कर वाँध दिया। श्रेष्ठि की पत्नी मूला यह सब झरोखे से देख रही थी। अब उसे अपनी आशका सत्य होती नजर आयी।

अत जव श्रेष्ठि वाहर चला गया तो उसने नाई वुला कर उसके वाल मुँडवा दिये। पाँव में वेडी डाल कर उसे एक कोठरी मे वद कर दिया और नौकरो को डाँट दिया कि कोई श्रेष्ठि से उसके सवध मे कुछ न वताये।

सायकाल को जव श्रेष्ठि घर आया और चन्दना नही दिखलायी पडी तो उसने नौकरो से चन्दना के वारे मे पूछ-ताछ की। नौकरो ने उसे कुछ नही वताया। यह सोच कर कि चन्दना सो गयी होगी, श्रेष्ठि शात रह गया।

दूसरे दिन भी श्रेष्ठि ने चन्दना को न देखा और न उसके सबध मे कुछ जानकारी ही प्राप्त कर सका। ऐसा ही तीसरे दिन भी हुआ। श्रेष्ठि का धैर्य टूट गया। उसने उस दिन जो नौकरो को फटकार बतायी, तो हिम्मत करके एक वृद्धा ने सारी बात सच-सच कह दी।

श्रेष्ठि ने कमरे का द्वार खोला। चदना की दारुण दशा देख कर उसकी आँखो मे आँसू आ गये। चदना को भोजन देने के लिए, श्रेष्ठि स्वय रसोई-घर मे गया, लेकिन उस समय एक सूप मे उबाला कुल्माष पडा था। उसे चदना को देकर, वह बेडी काटने के लिए लुहार बुलाने चला गया।

चदना उस उडद के बाकुल को लेकर खडी-खडी विचारो मे लीन थी। और, अपने अतीत के बारे मे विचार कर रही थी। इसी समय उसके मन में विचार उठा कि मुझे तीन दिन का उपवास हो चुका है, यदि कोई अतिथि दिखलायी पडे, तो उसे दान देकर पारणा करूँ। इस विचार से उसने द्वार की ओर जो दृष्टि डाली, तो भगवान् महावीर को आते देखा। हर्षातिरेक से उसने भगवान् से प्रार्थना की—"इस प्रासुक अन्न को ग्रहण करके मेरी भावना पूर्ण करे।" लेकिन, अभी भा अपने अभिग्रह मे कमी देख कर भगवान् लौट रहे थे कि, निराशा से चदना की आँखो में आँसू आ गये। अब भगवान् का अभिगृह पूरा हो गया और चदना के हाथो से भगवान् ने छ महीने मे पाँच दिन शेष रहने पर पारणा किया। उस समय आकाश मे देवदुदुभी बज उठी। पंचदिव्य प्रगट हुए और चदना का रूप पहले से भी अधिक चमक उठा। और, सर्वत्र उसके शील की ख्याति फैल गयी।

उस समय राजा शतानीक भी वहाँ आये और पूछा कि यह सब किसके पुण्य से हो रहा है। इस पर उसकी पत्नी मृगावती चदना को लक्ष्य करके बोली—"यह मेरी बहन[१] की लडकी है।' (आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पत्र २२५-१)

---

[१] आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्र १६४ मे आता है—"वेसालिए नगरीए चेडओ राया हेहयकुल सभूतो, तस्स देवीरा अण्णमण्णाए सत्त

कालान्तर मे यह चन्दना भगवान् की प्रथम साध्वी हुई और निरतिचार-चारित्रधर्म का पालन करके मोक्ष को गयी।

कौशम्बी से सुमगल, सुच्छेता, पालक आदि गामो मे होते हुए, भगवान् चम्पा नगरी मे पहुँचे और चातुर्मासिक तप करके वहीं स्वातिदत्त नामक ब्राह्मण की यज्ञशाला मे बारहवाँ चौमासा किया।

पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के दो यक्ष भगवान् की तपश्चर्या से आकृष्ट होकर रात को आकर आपकी सेवा करते रहे। यह देखकर स्वातिदत्त को विचार[1] हुआ कि क्या यह देवार्य इस बात को जानते हैं कि प्रत्येक रात को देव उनकी पूजा करते हैं। ऐसा विचार कर जिज्ञासु स्वातिदत्त, ब्राह्मण ने भगवान् के निकट जाकर उनसे पूछा—"शिर आदि सभी अगो से युक्त इस

१—त्रिषष्टिशालाका पुरुप चरित्र पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१० पत्र६२-२

(पृष्ठ २४१ की पादटिप्पणि का शेषांश)

धूताओ–१ पभावती, २ पउमावती, ३ मिगावती, ४ सिवा, ५, जेट्ठा, ६ सुजेट्ठा, ७ चेल्लण्णात्ति ..१ प्रभावती वीतिभए उदायणस्स दिण्णा २ पउमावती चपाए दहिवाहणस्स ३ मिगावती कोसबीए सताणियस्स, ४ सिवा उज्जेणीए पज्जोतस्स ५ जेट्ठाकुडग्गामे वद्धमाण सामिणो जेठुस्स नदिवद्धणस्स, ६ सुजेट्ठा चेल्लणा य दो कण्णगाओ अच्छति ...

इससे स्पष्ट है कि पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन को व्याही थी। दधिवाहन ने किन्हीं कारणों से बाद मे धारिणी से विवाह किया। इस धारिणी की ही पुत्री चदना थी। उसका नाम पहले वसुमति था 'बहन की लड़की' है का स्पष्टीकरण करते हुए हारिभद्रीय टीका की टिप्पणि (पत्र २३-१) मे कहा है—"किल मृगापत्या भगिनी पद्मावती दहिवाहनेन परिणीता तस्मिन्नीन पद्मावत्या, सपत्नीति कृत्वा धारिण्यपि मृगापत्या भगिन्येवेति 'भाव', अर्थात् बहन की सौत होने से धारिणी भी बहन हुई।

देह मे आत्मा कौन है ?"

भगवान्—"जो 'मैं' शब्द का वाच्यार्थ है, वही आत्मा है।"

स्वातिदत्त—'मैं' शब्द का वाचार्थ जिसे आप कहते है, वह क्या है ? मेरे सशय को दूर करें।"

महावीर—"शिर आदि सब से पूर्णत भिन्न आत्मा सूक्ष्म है।"

स्वातिदत्त—"सूक्ष्म क्या है ?"

महावीर—"जिसे इद्रियाँ ग्रहण नही कर सकती हैं, उसे सूक्ष्म कहते हैं ?"

स्वातिदत्त—"शब्द, गन्ध, अनिल वायु क्या है ?

महावीर—"ये नेत्र से देखे नही जाते हैं, लेकिन अन्य इन्द्रियो से इनकी उपलब्धि होती है। 'ग्रहण' शब्द 'इन्द्रिय' शब्द का दूसरा पर्याय है। इन्द्रिय को भी आत्मा नही कह सकते; क्योकि वे ग्रहण करानेवाली हैं और आत्मा ग्रहण करने वाला होता है। इसलिए इन्द्रिय आत्मा नही है।"

स्वातिदत्त—"महाराज ! 'प्रदेशन' क्या है ?"

महावीव—'प्रदेशन' का अर्थ उपदेश होता है और वह दो प्रकार का है। धार्मिक प्रदेशन और अधार्मिक प्रदेशन।"

स्वातिदत्त—"महाराज ! 'प्रत्याख्यान' किसे कहते है ?"

महावीर—"प्रत्याख्यान का अर्थ है 'निषेध'। प्रत्याख्यान भी दो प्रकार का होता है। मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। आत्मा के दया, सत्यवादिता आदि मूल स्वाभाविक गुणो की रक्षा तथा हिंसा, असत्य-भाषण आदि वैभाविक प्रवृत्तियो के त्याग को मूलगुण प्रत्याख्यान कहते हैं। और, मूलगुणो के सहायक सदाचार के विरुद्ध आचरणों के त्याग का नाम है—उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

इस वार्तालाप से स्वातिदत्त को विश्वास हो गया कि भगवान् महावीर केवल तपस्वी ही नही बल्कि महाज्ञानी भी है।

चातुर्मास के बाद विहार करके भगवान् जंभिय[1] ग्राम पधारे।

१—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र ३२१

तेरहवाँ चातुर्मास

जंभीय-गाम में कुछ समय रहने के बाद, भगवान् वहाँ से मेंढिय होते हुए छम्माणि[1] गये और गाँव के बाहर ध्यान मे स्थिर हो गये। रात के समय कोई गोपाल भगवान् के पास बैल रखकर गाँव मे चला गया और जब वापस आया तो उसको वहाँ बैल नही मिले। उसने भगवान् से पूछा—'देवार्य! मेरे बैल कहाँ गये?' भगवान् मौन रहे। तब उस ग्वाले ने क्रुद्ध होकर काँस-नामकी घास की शलाकाएँ भगवान् के दोनो कानो में घुसेड़ दीं। उन शलाकाओ को पत्थर से ऐसा ठोका कि अंदर दोनो शलाकाएँ मिल गयीं। दोनो शलाकाओ के मिलने के बाद उसने बाहर की शलाकाएँ तोड़ दीं, ताकि कोई उनको देख न सके।

छम्माणि से भगवान् मध्यमा पावा[2] पधारे और भिक्षा के लिए घूमते हुए सिद्धार्थ नामक वणिक् के घर गये, सिद्धार्थ अपने मित्र खरक वैद्य से बातें कर रहा था। भगवान् को देखकर वह उठा और उसने सादर वंदना की।

१—मगध देश मे था। बौद्ध-ग्रन्थो मे इसका उल्लेख खानुमत नामसे हुआ है। (वीर-विहार-मीमांसा, हिन्दी, पृष्ठ २८)

२—इस पावा के सम्बंध में मैंने अपनी पुस्तक 'वैशाली' (हिन्दी, द्वितीय आवृत्ति) के पृष्ठ ८५-८७ पर विस्तार के साथ विचार किया है। इसका आधुनिक नाम मठियाँवडीह है।

खरक वैद्य धन्वन्तरि-वैद्य था। भगवान् की मुखाकृति देखते ही उसे पता चल गया कि भगवान् का शरीर सर्वलक्षणो से युक्त होने पर भी शल्ययुक्त है। सिद्धार्थ ने खरक से भगवान् के शरीर का शल्य देखने को कहा। खरक ने भगवान् के शरीर की परीक्षा की और कानो में कास की शलाकाएँ होने की बात कही। घोर तपस्वी भगवान् महावीर के शरीर की वेदना दूर होने से असीम पुण्य की प्राप्ति होगी, इस विचार से वैद्य और वणिक दोनो ही शलकाएँ निकालने को तैयार हुए, लेकिन भगवान् महावीर ने उनको मना किया। वे वहाँ से चले गये। और, गाँव के बाहर उद्यान मे जाकर ध्यानारूढ हो गये। सिद्धार्थ और खरक वैद्य औपधि आदि के साथ भगवान् को ढूँढते-ढूँढते उद्यान मे आये। उन्होने भगवान् को तेल की द्रोणी मे विठाकर तेल की खूब मालिश की। और, सडसी (सडासएण) से पकड कर काँस की शलाकाए कानो में से खीच कर निकाल दी। रुधिर युक्त शलाकाएँ निकालते समय भगवान् के मुख से एक चीख निकल पडी। उससे सारा उद्यान और देवकुल भयकर लगने लगा। शलाका निकालने के वाद सरोहण औषधि से उस घाव को भरकर वे भगवान् का वदन करके चले गए।

भगवान् के कान में शलाका डालने वाला वह ग्वाला मर कर सातवे नर्क मे गया और खरक तथा सिद्धार्थ देवलोक मे गये। इस प्रकार भगवान् महावीर के तपस्या-काल मे ग्वाले से ही उपसर्ग का प्रारम्भ हुआ था और ग्वाले से ही उपसर्गों का अन्त हुआ।

जघन्य उपसर्गों में सव से अधिक कठिन कठपूतना राक्षसी का शीत उपसर्ग था। मध्यम उपसर्गों मे सब से ज्यादा कठिन सगमक का कालचक्र उपसर्ग था और उत्कृष्ट उपसर्गों मे सब से ज्यादा कठिन कानो मे से कीलो का निकालना था।[1]

१—सव्वेसु किर उवसग्गेसु दुव्विसहा कतरे ?
कडपूयणासीयं कालचक्कं एतं चेव सल्लं कड्ढिज्जंतं,
अहवा जहन्नगाण उवरि कडपूयणासीतं,
मज्झिमाण काल चक्कं, उक्कोसगाण उवरिं सल्लुद्धरणं।
आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३२२

इस प्रकार भीषण उपसर्ग और घोर परिषद-सहन करते हुए नाना प्रकार के विविध तप और विविध आसनो द्वारा ध्यान करते हुए भगवान् को साढे बारह वर्ष से भी कुछ अधिक समय हो गया था ।

इस साढे बारह वर्ष मे भगवान् ने जो घोर तपश्चर्या की उसका विवरण इस प्रकार है ।

तपस्या

ओमोयरियं[1] चाएइ अपुट्ठेऽवि भगवं रोगेहिं ।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं ॥ १ ॥

संसोहणं च वमणं च गायब्भगणं च सिणाण च ।
संबाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाय ॥ २ ॥

विरए गायधम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई ।
सिसिरम्मि एगया भगवं छायाए झाइ आसी य ॥ ३ ॥

आयावइ य गिम्हाण अच्छइ उक्कुडए अभितावे ।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणामथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥

१—डाक्टर याकोबी ने इस सूत्र का अनुवाद करते हुए सेक्रेड बुक आव द ईस्ट (वाल्यूम २२, पृष्ठ ८५) में लिखा है 'द' वेनेरेबुल वन वाजे एबुल टु ऐब्सटेन फ्राम इडलजेंस आव द फ्लेश .." और 'फ्लेश' पर पादटिप्पणि लगा कर 'ओमोदरिय' लिखा है। ओमोदरिय का अर्थ टीका, चूर्णि और कोष मे जिस रूप मे मिलता है, उन सब में से किसी से भी 'फ्लेश' शब्द का प्रयोग सिद्ध नही होता ।

एयाणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठ मासे अजावयं भगवं।
अपिइत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासपि ॥ ५ ॥
अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा विहरित्था।
राओवरायं अपडिन्ने अन्नगिलायमेगया भुञ्जे ॥ ६ ॥
छट्ठेण एगया भुञ्जे अदुवा अट्ठमेण दसमेणं
दुवालसमेण एगया भुञ्जे पेहमाणे समाहिंअपडिन्ने ॥ ७ ॥
णच्चा णं से महावीरे नोऽवि य पावग सयमकासी।
अन्नेहि वा ण कारित्था कीरतंपि नाणुजाणित्था ॥ ८ ॥
गामं पविसे नगर वा घासमेसे कडं परट्ठाए।
सुविसुद्धमेसिया भगवं आयतजोगयाए सेवित्था ॥ ९ ॥
अदु वायसा दिगिछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठन्ति सययं निवइए य पेहाए ॥१०॥
अदुवा माहणं च समणं वा गामपिण्डोलगं च अतिहिं वा।
सोवाग मूसियारिं वा कुकुरं वावि विट्ठियं पुरओ ॥ ११ ॥
वित्तिच्छेय वज्जन्तो तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।
मन्दं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥ १२ ॥
अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिण्डं पुराण कुम्मासं।
अदु बुक्कसं पुलाग वा लद्धे पिण्डे अलद्धे दविए ॥ १३ ॥
अवि झाइ से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढ अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने ॥ १४ ॥
अकसाई विगतगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाइ।
छउमत्थो कि परक्कमाणे न पमाय[१] सइंपि कुव्वित्था ॥ १५ ॥

१—'पमाय' शब्द पर 'आचाराङ्ग सूत्र चूर्णि' मे आता है—'छउमत्योवि परक्कममाणो' छउमत्यकाले विहरतेण भगवता जयतेण धुवतेणं परक्कम तेण ण कयाइ पमाओ कयतो, अविसद्दा णवरं एक्कसिं एक्को अतोमुहुत्त अट्ठियगामे सयमेव अभिसमागम्म।

सयमेव अभिसमागम्म आयत जो गमाय सोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगव समियासी ॥ १६ ॥

एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रीयन्ति ॥ १७ ॥

—भगवान् निरोग होने पर भी अल्प भोजन करते थे। रोग न होने पर या होने पर वे भगवान् चिकित्सा की अभिलाषा नही करते थे ॥ १ ॥

विरेचन, वमन, शरीर पर तेल मर्दन करना, स्नान करना, हाथ-पैर आदि दबवाना, और दांत साफ करना आदि-पूर्ण शरीर को ही अशुचिमय जानकर —उन्हें नही कल्पता था ॥ २ ॥

वे महान् ! इन्द्रियो के घर्मो से—विषयो से—पराङ्मुख थे, अल्पभाषी होकर विचरते थे। कभी भगवान् शिशिर ऋतु मे छाया में ध्यान करते थे ॥ ३ ॥

ग्रीष्म ऋतु मे ताप के सामने उत्कट आदि आसन से बैठते, आतापना लेते, और रुक्ष (स्नेहरहित) चावल, बेर का चूर्ण और कुल्माष (नीरस) आहार से निर्वाह करते। चावल, बेर-चूर्ण और कुल्माष इन तीनो का ही सेवन करके, भगवान् ने आठ मास व्यतीत किये। कभी भगवान् पद्रह-पद्रह दिन और महीने-महीने तक जल भी नही पीते थे।

कभी दो-दो महीने से अधिक छ-छ. महीने तक पानी नही पीते हुए रात-दिन निरीह होकर विचरते थे। और, कभी-कभी पारणे के दिन नीरस आहार काम मे लाते थे ॥ ६ ॥

वे कभी दो दिन के बाद खाते अथवा तीन-तीन दिन बाद, चार-चार

(पृष्ठ २४७ की पादटिप्पणि का शेषांश)

—आचारांगचूर्णि जिनदासगणिवर्य विहिता, (रतलाम) पत्र ३२४।

इनसे स्पष्ट है कि, पूरे छद्मस्थ काल मे भगवान् महावीर को हस्तिग्राम में एक मुहूर्त रात्रि शेष रहने पर निद्रा आ गयी थी (देखिये पृष्ठ १७१)

दिन वाद, कभी पांच-पांच दिन वाद निरासक्त होकर शरीर-समाधि का विचार कर आहार करते थे ॥ ७ ॥

हेय-उपादेय को जानकर उन महावीर ने स्वय पापकर्म नही किया। अन्य से नही कराया और करते हुए का अनुमोदन नही किया ॥ ८ ॥

ग्राम अथवा नगर मे प्रवेश करके, दूसरो के लिए वनाये हुए आहार की गवेपणा करते। निर्दोष आहार प्राप्त कर भगवान् मन-वचन-काया को सयत करके सेवन करते थे ॥ ९ ॥

अगर भूख से व्याकुल कौए, अन्य पानाभिलाषी प्राणी जो आहार की अभिलापा में वैठे हैं और सतत भूमि पर पडे हुए देख कर अथवा ब्राह्मण को, श्रमण को,[1] भिखारी को, अतिथि को, चाण्डाल को, विल्ली को, और कुत्ते को सामने स्थित देख कर, उनकी वृत्ति मे अतराय न डालते हुए उनकी अप्रीति के कारण को छोडते हुए उनको थोडा भी त्रास न देते हुए भगवान् मद-मद चलते और आहार की गवेपणा करते। १०-११-१६ ॥

मिला हुआ आहार चाहे आर्द्र हो अथवा सूखा हो, चाहे ठडा हो, चाहे पुराने कुम्मास (राजमाष) हो, अथवा मूंग इत्यादि का छिलका हो, चना वोल आदि का असार भाग हो, आहार के मिलने पर और न मिलने पर भगवान् समभाव रखते थे ॥ १३ ॥

वह महावीर भगवान् उत्कट् गोदोहिकादि आसन से स्थित होकर स्थिर या निर्विकार होकर अतःकरण की शुद्धता का विचार कर, कामनारहित होकर ध्यान ध्याते थे, ध्यान मे उर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक-लोक के स्वरूप का विचार करते थे ॥ १४ ॥

कषायरहित, आसक्ति-रहित शव्द और रूप मे आसक्त न होकर, ध्यान करते थे। छद्मस्थ होते हुए भी, उन्होने सयम मे पराक्रम करते हुए एक वार भी प्रमाद नही किया ॥ १५ ॥

१—श्रमण पाँच के नाम बताये गये है —

निग्गथ १ सक्क २ तापस ३ गेरुय ४ आजीव ५ पचहा समणा।

—प्रवचन सारोद्धार सटीक, पूर्वार्द्ध पत्र २१२-२

स्वय ही तत्व को जानकर आत्मशुद्धि के द्वारा योगो को सयत करके कषायो से अतीत हुए, मायारहित हुए, भगवान् यावज्जीवन समितियो से समित थे ॥ १६ ॥

महान् मतिमान भगवान् महावीर ने (अप्रतिज्ञ) कामनारहित इस प्रकार आचरण का पालन अनेक प्रकार से किया। (मुमुक्षु साधु भी) इसी नियम का पालन करें॥ १७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

आवश्यक-निर्युक्ति मे भगवान् की तपश्चर्या का वर्णन इस रूप मे है :—

जो अ तवो अणुचिन्नो वीरवरेण महाणुभावेणं।
छउमत्थकालियाए अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

नव किर चउम्मासे छ क्किर दो मासिए ओवासीअ।
बारस य मासियाइं बावत्तरि अद्धमासाइं ॥ २ ॥

इक्कं किर छम्मासं दो किर तेमासिए उवासीअ।
अड्ढाइज्जाइं दुवे दो चेवर दिवड्ढमासाइं ॥ ३ ॥

भद्दं च महाभद्दं पडिमं तत्तो अ सव्वओ भद्दं।
दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासी यमणुवद्धं ॥ ४ ॥

गोअरमभिग्गहजुअ खमणं छम्मासिअं च कासी अ।
पंच दिवसे हिं ऊणं अव्वहिओ वच्छनयरीए ॥ ५ ॥

दस दो किर मइप्पा ठाइ, मुणी एगराइयं पडिमं।
अट्ठमभत्तेण जई इक्किक्कं चरमराई अ ॥ ६ ॥

दो चेव य छट्ठसए अउणातीसे उवासिओ भयवं।
न कयाइ निच्चभत्त चउत्थभत्तं च से आसि ॥ ७ ॥

बारस वासे अहिए छठ भत्तं जहन्नयं आसि।
सव्व च तवो कम्म अपाणयं आसि वीरस्स ॥ ८ ॥

तिन्नि सए दिवसाणं अउणापन्ने य पारणाकालो।
उक्कुडु अनिसिज्जाए ठिय पडिमाण सए बहुए ॥ ९ ॥

पव्वज्जाए दिवसं पढमं इत्थं तु पक्खिवित्ता णं।
संकलियम्मि उ संते ज लद्धं त निसामेह ॥ १० ॥

बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो अ।
वीरवरस्स भगवओ एसो छउमत्थ परियाओ ॥ ११ ॥'

आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ १००, १०१.

छ मासी-तप	१
५ दिन कम छः मासी	१
चउमासी	९
त्रिमासी	२
ढाईमासी	२
दो मासी	६
डेढ मासी	२
मास खमण	१२
पक्ष खमण	७२
भद्र प्रतिमा २ दिन	१
महाभद्र प्रतिमा ४ दिन	१
सर्वतोभद्र प्रतिमा १० दिन	१

भगवान् की तपस्या का विवरण नेमिचंद्र सूरि-रचित 'महावीर-चरियं' गाथा १३५८-१३६५ पत्र ५८-१, हेमचन्द्राचार्य-रचित 'त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र', पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६५२-६५७ पत्र ६४-२, गुणचन्द्र गणि विरचित 'महावीर-चरिय' पत्र २५-२ मे भी मिलला है।

आवश्यक की हारिभद्रीय टीका २२७-२ से २२९-१ और मलयगिरि की टीका पत्र २९८-२ से ३००-२ तक आवश्यक-निर्युक्ति-दीपिका प्रथम भाग पत्र १०७-१ से १०८ पत्र में यही विवरण है।

छट्ठ	२२९
अट्ठम	१२
पारणा के दिन	३४९
दीक्षा का दिन	१

इस १२ वर्ष ६ मास १५ दिन की तपश्चर्या में, भगवान् ने केवल ३५० दिन (पारणे के दिन) भोजन किया और शेष दिन भगवान् ने निर्जल उपवास किये।

केवल-ज्ञान

जब भगवान् की तपस्या का १३-वाँ वर्ष चल रहा था तो मध्यम पावा के उद्यान से विहार करते हुए, भगवान् जभियग्राम पधारे। यहाँ ग्रीष्म-काल के दूसरे महीने मे, चौथे पक्ष मे, वैशाख शुक्ल १० के दिन, पूर्व दिशा की ओर छाया जाने पर, पिछली पोरसी के समय (चौथे प्रहर में), सुव्रत (रविवार) नामक दिन मे, विजय नामक मुहूर्त मे, जभिय ग्राम के बाहर उज्जुवालुया (ऋजुवालुका) नामक नदी के उत्तर[1] तट पर, एक जीर्ण-शीर्ण[2] चैत्य से न बहुत निकट और न बहुत दूर, श्यामक नाम के कौटुम्बिक के खेत मे शाल वृक्ष के नीचे, गोदोहिका आसन (जैसे बैठकर गाय दुही जाती है, वह आसन) मे बैठे हुए, आतापना लेते हुए, छट्ठ की निर्जला तपस्या करते हुए, चन्द्रमा के साथ उत्तरा-फाल्गुनी का योग आ जाने पर, ध्यानान्तर में वर्तमान (अर्थात् शुक्ल ध्यान के चार भेदो—१ पृथकत्व वितर्क वाला सवि-

---

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३२२

२—आवश्यक निर्युक्ति (पृष्ठ १०० गाथा ६९) मे 'वियावत्त' शब्द आया है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्र सूरि ने लिखा है (पत्र २२७–२)—'वियावत्तस्य चेइयस्स अदूरसामते वियावत्त नाम अव्यक्तमित्यर्थ. भिन्नपडियं अपाङग' इस पर टिप्पणि (पत्र २८–१) मे लिखा है—'वेयावत्तं' चैत्यमिति कोऽर्य इत्याह—'अव्यक्त' मिति जीर्ण्णं पतितप्रायमनिर्द्धारितदेवताविशेषाश्रयभूतमित्यर्थ. ।'

चार, २ एकत्व वितर्क वाला अविचार, ३ सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ४ उच्छिन्न क्रिया अप्रतिपात के) प्रथम दो भेदो वाले ध्यान को ध्याते हुए, प्रथम दो श्रेणियो को पार करके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अतराय इन चार घातिकर्मों के क्षय हो जाने पर, भगवान् को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन हुए।

इस प्रकार केवल-ज्ञान उत्पन्न होने पर, श्रमण भगवान् महावीर प्रभु अर्हन् हुए अर्थात् अशोक वृक्षादि प्रातिहार्य से पूजने योग्य हुए। राग-द्वेष को जीतनेवाले जिन हुए सर्वज्ञ और सर्वदर्शी केवली हुए।

ऐसा नियम है कि जहाँ केवल-ज्ञान हो, वहाँ तीर्थंकर एक मुहूर्त तक ठहरते हैं। इस विचार से भगवान् महावीर वहीं एक मुहूर्त तक ठहरे रहे।[1]

जब भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ, तो इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। महावीर स्वामी को केवल-ज्ञान हो गया, यह जानकर समस्त देवता अत्यत, हर्षित हो, वहाँ आये और आनन्द मे कोई कूदकर, कोई नाचकर, कोई हँसकर, कोई गाकर, कोई सिंह की तरह गरजकर, कोई नाना प्रकार के नाद कर, उत्सव मनाने लगे और उनकी स्तुति करने लगे। देव-ताओ ने वहाँ समोसरण की रचना की। यह जानकर कि, यहाँ उपस्थित लोगो मे कोई सर्व विरति के योग्य नही है, महावीर स्वामी ने एक क्षण तक देशना दिया।[2]

भगवान् की देशना का उन देवताओ पर कोई प्रभाव नही पड़ा, यह बात जैन-साहित्य में आश्चर्य-रूप मे गिनी गयी है।[3]

१—आवश्यक टीका मलयगिरि कृत, प्रथम भाग, पत्र ३००—१।

२—नेमिचन्द्र-रचित महावीर-चरिय पत्र ५९, गाथा ८६।
   गुणचन्द्र-रचित-महावीर-चरिय गाथा ५, पत्र २५१—१।
   त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ५, श्लोक १०, पत्र ६४।

३—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ६४।
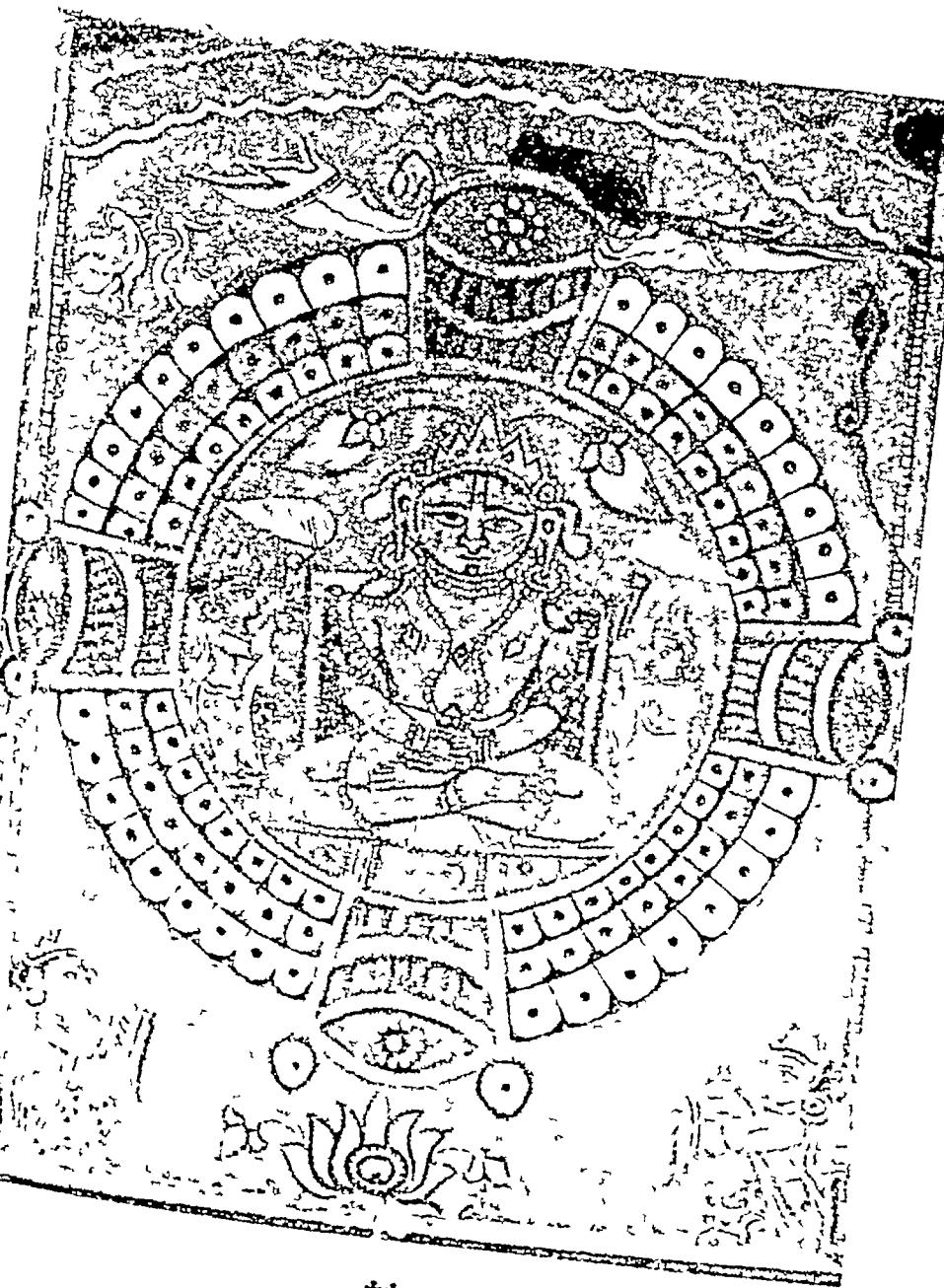
भगवान् महावीर स्वामी

गणधरवाद

उस समय मध्यम पावापुरी मे वड़ा विशाल धार्मिक आयोजन चल रहा था। आर्य सोमिल नामक ब्राह्मण यहाँ वडा भारी यज्ञ करा रहा था। इस यज्ञ मे भाग लेने के लिए स्थान-स्थान से विद्वान वहाँ पहुँचे थे। धार्मिक उपदेश का सव से उत्तम अवसर जानकर, भगवान् रात भर मे १२ योजन का विहार करके मध्यम पावापुरी पहुँचे और वहाँ ग्राम से वाहर महासेन-नामक[1] उद्यान मे ठहरे।

उस यज्ञ मे भाग लेने के लिए इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति ये तीनो भाई विद्वान आये थे। ये १४ विद्याओ[2] में पारगत थे। पर, इन्द्रभूति को जीव के सम्वन्ध मे, अग्निभूति को कर्म के सवन्ध मे और वायुभूति को वही जीव और वही शरीर के सम्वन्ध मे शका थी। उन तीनो मे प्रत्येक के साथ पाँच-पाँच सौ शिष्य थे। इनका गोत्र गौतम था और ये तीनो मगध देश मे स्थित गोवर गाँव के रहने वाले थे।

---

(१) स्कद स्वामी महासेन. सेनानी. शिखिवाहन.।
पाण्मातुरो ब्रह्मचारी गगोमाकृत्तिका सुत.॥
द्वादशाक्षो महातेजा. कुमार पण्मुखो गुह.।
विशाख शक्तिभृत क्रौञ्चतारि. शराग्निनभू.॥
अभिधान चिंतामणि, काड २, श्लोक १२२-१२३, पृष्ठ ८८। महासेन स्कद का नाम है। महावीर के काल मे उनकी भी पूजा होती थी।

(२) (अ) पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानांधर्मस्य च चतुर्दश॥
—याज्ञवल्क्य स्मृति, अ० १, श्लोक ३, पृष्ठ २

(आ) अङ्गानिवेदाश्चत्वारोमीमांसा न्याय विस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्याह्येताश्चुतुर्दश॥
—विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय ६, श्लोक २८ (गोरखपुर), पृष्ठ २२२

(इ) पडंगमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणक।
मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश॥
—आप्टे की सस्कृत इग्लिश डिक्शनरी, भाग २, पृष्ठ ६६४

उन्ही भाइयो के समान ख्याति वाले व्यक्त और सुधर्मा नामक दो विद्वान कोल्लाग-सन्निवेश के रहने वाले थे। उनको भी पाँच-पाँच सौ शिष्य थे। व्यक्त का गोत्र भारद्वाज था और सुधर्मा का अग्नि-वैश्यायन। व्यक्त को पचभूतो के सम्बन्ध मे और सुधर्मा को 'जैसा है, वैसा ही होता है' के सम्बन्ध मे शका थी।

उसी सभा मे मडिक और मौर्यपुत्र नामक दो विद्वान मौर्यसन्निवेश से आये थे। मडिक वासिष्ठ गोत्र के थे और मौर्य काश्यप गोत्र के थे। मडिक को बधमोक्ष और मौर्य को देवो के सम्बन्ध में शका थी। इन दोनो विद्वानो को ३५० शिष्य थे।

उस यज्ञ में भाग लेने के लिए अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास नाम के चार अन्य विद्वान भी आये थे। उनमे से हर का शिष्य-परिवार ३०० शिष्यो का था। अकम्पित को नारकी के सम्बन्ध मे, अचलभ्राता को पुण्य के सम्बन्ध मे, मेतार्य को परलोक के सम्बन्ध मे और प्रभास को आत्मा की मुक्ति के सम्बन्ध मे शका थी। अकम्पित मिथिला के थे और उनका गोत्र गौतम था। अचलभ्राता कोशल के थे, उनका गोत्र हारित था। मेतार्य कौशाम्बी के निकट स्थित तुगिक के थे। उनका गोत्र कौडिन्य था। और, प्रभास राजगृह के थे। उनका भी गोत्र कौडिन्य था।

इस प्रकार उस वृहत् आयोजन में आये ग्यारहो विद्वानो को एक-एक विषय में सन्देह था। पर, अपनी मर्यादा को ध्यान मे रखकर वे अपनी शका किसी से प्रकट नही करते थे।

पावापुरी के जिस उद्यान में भगवान् का समवसरण हुआ, वहाँ जाने के लिए लोगो में होड-सी लग गयी थी। वृहत् मानव-समुदाय को ही कौन कहे, देवगण भी उधर जा रहे थे। उसी समय भगवान् का द्वितीय समवसरण हुआ। उस समवसरण मे प्रभु ने कहा—

"यह अपार ससार-सागर दारुण है। जिस प्रकार वृक्ष का कारण बीज है, उसी प्रकार इसका कारण कर्म है। जिस प्रकार कुआँ खोदनेवाला व्यक्ति

ज्यो-ज्यो कुआँ खोदता जाता है, त्यो-त्यो नीचे जाता रहता है, उसी प्रकार अपने कर्म से विवेकपरिवर्जित प्राणी अधोगति को प्राप्त होता है और अपने ही कर्म से महल बनानेवाले के समान मानव ऊर्ध्व गति भी प्राप्त करता है। कर्म के बन्धन के कारण प्राणी प्राणातिपात (जीव-हिंसा) नही करता और अपने प्राण के समान दूसरो के प्राण की रक्षा करने में तत्पर रहता है। पर-पीडा को आत्म-पीडा के समान परिहरण करनेवाला व्यक्ति झूठ नही बोलता, सत्य बोलता है। मनुष्य के बहि प्राण लेने के समान मनुष्य अदत्त द्रव्य नही लेता, क्योकि अर्थ-हरण उसके वध के समान है। बहुजीवोपमर्दक मैथुन का सेवन नहीं करता। प्राज्ञ पुरुष परब्रह्म प्राप्ति के लिए, ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। परिग्रह को धारण नही करना चाहिए, क्योकि अधिक बोझ से दबे बैल के समान वह व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है। इस प्राणातिपात आदि के दो भेद हैं। जो उनमे सूक्ष्म का परित्याग (साधु-धर्म का पालन) नही कर करता, तो उसे सूक्ष्म के त्याग मे अनुराग करके बादर का त्याग (श्रावक-धर्म का पालन) तो अवश्य करना चाहिए।[१]

देवगणो को देखकर पहले ब्राह्मणो के मन मे विचार हुआ कि उनके यज्ञ के प्रभाव से देवगण वहाँ आये हैं। पर, देवताओ को यज्ञ-मंडप छोड़कर—जिधर महावीर स्वामी थे—उधर जाते देखकर ब्राह्मणो को दुःख हुआ। जब वहाँ यह समाचार पहुँचा कि वे देवतागण सर्वज्ञ भगवान् महावीर की वंदना करने वहाँ उपस्थित हुए हैं तो इन्द्रभूति के मन मे विचार हुआ कि "मेरे सर्वज्ञ होते हुए यह दूसरा कौन सर्वज्ञ यहाँ आ उपस्थित हुआ। मूर्ख मनुष्य को तो ठगा जा सकता है, पर इसने तो देवताओ को भी ठग लिया। तभी तो ये देवगण मुझ-सरीखे सर्वज्ञ का त्याग करके उस नये सर्वज्ञ के पास जा रहे हैं।" फिर, इन्द्रभूति को स्वय देवताओ पर ही शका होने लगी। उसने सोचा—"सम्भव है, कि जैसा वह सर्वज्ञ हो, उसी प्रकार के ये देव भी हो। परन्तु, कुछ भी हो, जैसे एक म्यान मे दो तलवार नही रह सकती, उसी भाँति हम दो सर्वज्ञ भी नही रह सकते।"[१]

---

१ त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र पर्व १०, सर्ग ५, श्लोक ३९–४७, पत्र ५६मू१

फिर प्रभु को वंदन करके लौटते हुए कुछ लोगो को देखकर इन्द्रभूति ने उनसे पूछा—"क्यों, तुम लोगो ने उस सर्वज्ञ को देखा ? कैसा है सर्वज्ञ ? वह कैसा रूपवान है ? उसका स्वरूप कैसा है ?"

इन्द्रभूति के इस प्रश्न को सुनकर, लोग भगवान् महावीर के गुणो की भूरि-भूरि प्रशसा करते। उनकी इतनी प्रशसा सुनकर, इन्द्रभूति को विचार हुआ कि "नया सर्वज्ञ कोई कपटमूर्ति है। नही तो, इतने लोग भ्रम मे कैसे आ जाते। मैं इसको सहन नही कर सकता। मैंने बडे-बड़े वादियो की वोली बंद कर दी है, फिर यह कौन-सी चीज होंगे। मेरे भय से कितने ही पंडित मातृभूमि छोडकर भाग गये तो मेरे सम्मुख सर्वज्ञपन के मान को धारण करने वाला यह कौन-सा व्यक्ति है।"

इन विचारो से प्रेरित होकर, मस्तक पर द्वादश तिलक धारण करके, सुवर्ण के यज्ञोपवीत से विभूषित हो, पीत वस्त्र पहन कर, हाथ मे पुस्तक धारण करने वाले बहुत से शिष्यो को साथ लेकर, दर्भ के आसन, कमडल आदि लेकर इन्द्रभूति वहाँ चले जहाँ भगवान् महावीर थे।

[१]

इन्द्रभूति

इन्द्रभूति को देखते ही भगवान् ने कहा—"हे गौतम गोत्र वाले इन्द्रभूति, तुम्हें जीव आत्मा के सम्बध मे सन्देह है, क्योकि घट के समान जीव प्रत्यक्ष रूप से गृहीत नही होता है। तुम्हारी धारणा है कि जो अत्यन्त अप्रत्यक्ष है, वह इस लोक मे आकाश-पुष्प के समान है ही नही।

"वह आत्मा अनुमान गम्य नही है, क्योकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। अनुमान लिग (हेतु) और लिगी (साध्य) इन दोनो के पूर्व उपलब्ध व्याप्य-व्यापक-भाव-सम्बव के स्मरण से होता है।

"जीव का लिग के साथ सम्बंध नहीं देखा गया है। जिससे कि फिर से स्मरण करने वाले को उस लिग के दर्शन से जीव की सम्यक प्रतीत हो।

"यह तो आगम गम्य भी नहीं है, क्योकि आगम भी अनुमान से भिन्न नही है। आगम जिनके वचन हैं, उनको भी जीव प्रत्यक्ष नही हुआ है।

"और, आगम भी परस्पर-विरुद्ध है[1]। अत इस कारण तुम्हारी

१—यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट करते हुए शास्त्रो के निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं।

(अ) नास्तिक कहते हैं :—

"एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।

भद्र वृक पद पश्य यद् वदन्ति बहुश्रुता॥"

(आ) भट्ट का वचन है—

"विज्ञान घन एवै तेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न च प्रेत्यसञ्ज्ञा स्ति।"

शका भी उचित ही है। अत तुम ऐसा मानते हो कि जीव सर्व-प्रमाणो के विपय से परे हैं।

"परन्तु, हे गौतम जीव निश्चित रूप से तुम्हे भी प्रत्यक्ष है, जिससे कि तुमको सशय हो रहा है। जिस तरह अपने शरीर के सुख-दु ख के लिए प्रमाण की आवश्यकता नही होती है, उसी प्रकार जो प्रत्यक्ष है, उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नही है।

"'मैंने किया है', 'मैं कर रहा हूँ', और 'मैं करूँगा', मे जो 'मैं' ('अहम्'-प्रत्यय) है, उससे भी आत्मा सिद्ध है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालो के कार्य-व्यवहार से आत्मा प्रत्यक्ष है।

"जव आत्मा ही नही है, तो फिर 'अहम्' को तुम कैसे स्वीकार कर सकते हो। मैं हूँ या नही, इस प्रश्न पर फिर शका कैसी ? और, यदि इतने पर भी शका है, तो फिर 'अहम्' प्रत्यय किसके साथ लागू होगा।

"जव सशय करने वाला ही नही है तो फिर 'किम् अस्मि नास्मि' (मैं हूँ या नही) की शका होगी किसको ? हे गौतम ! जव तुमको अपने स्वरूप के विपय मे ही शका है तो फिर कौन-सी वस्तु शकाहीन हो सकती है।

"आत्मा 'गुणिल्' (गुणवान्) भी है। गुण के प्रत्यक्ष होने से वह भी

(पृष्ठ २६० की पाद-टिप्पणी का शेषाश)

(इ) सुगत का वचन है :—

"न रूप भिक्षव: पुद्गल:

(ई) वेद में आता है —

(1) "न ह वै सशरीस्य प्रियाऽप्रिय योरप हतिरस्ति अशरीर वा वसन्ते प्रियाप्रिये न स्पृश्यतः।"

(ii) अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकाम."

(उ) कपिल के आगम मे आता है

"अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः"

घट के समान ही प्रत्यक्ष है। तुम जानते हो, गुण मात्र के ग्रहण से गुणवान् घट भी प्रत्यक्ष है।

"'गुणिन्' गुण के साथ अन्य है या अनन्य है ? यदि वह (गुण के साथ) अनन्य है, तो गुण मात्र के ग्रहण होने से, गुणी जीव भी साक्षात् ग्राह्य हो जाता है। और, यदि गुणिन् गुण से अन्य है, तो गुणिन् (गुणवान्) घटादि भी प्रत्यक्ष नही हो सकता। तो फिर गुणमात्र के ग्रहण होने पर, जीव के सम्बन्ध मे तुम्हारा यह विचार ही क्यो है ?

"यदि ऐसा मानते हो कि गुणिन् है तो अवश्य, वह शरीर आदि से भिन्न नही है। ज्ञानादि गुण भी शरीर के होंगे और गुणो का गुणी देह ही युक्त होगा।

"पर, ज्ञानादि शरीर का गुण नही है, क्योकि शरीर घट के समान मूर्त और चाक्षुष (देखे जाने योग्य) है। गुण द्रव्यरहित नही हो सकता। अत ज्ञानादि गुण जिसके हैं, वही देह से अतिरिक्त जीव है।

"इस तरह जीव तुम्हे आशिक रूप मे और मुझे पूर्ण रूप मे प्रत्यक्ष है। मेरा ज्ञान अविहत है। इसलिए विज्ञान की तरह तुम जीव को स्वीकार कर लो।

"इसी तरह अनुमान से तुम यह भी मानो कि, दूसरे के देह मे भी जीव है। जिस प्रकार अपनी देह में आत्मा को मानते हो, उसी प्रकार अनुवृत्ति और निवृत्ति से दूसरे की देह मे भी विज्ञानमय आत्मा को स्वीकार करो। क्योकि, इष्ट और अनिष्ट मे प्रवृत्ति और निवृत्ति होने से दूसरे के शरीर मे भी जीव है—ठीक उसी प्रकार जैसे अपने शरीर में जहाँ इष्ट-अनिष्ट मे प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है, वह सात्मक होता है, जैसे कि अपना शरीर। जब प्रवृत्ति और निवृत्ति पर शरीर मे भी देखी जाती है तब पर शरीर भी आत्मा से युक्त होगा। आत्मा के न रहने पर इष्टानिष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती—जैसे कि घट मे प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं है।

"जहाँ पर लिंग (हेतु) के साथ लिंगी (साध्य) पहले नही गृहीत हुआ है, वहाँ उस 'लिंग' से 'लिंगी' का उसी प्रकार ग्रहण नही होता, जैसे शशक से शृंग का ग्रहण नही होता। इसलिए वह जीव लिंग से अनुमेय नही है।

"आपका यह कहना ठीक नही है, क्योकि लिंग के साथ देखा गया ग्रह-(देवयोनि विशेष) शरीर में हँसना, गाना, रोना इत्यादि विकृत ग्रह-लिंग-दर्शन से जिस प्रकार ग्रह का अनुमान किया जाता है, उसी तरह कार्य-दर्शन से ऐसा माना जा सकता है कि शरीर मे आत्मा है।

"शरीर का एक नियत आकार है। अत शरीर का भी कोई विधाता अवश्य है। जिस प्रकार चक्र, चीवर, मिट्टी, सूत्र आदि का अधिष्ठाता कुम्हार है, उसी प्रकार इन्द्रियो का भी अधिष्ठाता कोई है। जो इन्द्रियो का अधिष्ठाता है, वही आत्मा है।

"इन्द्रिय और विषयो का परस्पर आदानादेय-भाव-सम्वंध होने से एक आदाता (ग्रहणकर्त्ता) अवश्य सिद्ध होता है। लोक में जिस तरह सदशक (सडसी) और लौह इन दोनो का आदानादेय-भाव-सम्बन्ध होने पर, आदाता कर्मार (लुहार) अवश्य ही देखा जाता है।

"देहादि का एक भोक्ता अवश्य होना चाहिए; क्योकि देहादि भोग्य है। जो-जो भोग्य होता है, उसका कोई-न-कोई भोक्ता अवश्य होता है। (जैसे अन्नादि का भोक्ता मनुष्य है) जिसका भोक्ता नही होता, वह भोग्य नही कहलाता, जैसे शश-शृग। जो सघातरूप (समुदाय-रूप) होते हैं, उनका एक स्वामी अवश्य होता है, जैसे गृह का गृहपति। देहादि भी सघात-रूप हैं। अत. इनका भी स्वामी कोई-न-कोई अवश्य होगा। जिसका स्वामी नही होता, वह सघात-रूप नही होता, जैसे कि गगन-कुसुम। जो देहादि का स्वामी है, वही आत्मा है।

"देहेन्द्रियादि का कर्ता, अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता तथा अर्थी जिसे मैंने अभी बतलाया है, वही जीव है। साध्य-विरुद्ध के साधक होने से ये हेतु विरुद्ध हैं। घट आदि के कर्तादि-रूप कुलाल आदि मूर्तिमान है, सघात-रूप

हैं और अनित्यादि-स्वभाव भी हैं। अत जीव भी मूर्तिमान, संघात-रूप और अनित्यादि स्वभाव वाला ही सिद्ध होगा—ऐसा तुम्हारा मत ठीक नहीं माना जा सकता। संसारी जीव के अष्ट कर्म पुद्गल संघात युक्त सशरीर कथंचित् मूर्तिमान् मानने में कोई दोष नहीं है।

"हे सौम्य! संशय होने से स्थाणु-पुरुष की तरह तुम्हारा जीव भी है ही। गौतम! जो संदिग्ध है, वह उस स्थल पर अथवा कहीं अन्यत्र निश्चित रूप से रहता ही है।

"तुम कहोगे कि, इस तरह गधे में भी सींग होनी चाहिए। पर, यह नियम नहीं है कि जिसमें सन्देह हो, उसी में वह वस्तु होना ही चाहिए। खर में न होने पर भी अन्यत्र सींग होती ही है। विपरीत ज्ञान करने पर इसी प्रकार समझना चाहिए।

"अजीव का विपक्ष (आत्मा) है ही, क्योंकि प्रतिषेध होने से जैसे कि अघट का विपक्ष होने से घट माना ही जाता है। जिस प्रकार (घट नास्ति) 'घट नहीं है' यह शब्द घट के अस्तित्व का साधक होता है, उसी प्रकार 'अजीव' शब्द जीवास्तित्व का साधक होगा।

" असत् वस्तु का निषेध नहीं होता है, यह बात सिद्ध है; क्योंकि संयोग आदि का प्रतिबंध किया जाता है। जैसे कि जब हम कहते हैं कि 'घर पर देवदत्त नहीं है' तो यहाँ 'घर' और 'देवदत्त' के रहने पर भी केवल संयोग का प्रतिषेध होता है। संयोग आदि [चार—संयोग, समवाय, सामान्य विशेष] और जगह में सिद्ध ही है।

"घटाभिधान की तरह शुद्ध होने से, 'जीव' यह पद भी सार्थक है जिस अर्थ से यह जीव-पद सदर्थ है, वह अर्थ आत्मा ही है, ऐसा विचार हो सकता है।

"यदि कहें कि 'जीव-पद' का अर्थ देह ही है, अन्य कुछ नहीं और इस प्रकार देह ही जीव सिद्ध हो सकता है' तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जीव और देह इन दोनों के पर्याय एक नहीं है। जहाँ पर पर्यायवचन-भेद

होता है, वहाँ उन दोनो मे भेद देखा जाता है, जिस तरह घट और आकाश मे (यहाँ 'घट', 'कुट', 'कुम्भ', 'कलश' आदि घट के पर्याय हैं और 'नभ', 'व्योम', 'अतरिक्ष', 'आकाश' ये सव आकाश के पर्याय देखे जाते है। अतः घट और आकाश भिन्न माने जाते हैं। उसी प्रकार जीव और देह पर्याय भी भिन्न-भिन्न है। जैसे कि, 'जीव' के 'जन्तु', 'असुमान्', 'प्राणी', 'सत्व', 'मूल' इत्यादि और शरीर के 'शरीर', 'वपु' 'काम', 'देह', 'कलेवर' इत्यादि) पर्याय-वचन के भेद रहने पर भी यदि वस्तु को एक माने तो सव वस्तुएँ एक ही हो जायेंगी।

"जीव ज्ञानादि गुण वाला वताया गया है, देह नही।

" 'जीवोऽस्ति' (जीव है) यह वात मेरा वचन होने से (आपके सशय-विषय अन्य अवशेष वचन की तरह) सिद्ध है। जो सत्य नही होता है, वह मेरा वचन ही नही होता है, जैसे कूट साक्षि-वचन। 'जीवोऽस्ति' यह वचन सर्वज्ञ-वचन होने से सिद्ध है—ठीक उसी प्रकार जैसे तुम्हारे मत से अभि-मत सर्वज्ञ का वचन तुम सत्य मानते हो।

"मेरा सभी वचन दोष-रहित है, क्योकि मुझ मे भय, राग, द्वेष, मोह सवका अभाव है। भयादि रहित जो वचन होता है, वह सत्य देखा गया है—जिस प्रकार भय-रहित और पूछने वाले के प्रति रागद्वेष-रहित ऐसे मार्ग जानने वाले का मार्गोपदेश-वचन सत्य और दोप-रहित होता है।

"तुम सोचते होगे कि मैं सर्वज्ञ कैसे हूँ ? इसका कारण यह हैं कि मैं समस्त शकाएँ मिटा सकता हूँ। जो तुम न जानते हो, पूछो, जिससे हमारी सर्वज्ञता का विश्वास हो जाये।

"हे गौतम ! इस तरह जीव को समझो। उपयोग जिसका हेतु है और जो सभी प्रमाणो से ससिद्ध है। ससार से इतर, स्थावर और त्रसादि भेद वाले जीव को तुम समझो।[1]

१—इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकारने लिखा है—वेदान्तिन् कह सकते हैं कि आत्मा सर्वत्र एक ही है, अत. उसके वहुत से भेद नही करने चाहिए और कहेगा —

"जिस तरह सभी पिंडो (देह) मे आकाश एक माना जाता है, उसी तरह सभी देहो मे आत्मा को एक मानने मे क्या दोप है ? हे गौतम ! जिस तरह सभी पिंडो मे एक रूप ही आकाश होता है, उसी तरह सभी देहो में आत्मा एक रूप नही होता है, क्योकि पिंड मे आत्मा भिन्न-भिन्न ही देखा जाता है।

"ससार मे लक्षण के भेद होने से जीव नाना रूप होते हैं—कुम्भादि की तरह ! जो भिन्न नही होता है, उसका लक्षण भी भिन्न नही होता है है, जैसे आकाश। आत्मा के एक होने से सुख-दु ख बध और मोक्षाभाव सब को होंगे। अत जीव भिन्न ही हैं।

"जिससे कि जीव का उपयोग लक्षण है और उसका वह उपयोग उत्कर्ष-अपकर्ष भेद से भिन्न होता है। अत, उपयोग के अनन्त होने से जीव को भी अनन्त मानना चाहिए।

"जीव को एक मानने पर सर्वगतत्व (व्यापक) होने से—आकाश की तरह—सुख-दु ख, बध-मोक्ष आदि नही हो सकते हैं। और, आकाश की तरह

[पृष्ठ २६५ की पादटिप्पणि का शेषाश]

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते प्रतिष्ठित·।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥
यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥२॥
तथेद मंगलं ब्रह्म निर्विकल्पम विद्यया।
कलुपत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥३॥
ऊर्ध्वमूलमध· शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित् ॥४॥

तथा "पुरुप एवेदग्नि सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्, उतामृतत्व-स्येशानः यदन्नेनातिरोहति, यदेजति। यद् नैजति, यद् दूरे, यदु अन्तिके, यदन्तरस्य सर्वस्य, यत् सर्वस्यास्य वाह्यत:" इत्यादि।

ससारी जीव, कर्त्ता, भोक्ता, मन्ता (मनन करने वाला) नही हो सकता। जो एक होता है, उसमे कर्तृत्व आदि नही होते।

"एक मानने पर आत्मा (जीव) सुखी नही हो सकता है, क्योकि एक देश में निरोग रहने पर भी अनेक तरह के शारीर, मानस, व्याधि-परम्पराओ के कारण दु ख की आशंका रहेगी। बहुतर बद्धत्व (बधन) के होने से देशमुक्त की तरह वह आत्मा मुक्त भी नही हो सकता है।

"शरीर मे ही आत्मा के गुणो की उपलब्धि होने से, जीव घट की तरह शरीर मात्र मे ही रहनेवाला है। अथवा जो जहाँ पर प्रमाणो से उपलब्ध नही होता है, वहाँ उसका अभाव ही उसी तरह माना जाता है, जैसे घट मे पट की।

"अत आत्मा मे, अनेकत्व और असर्वगतत्व के होने पर ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, वध, मोक्ष, सुख, दु ख और ससरण (जन्म-मरण) ये सब उत्पन्न हो सकते हैं।

"गौतम! तुम '**विज्ञानघन एवैतेभ्य**' आदि वेदवाक्यो का सही अर्थ नही जानते हो। तुम मानते हो कि मद्य के कारण धातकी आदि मे मदभाव की तरह इस पृथ्वी आदि भूत-समुदाय से उत्पन्न विज्ञान मात्र ही जीव है। वह पीछे फिर उन्ही भूतो मे लय को प्राप्त होता है। इसलिए परभव मे वही पूर्वभव वाली सज्ञा नही होती है। अतएव जीव इस लोक से परलोक नही जाता है।

"हे गौतम! उक्त वेदवाक्य का पूर्वोक्त अर्थ मान करके 'जीव नही हैं', ऐसा तुम मानते हो। पर, '**न ह वै सशरीरस्य**' आदि अन्य वेद-वाक्यो मे जीव बतलाया गया है। और, '**अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकाम**' इत्यादि वेदवचन से अग्नि-हवनादि क्रिया का पारलौकिक फल सुना जाता है। जब आत्मा अन्य भव मे नही जाने वाला है, तब यह बात सगत नही हो सकती है। इन वाक्यो को देखकर नहो, तुम्हे जीव के सम्बन्ध में सशय होता है। तुम सशय मत करो क्योकि '**विज्ञानघन एवैतेभ्यः**' वेदवाक्य का वह अर्थ नहीं है, जो तुम जानते हो। जो मैं अभी कहने वाला हूँ, उस वास्तविक अर्थ को तुम सुनो।

"इस श्रुति मे विज्ञान-रूप होने से (विज्ञान से अभिन्न होने से) जीव विज्ञानघन है। विज्ञान प्रति प्रदेश मे होने से, यह विज्ञानघन सर्वतो व्यापी है। नैय्यायिक लोग जिस तरह स्वरूपतः जीव को जड और उसमे बुद्धि को समवेत मानते हैं, ऐसा नहीं है। वह विज्ञानघन घटादि विज्ञान की तरह भूतो से उत्पन्न होता है और वह विज्ञानघन विनिश्यमान उन्हीं भूतो में काल क्रम से (अन्य वस्तु के उपभोग मे आने से, ज्ञेय भाव से) विनाश को प्राप्त कर जाता है।

"एक ही यह विज्ञानघन जीव तीन स्वाभावो वाला है। अन्य वस्तु के उपयोग काल में, पूर्व विज्ञान के उपयोग से, यह विनस्वर-रूप होता है। अन्य विज्ञानोपयोग होने पर वह उत्पाद-स्वरूप होता है। अनादि काल से आता हुआ, सामान्य विज्ञान मात्र की परम्परा मे, वह जीव अविनाशी होता है। इसी तरह सभी वस्तुओ को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य (अविनश्वरता) स्वभाव ही जानना चाहिए। न तो कोई वस्तु सर्वथा उत्पन्न होती हैं और न विनाश को ही प्राप्त होती है।

"अन्य वस्तु के उपयोगकाल मे, पूर्व की ज्ञान-सज्ञा नही रहती है, क्योकि तत्काल दिखलायी देने वाली वस्तु के उपयोग से वह ज्ञान सज्ञा हो जाती है (इससे यह बतलाया गया कि जब घटोपयोग-निवृत्ति होने पर पटोपयोग उत्पन्न होता है, तब घटोपयोग सज्ञा नही रहती है।) इसलिए वेद-वाक्यों मे 'विज्ञानघन' नाम वाला वह जीव ही है।

"ऐसा होने पर भी तुम्हारी यह मान्यता है कि, घटादि भूत के होने पर घटज्ञान के उत्पन्न होने से और उसके अभाव से घटादि विज्ञानाभाव होने से वह विज्ञान भूतधर्म है। यह तुम्हारा विचार ठीक नहीं है, क्योकि वेद-सिद्धात मे उन घटादि भूतो के रहने और नही रहने पर भी विज्ञान होता ही है और सूर्य-चन्द्र के अस्त हो जाने पर अग्नि और वाणी इन दोनो के शात होने पर उस समय पुरुप मे (किं ज्योति) कौन-सी ज्योति[1] है?

१—टीकाकार ने यहाँ लिखा है :—

अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्यः, चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि, किं ज्योतिरेवाय पुरुप., आत्मज्योतिः, समाडिति होवाच......

वह ज्योति आत्मज्योति है। यह आत्म ज्योति वाला पुरुष ही आत्मा है।

"वह विज्ञानघन भूतधर्म नहीं होता है, क्योंकि घटादिभूत के अभाव मे वह होता है। यह भावदशा मे भी नही होता है, जिस तरह घट के रहने पर या न होने से पट उत्पन्न नही होता है। इसलिए 'पट' को 'घट' का धर्म नही मानना चाहिए।

"इन वेदवाक्यो का अर्थ तुम नहीं जानते हो अथवा सभी वेदो का अर्थ तुम नही जानते हो। क्या इन वेद पदो का अर्थ श्रुति (शब्द) होगा, जिस तरह 'भेरी' 'पट' इत्यादि के शब्द का शब्द ही अर्थ होता है। अथवा घटादि शब्द के उच्चारण करने पर जो घटादि विषयक विज्ञान होता है, वही उसका अर्थ है ? अथवा वस्तुभेद से ही शब्द का अर्थ है, जैसे 'घट' के उच्चाराण कन्ने 'पृथुबुध्नोदरादि' आकारवान् घट-रूप वस्तु ही बतायी जाती है—पटादि नही।

"अथवा 'जाति' ही शब्दो का अर्थ है, जैसे 'गो' शब्द के उच्चारण करने पर गो-जाति मानी जाती है।

"अथवा क्या द्रव्य ही इनका अर्थ है—जैसे दण्डी शब्द कहने पर दण्ड वाला द्रव्य माना जाता है।

"अथवा क्या गुण ही शब्दो का अर्थ है—जैसे शुक्ल कहने पर शुक्लत्व गुण समझा जाता है।

"अथवा क्रिया ही इनका अर्थ है—जैसे 'धावति' कहने पर दौडने की क्रिया समझी जाती है।

"यह तुम्हारा सशय ही अयुक्त है, क्योंकि किसी वस्तु का धर्म 'अयमेव नैव वा अयं' (यही है अथवा यह नही है) इस तरह से नही जाना जाता है, क्योकि वाच्य-वाचक आदि सभी वस्तु 'स्व', 'पर' पर्यायो से सामान्य विवक्षया से निश्चय ही सर्वात्मक है। और, केवल 'स्व' पर्याय की अपेक्षा से सभी वस्तुएँ सब से भिन्न और असर्वमय हैं। इससे पदार्थ विवेक्षा के द्वारा सामान्य तथा विशेष रूपोवाला होता है। निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता है कि 'ऐसा ही है' अथवा 'ऐसा नही है', क्योकि वस्तु का स्वभाव पर्याय की अपेक्षा से नाना प्रकार का होता है।"

जर-मरण-रहित जिनेश्वर के द्वारा सशय दूर कर दिये जाने पर इन्द्रभूति ने ५०० शिष्यो के साथ दीक्षा ले ली।

[२]

अग्निभूति

इन्द्रभूति की दीक्षा का समाचार सुनकर, इन्द्रभूति के भाई अग्निभूति को बडा क्रोध हुआ। उन्होंने सोचा कि, मैं स्वय चल कर अब उस साधु को पराजित करूँगा और इन्द्रभूति को वापस लाऊँगा। उन्हें विचार हुआ कि, इन्द्रभूति छल से पराजित किये गये हैं। सम्भवत वह साधु मायेन्द्रजाल जानने वाला है। क्या होता है, यह तो मेरे चलने पर ही निश्चित होगा। यदि वह साधु मेरे एक भी पक्षान्तर (पक्ष-विशेष) को जानने वाले होंगे, और उत्तर देकर मुझे सतुष्ट कर देंगे तो मैं भी उनका शिष्य हो जाऊँगा।

ऐसा विचार करके अग्निभूति तीर्थंकर के पास गये। उनको देखते ही भगवान् ने उनके नाम और गोत्र के साथ उन्हे सम्बोधित किया और बोले —"कर्म है, या नही तुम्हे इस बात पर शङ्का है। (मिथ्यात्व के वश मे जो कार्य किया जाता है और ज्ञानावरण ढग का जो काम है, उनका अस्तित्व है या नही तुम्हें इस सम्बन्ध मे शका है।) तुम वेद-वाक्यो का सही अर्थ नही जानते।

"तुम्हारा विचार है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से 'कर्म' का होना सिद्ध नही होता है। अत, तुम उसे ज्ञान-गोचरातीत (ज्ञान की सीमा से परे) मानते हो। लेकिन, सुख-दु:खादि के अनुभूति-रूप फल ही कर्म के अनुमान मे साधन है। तुम कहोगे कि, कर्म यदि आपको प्रत्यक्ष है तो मुझे भी प्रत्यक्ष क्यो नहीं होता। पर, तुम्हारा यह कहना ठीक नही है। ऐसा नियम नहीं है कि जो एक को प्रत्यक्ष हो, वह दूसरे को भी प्रत्यक्ष हो। सिंह, शरभ आदि प्रत्यक्ष तो हैं, पर वे भी सब को प्रत्यक्ष नही होते।

"जिस प्रकार अकुर का हेतु बीज है, उसी प्रकार सुख-दु ख के लिए भी हेतु की आवश्यकता है। उनका हेतु कर्म ही है। तुम्हारा यह मत कि, वह कारण दृष्ट ही हो सकता है, ठीक नही है। साधन-सामग्री समान होने पर भी, फल मे जो विशेष अतर दृष्टिगत होता है, उसके लिए कोई कारण अपेक्षित है। वह कारण कर्म को ही मानना चाहिए।

"जिस प्रकार यौवन के शरीर से पूर्व बचपन का शरीर होता है, उसी प्रकार बचपन के शरीर से पूर्व एक अन्य शरीर होता है। और, बचपन के शरीर के पूर्व का शरीर वस्तुत. 'कर्म' है। उसे 'कार्मण-शरीर' कहते है।

"जिस प्रकार कृषि का फल सस्योत्पादन है, उसी प्रकार क्रिया के फल दानादि का भी दृष्ट फल—होना चाहिए वह फल मन-प्रसाद है। अदृष्ट कर्म-रूप फल पाने की आवश्यकता नही।

"और, प्रश्न किया जा सकता है कि, मन-प्रसाद भी तो स्वय क्रिया-रूप ही है। अत उसका भी फल होना ही चाहिए। उसका जो फल है, वह कर्म है। उसी के परिणाम-स्वरूप बारम्बार सुख-दु खादि फल उत्पन्न होते हैं।

"यदि तुम्हारा यह विचार है कि दानादि क्रिया मनोवृत्ति का फल है, तो ऐसा तुम्हारा मानना ठीक नही है। दानादि-क्रिया मनोवृत्ति का निमित्त (कारण) है। यह बात ठीक वैसी ही है, जैसे कि मिट्टी का पिड घट का निमित्त है।

"इस प्रकार भी स्पष्ट है कि, क्रिया का फल दृष्ट ही होता है। उनका फल 'कर्म' नही हुआ। क्रिया का फल ठीक उसी रूप मे दृष्ट होता है, जैसे पशु-विनाश का फल दृष्ट मास ही माना जाता है—अदृष्ट अधर्मादि नहीं। जीव-लोक प्राय ऐसे ही फल मे लगता है, जिसका फल दृष्ट होता है। जीवलोक का असख्य भाग ही अदृष्ट फल वाली क्रिया मे प्रवृत्त होता है।

"हे सौम्य! जीव दृष्ट फल वाली क्रियाओ मे ही प्राय प्रवृत्त होते हैं। इसी कारण क्रिया को आप अदृष्ट फल वाली माने।

"यदि ऐसा न माना जायेगा तो, विना प्रयत्न के सब के सब मुक्त हो जायेंगे। और, अदृष्ट फल वाली क्रियाओ को करने वाला ही अधिक क्लेश वाला हो जायेगा। क्योकि, दानादि क्रिया को करने वाले अदृष्ट फल के साथ सम्बन्ध करेंगे, तो पीछे जन्मान्तर मे उनके फल का अनुभव करते हुए फिर भी दानादि क्रिया मे प्रवृत्त होगे। और, फिर उसके अधिक फल का अनुभव करने पर फिर दानादि क्रिया मे प्रवृत्त होगे। उससे उनका ससार अनत होगा।

"इस जगत् मे वहुतर लोग अनिष्ट भोगो का भोग करते हैं। पर, यह भी निश्चित है कि उसमे कोई अदृष्ट और अनिष्ट फल वाला कार्य कदापि नही करना चाहता। अत, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हर क्रिया का एक अदृष्ट फल भी निश्चित् रूप मे होता है। और, करने वाले के अदृष्ट के प्रभाव से उसका फल भी अनिश्चित देखा जाता है।

"अत फल से ही (कार्यत्व हेतु) कर्म को पहले ही सिद्ध कर दियाँ गया है। जैसे, घट के परमाणु कारण होते हैं, उसी तरह फल का भी कोई कारण होगा। वह कारण 'कर्म' ही है। लेकिन, वह फल क्रिया से भिन्न होता है, क्योकि कार्य-कारण मे भेद मानना आवश्यक है।

"परपक्षवाला कहेगा कि, काम के मूर्त होने से, उसका कारण परमाणु भी मूर्त होते हैं।

"जिसके सम्वन्ध होने से सुखादि का अनुभव होता है, वह मूर्त होता है। अत कर्म के सम्वन्ध से सुखादि का अनुभव होने से, कर्म मूर्त माना जायेगा—जैसे कि आहार।

"जिसके सम्वन्ध होने से वेदना का उद्भव होता है, वह भी मूर्त माना जाता है, जैसे अग्नि। कर्म के सम्वन्ध से वेदना की उत्पत्ति होती है। अत कर्म मूर्त माना जायेगा।

"जिसको वाह्य वस्तु के द्वारा वल प्राप्त होता है, वह भी मूर्त माना जाता है—जिस प्रकार तेल आदि से पुष्ट किया गया घडा। मिथ्या तत्त्वादि

के कारण वाह्य वस्तुओ से कर्म का उपचय-रूप वल देखा जाता है। अत कर्म भी मूर्त होगा।

"आत्मादि से भिन्न होकर जो परिणामी होता है, वह मूर्त माना जाता है जैसे क्षीर। कर्म भी आत्मादि से भिन्न होता हुआ, परिणामी देखा जाता है अत, वह भी मूर्त होगा।

"जिसका कार्य परिणामी होता है, वह स्वय भी परिणामी होता है। जैसे दूध के कार्य दही के परिणामी होने के कारण दूध को भी परिणामी माना जाता है। उसी तरह कर्म के कार्य-शरीर के परिणामी होने से उसका कारण कर्म भी परिणामी माना जायेगा।

"जिस प्रकार विना कर्म की सहायता के वादलो मे वैचित्र्य होता है, उसी प्रकार की स्थिति ससारी जीव के सम्बन्ध मे भी है। यदि हम यह मान लें कि, दु.ख-सुख विना कर्म की सहायता से घटते रहते हैं, तो कोई हानि न होगी।

"इसका उत्तर यह है कि तो फिर कर्म के सम्बन्ध मे क्या भेद आने वाला है? जैसे वाह्य पदार्थों का वैचित्र्य सिद्ध है, उसी प्रकार कर्मपुद्गलो का भी वैचित्र्य सिद्ध किया जा सकता है।

"यदि वाह्य वस्तुओ की चित्रता सिद्ध हो गयी, यह तुमको स्वीकार है तो शिल्पिन्यस्त रचनाओ की तरह जीवानुगत कर्म का भी वैचित्र्य और भी अधिक स्पष्ट रूप मे सिद्ध है।

"यदि अभ्रादि-विकार स्वभावत. वैचित्र्य को धारण करते हैं, तो कर्म को माना ही क्यो जाये', इस प्रकार का विचार ठीक नही है। कर्म भी स्वत एक शरीर ही है, उसे 'कार्मण्य-शरीर' कहते हैं। अतीन्द्रिय होने से वह सूक्ष्मतर है और जीव के साथ अत्यन्त सश्लिष्ट होने से अभ्यन्तर है। तब तो जिस प्रकार अभ्रविकारादि वाह्य तनु मे तुम वैचित्र्य मानते हो, उसी तरह कर्म-शरीर मे भी विचित्रता मानने मे क्या हानि है?

"यदि कर्म-तनु को नहीं मानते हैं, तो मरण-काल में स्थूल शरीर से सर्वथा विमुक्त जन्तु का भवान्तर में स्थूल शरीर ग्रहण करने में कारणभूत सूक्ष्म कार्मण्य-शरीर के अतिरिक्त और क्या होगा ? इनके फलस्वरूप संसार का विच्छेद हो जायेगा।

"और, इसका फल यह होगा कि, या तो सभी को मोक्ष प्राप्त हो जायेगा या बिना कारण सबको संसार प्राप्त हो जायेगा। और, दूसरों की क्या बात—भवमुक्त सिद्धजनों का भी अकस्मात् निष्कारण संसारपात होगा। तब तो मोक्ष में भी अविश्वास !

"(प्रश्न किया जा सकता है कि) मूर्त (कर्म) का अमूर्त जीव से कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? (इसका उत्तर यह है) हे सौम्य ! यह सम्बन्ध भी मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ अथवा मूर्त अंगुलि द्रव्य का अमूर्त आकुंचन् (समेटने) आदि क्रिया के साथ के सम्बन्ध के समान है।

"जीव के साथ लगा हुआ, यह स्थूल शरीर जैसे प्रत्यक्ष है, वैसे ही भवान्तर में जीव के साथ संयुक्त कार्मण शरीर को भी स्वीकार करना चाहिए।

"अमूर्त (आत्मा) का मूर्त (कर्मन्)के साथ उपघात (परितापादि) अथवा अनुग्रह (अल्हादि) कैसे हो सकते हैं क्योंकि अमूर्त आकाश का मूर्त अग्नि ज्वालादि के साथ सम्बन्ध नहीं होता है।' तुम्हारी इस शंका का उत्तर यह है कि, जिस प्रकार मूर्त मदिरा अथवा मूर्त औषधियोग से अमूर्त विज्ञान का उपघात और अनुग्रह होता है, उसी तरह आत्मा का कर्म के साथ होगा।

"अथवा यह नियम नहीं है कि, संसारी जीव एक दम अमूर्त हो, क्योंकि वह तो अनादि काल से कर्म की शृंखला से सम्बद्ध है।

"हे गौतम ! कर्म और शरीर बीज और अंकुर के समान एक दूसरे के हेतु-हेतु के रूप में हैं। इस प्रकार कर्म की शृंखला का कोई आदि नहीं है।

"हे गौतम ! यदि कर्म को ही अस्वीकार कर दिया जाये तो स्वर्ग की कामना से किये गये अग्निहोत्र आदि तथा वेदविहित दानादि फल का कोई उपयोग नही है ।

"कर्म को अस्वीकार करने पर, तुम शुद्ध जीव और ईश्वर को शरीरादि का कर्ता मानते हो । पर, यह वात नही हो सकती । निश्चेष्ट और अमूर्त होने उपकरण आदि के न होने से यह वात देह के आरम्भ के सवव मे ईश्वर के साथ भी लागू होगी । ईश्वर को शरीरवाला कहेगे या अशरीरी । यदि अशरीरी मानें तो उपकरणरहित होने से वह जगत् का कर्ता न होगा । यदि शरीरवान् मानते हैं तो ईश्वर के शरीर वनने मे भी यह वात लागू हो सकती है, क्योंकि बिना कर्म के उनके शरीर की भी रचना नही हो सकती । यदि कहे कि उनके शरीर को कोई अन्य वनाता है तो फिर प्रश्न होगा कि उसके शरीर को कौन वनाता है । इस प्रकार अनावस्था-हो जायेगी ।

"हे गौतम ! वेदवाक्य 'विज्ञानघन' आदि के आधार पर यदि तुम्हारा विचार है कि स्वभावत: सब कुछ होता है तो तुम्हारे इस विचार से वहुत-से दोष उत्पन्न हो जायेंगे ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने जव अग्निभूति की शका का निवारण कर दिया तो अग्निभूति नें अपने पाच सौ शिष्यो के साथ दीक्षा ले ली ।

(३)

वायुभूति

यह सुनकर कि इन्द्रभूति और अग्निभूति साधु हो गये, तृतीय गणधर वायुभूति तीर्थंकर के निकट गये। उन्हें विचार हुआ कि जिस भगवान् महावीर को इन्द्रभूति और अग्निभूति ने गुरु मान लिया है और तीनो लोक जिनकी वदना करता है, उनके सम्मुख जाकर वन्दना करने से मेरे समस्त पाप धुल जायेंगे और उनकी उपासना करके मैं अपनी समस्त शकाओ का निवारण करा लूंगा।

ऐसा विचार करके वायुभूति जव भगवान् के पास गये तो भगवान् ने उन्हे देखते ही उनके गोत्र के सहित उनका नाम लेकर सम्बोधित किया और वोले—"तुम्हे शका है कि जो जीव है, वही शरीर है। पर, तुम मुझसे कुछ पूछ नही रहे हो। तथ्य यह है कि तुम वेदवाक्य का अर्थ नही जानते। उनका यह अर्थ है।

"तुम्हारा यह विचार है कि वसुधा आदि भूत-समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है। तुम समझते हो कि जैसे पृथक-पृथक वस्तु मे मादकता न होने पर भी उनके समुदाय से मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जीव भी उत्पन्न होता है। जैसे पृथक-पृथक वस्तु मे मादकता न होने पर भी उनके योग से मद्य तैयार होता है, और एक निश्चित् अवधि के वाद गायव हो जाता है, उसी प्रकार पृथक-पृथक भूतो मे चैतन्य न रहने पर भी, भूतो के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है और कालान्तर मे विनष्ट हो जाता है।

"उन वस्तुओ के सयोग से चेतना नहीं उत्पन्न हो सकती, जिसमे पृथक-पृथक रूप में चेतना न हो। उदाहरण के लिए कहे कि जैसे वालू के पृथक-पृथक कणो में तेल के अभाव के कारण वालू से तेल नही निकल

सकता, उसी प्रकार जिन पदार्थों के सयोग से मद्य बनता है, उन पदार्थों में भी पृथक रूप से मद का पूर्ण अभाव नही रहता। मद्य के अगो मे कुछ-न-कुछ ऐसा अश होता है जो भ्रमि, घ्राणि, वृतृष्णता आदि उत्पन्न करने में समर्थ होता है। अत. भूतो मे जब पृथक-पृथक चेतना होगी, तभी उनके सयोग से चेतना उत्पन्न हो सकती है।

"यदि निर्माता-पदार्थों में नशा लाने की प्रवृत्ति का सदा अभाव हो तो फिर उसे मद-निर्माता पदार्थ माना ही क्यो जायेगा ? और, उनके सयोग के सम्वन्ध मे कोई नियम ही क्यो बनेगा ? क्योकि, यदि मद्य के अभाव वाली वस्तुओ के सयोग से मद्य तैयार होने लगे, तो अन्य पदार्थों के सयोग से मद्य तैयार किया जाने लगेगा।

"समुदाय मे चैतन्य दिखने से, प्रत्येक भूत मे भी पृथक-पृथक रूप मे चेतना माननी चाहिए। यह बात ठीक वैसी है, जैसे मद्याग मे मद। अत, तुम्हारा यह हेतु असिद्ध है।

"हे गौतम् ! यह प्रत्यक्ष विरोध है। भूतसमुदाय के अतिरिक्त जीव को सिद्ध करने वाले अनुमान के होने से, तुम ऐसा मत मानो। तुम जो कहते हो कि प्रत्येक मे चेतना है, यह परस्पर-विरोध है।

'भूतेन्द्रियो से प्राप्त अर्थ का अनुसरण करने से, भूतेन्द्रियो से भिन्न किसी का धर्म चेतना है, ऐसा मानना ही चाहिए। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे एक आदमी पाँच खिडकियो से दृष्य देखता है और फिर उसे अपने मस्तिष्क में स्मरण करता है।

"इन्द्रियो के विनाश हो जाने पर भी, ज्ञान होता है और कभी इन्द्रिय-व्यापार के रहने पर भी ज्ञान नही प्राप्त होता। अत, इन्द्रियो से भिन्न किसी वस्तु की सिद्धि होती है। यह वैसे ही है, जैसे पाँच खिडकियो से दृश्य देखने वाला इन्द्रियो से भिन्न माना जाता है।

"जित तरह एक खिडकी से घटादि वस्तु को प्राप्त कर, दूसरी खिडकी से उसको ग्रहण करनेवाला व्यक्ति उन दोनो से भिन्न है, उसी तरह नेत्र से

घटादि-वस्तु को प्राप्त कर हाथ आदि से उस वस्तु को ग्रहण करनेवाला जीव, नेत्र और हाथ दोनो से भिन्न है, यह बात सिद्ध है।

"सभी इन्द्रियो से प्राप्त वस्तुओ का स्मरण करने वाली कोई वस्तु, इन इन्द्रियो से भिन्न है। यह बात उसी प्रकार है, जैसे पाँच व्यक्ति हो, उन्हें पाँच विज्ञान हो और छठाँ व्यक्ति हो, जो पाँचो के विज्ञान को जानता हो।

"युवा-ज्ञान से पूर्व जैसे बाल-ज्ञान होता है, उसी प्रकार बाल-विज्ञान विज्ञान्तरपूर्वक है। वह ज्ञान शरीर से अलग है, क्योकि उस शरीर के न रहने पर भी उस ज्ञान का स्थायित्व है।

'बालक की पहली इच्छा माँ के स्तनपान की होती है। वह वस्तु के भोजन की इच्छापूर्वक ठीक वैसी है, जैसी अभी की अभिलाषा। यह अभिलाषा शरीर से भिन्न है।

"यौवन का शरीर जैसे बचपन के शरीरपूर्वक होता है, उसी प्रकार बचपन का शरीर भी शरीरान्तरपूर्वक होगा, क्योकि दोनो मे इन्द्रियादि हैं। और वह देह जिसका है, वह देही (आत्मा) है।

"बालक के सुख-दुःख के पूर्व अन्य सुख-दुःख की अवस्थिति है—अनुभवात्म होने से। इस सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला जीव ही है।

"हे गौतम, बीज और अकुर का परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध होने से बीज और अकुर का सतान जिस तरह अनादि है, उसी तरह परस्पर कार्य-कारण भाव होने से शरीर और कर्म का सतान भी अनादि है।

"कार्य-कारण भाव होने से, कर्म और शरीर के अतिरिक्त कर्म और शरीर का कर्ता कोई-न-कोई मानना ही चाहिए। जिस तरह दड और घट मे कार्य-कारण भाव होने से दोनो से, अतिरिक्त एक कर्त्ता कुलाल माना जाता है।

"बौद्ध-सैद्धातिक के अनुसार, इस जगत मे सब कुछ क्षणिक है। इसलिए विरोधी कह सकता है कि, शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाता है। अत, जीव शरीर से भिन्न है, यह सिद्ध करना निरर्थक है।

"जैसे हम वचपन की घटना वृद्धावस्था मे अथवा स्वदेश की घटना को विदेश मे स्मरण करते हैं, उसी तरह जातिस्मरण करनेवाला जीव पूर्व शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नही होता।

'ज्ञानशृखला के सामर्थ्य से क्षणिक जीव भी पूर्व वृतात को स्मरण करता है। यदि ऐसा मानें तो भी यह सिद्ध हो जाता है कि, ज्ञान-सतान शरीर से भिन्न ही माना जायेगा।

"ज्ञान सर्वथा क्षणिक नही है, क्योकि वह पूर्व की वाते स्मरण कर सकता है। सर्वथा क्षणिक अतीत का स्मरण नही कर सकता। जन्म लेते ही विनष्ट हो जाने वाले के लिए पूर्व क्या ?

"वादी (बौद्ध) के 'एक विज्ञान सततय सत्वा' वचन से उसका 'सर्व-मपि वस्तु क्षणिक' ऐसा विज्ञान कभी युक्त नही हो सकता और उसका इष्ट तो 'यत् सत् तत् सर्व क्षणिक' 'क्षाणिका सर्व सस्कारा' इत्यादि वचनो से सर्वक्षणिकता विज्ञान ही है। यह सब वातें क्षणिकताग्राहक ज्ञान के एक मानने पर सगत नही हो सकती। एक प्रतिनियत कारण वाला ज्ञान अशेष वस्तु में रहने वाली क्षणिकता को कैसे समझ सकता है। यदि उत्पत्ति के वाद ही उसका विनाश न माना जाता तो एक और एक निवन्धन विज्ञान सभी पदार्थों में क्षणिकता को वता सकता था।

"ऐसा ज्ञान जो अपने तक ही सीमित है और जन्म के वाद ही नष्ट हो जाता है, वह सुवहुक विज्ञान और विपय के क्षय आदि को कैसे ग्रहण कर सकता है।

"अपने विषय के विज्ञान से 'अय अस्मद् विपय क्षणिक" "अह च क्षण नश्वर रूप' इस तरह अन्य विज्ञानो को भी विषय साध्य होने से क्षणि-कता का ज्ञान कर सकता है। यह भी वात ठीक नही है, क्योकि अनुमान तो सत्ता आदि की सिद्धि करता है। सर्वक्षणिकता वाला ज्ञान तो क्षण-नश्वर होने से अपने को भी नही जानता। उसके लिए दूसरे का ज्ञान तो असम्भव ही है।

यदि ऐसा कहे कि, पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षणो से उत्तरोत्तर विज्ञान-क्षणो की एक ऐसी वासना उत्पन्न होती है, जिससे अन्य विज्ञान उनके विषयो का सत्व क्षणिकता आदि और क्षणिक विज्ञान का भी ज्ञान होता है। इसलिए, वादी का सर्वक्षणिकता ज्ञान विरुद्ध नही हो सकता। इसका उत्तर यह है—"यह वासना भी वासनावाला और वासनीय इन दोनो के मिलकर विद्यमान रहने पर ही हो सकता है—जन्मान्तर लेने के बाद विनष्ट होने पर नही। यदि वास्य-वासक इन दोनो को सयोग मानें तो क्षणिकता असिद्ध हो जायेगी। और, वह वासना क्षणिक मानी जायेगी या अक्षणिक ? यदि क्षणिक मानेंगे तो सर्वक्षणिकता विज्ञान कैसा होगा ? क्योकि, वह स्वय क्षणिक है, वह सभी मे क्षणिकता का ज्ञान नही कर सकता। और, यदि उसे अक्षणिक मानें तो प्रतिज्ञा-हानि होगी।

विज्ञान को यदि क्षणिक मानें तो निम्नलिखित दोष उत्पन्न होंगे—

(१) क्षणनश्वर विज्ञानवादी को तीनो लोक मे रहने वाले सभी पदार्थों के ज्ञान के लिए एक क्षण मे बहुत ज्ञानों का उत्पाद कराना होगा और उन ज्ञानो के आधारभूत रूप मे आत्मा स्वीकार करनी पडेगी। अन्यथा 'यद् सत् तत् सर्वं क्षणिक', 'क्षणिका सर्व सस्कारा.' "निरात्मान सर्वे भावा " आदि सर्वक्षणिकता विज्ञान उपलब्ध नही होगा। और, उस आत्मा के स्वीकार करने पर अपना मत त्याग करना हो जायेगा।

(२) अथवा क्षणिक-विज्ञानवादी को एक विज्ञान के एक काल में समस्त वस्तु ग्राहकता माननी पडेगी, जिससे उसका सर्वक्षणिकता विज्ञान उत्पन्न हो। लेकिन, वह न तो इष्ट है और न दृष्ट है।

(३) अथवा विज्ञान का अनतकाल स्थायित्व स्वीकार करना पडेगा, जिससे वह विज्ञान तद्-तद् वस्तु को देखता हुआ सर्वक्षणिकता को जानेगा।

ऐसा मानने पर विज्ञान सज्ञामात्र विशिष्ट आत्मा ही स्वीकृत होती है। कार्य और कारण को आश्रय करके कार्यप्रवृत्ति होती है। पर, ऐसा नही होगा, क्योकि कारण कार्यवस्था मे रह ही नही सकता है। इस तरह समस्त व्यवहार नष्ट हो जाएँगे।

स्थित (द्रव्यरूपतया) सम्भूत (उत्तर पर्यायेण सम्भूत) च्युत (पूर्व पर्यायेणच्युत) ऐसा विज्ञान मानने से ये सब दोष न होगे। ऐसा होने पर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त शरीर से अन्य—आत्मा को समस्त व्यवहार की सिद्धि के लिए मानो।

और, उसके विचित्र आवरण के क्षयोपशम होने से चित्र रूप से क्षणिक कालान्तर वृत्ति, श्रुति, अवधि, मन पर्याय आदि मति विधान होते हैं। और, केवल-ज्ञान तो एक ही केवल ज्ञान के आवरण के क्षय होने पर होता है। समान ज्ञान के रूप मे मतिज्ञानादि की शृखला नित्य सनातन है। सर्वावरण के नाश होने पर जो केवल-ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनत और अविकल्प है।

यदि जीव शरीर से भिन्न है, तो घट मे प्रवेश करते समय अथवा निकलते समय चटक (गौरैया)-सा दिखलायी क्यो नही पडता ? (इस प्रश्न के उत्तर के रूप मे भगवान् ने कहा) हे गौतम ! अनुपलब्धि के दो प्रकार हैं—(१) खरशृग-सरीखी ऐसी वस्तु जो है ही नही, (२) दूर होने से कोई चीज नही देखी जाती, जैसे स्वर्गादि। और, जीव कर्मानुगत है, वह सूक्ष्म और अमूर्त है। इसलिए उसकी अनुपलब्धि नही माननी चाहिए।

यदि जीव और देह एक ही है, तो वेदो द्वारा निश्चित मोक्ष की कामना से किये जानेवाले अग्निहोत्रादि कर्म सब व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे।

'विज्ञानघन' आदि वेदवाक्य का सही अर्थ तुम्हे नहीं मालूम है। इसलिए, तुम सोचते हो कि शरीर तथा जीव एक ही है। लेकिन, उसका सही अर्थ इस प्रकार है।

जब उनकी शका मिट गयी तो तीसरे गणधर ने भी अपने ५०० शिष्यो सहित दीक्षा ले ली।

(४)

व्यक्त

यह सुनकर कि वायुभूति और उसके साथियो ने दीक्षा ले ली, व्यक्त नामक चौथे पडित तीर्थंकर के पास उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के विचार से गये। भगवान् ने उन्हे देखते ही उनका नाम और गोत्र लेकर उन्हे सम्बोधित किया और कहा—

"व्यक्त, तुम्हें शका है कि भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) हैं या नही। इसका कारण यह है कि तुम वेदवाक्यो[१] का यह अर्थ करते हो कि यह पूरा विश्व स्वप्न अथवा भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नही है। एक ओर जहाँ वेदो में पचतत्वो की स्थिति का विरोध है, वही 'द्यावा पृथ्वी' और 'पृथ्वी देवता आपो देवता' आदि वाक्यो मे इन तत्वो का होना भी स्वीकार किया गया है। वेदो के इन विरोधाभासो से ही तुम्हारे मन में शका उत्पन्न हो गयी है।

"जब तुम्हें स्वत भूतो के ही सबध में शका है, तो जीव-सरीखी वस्तु का क्या कहना है। सभी वस्तुओ मे सशक होने के कारण तुम इस सम्पूर्ण जगत को माया के रूप में मानते हो।

"जैसे ह्रस्व और दीर्घ की सिद्धि स्वत, परत, उभयत और अन्यत.

१—टीकाकार ने सदर्भ के वेदवाक्यो का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित पद दिये हैं —

(अ) स्वप्नोपम वै सकलमित्येष ब्रह्मविधि रञ्जसा विज्ञेय ।

(आ) द्यावा पृथिवी

(इ) पृथिवी देवता आपो देवता .

नही हो सकती है, उसी प्रकार भावो की सिद्धि भी स्वत, परत, उभयत और अन्यत. नही हो सकती है, किन्तु अपेक्षा से होती है। 'अस्तित्व' और 'घटत्व' एक है अथवा अनेक है। यदि एक मानते हैं तो, सर्वैकता-दोष के कारण सब विषय या तो शून्य हो जाएँगे या व्यवहार के विषय न रह जाएँगे।

"जो 'उत्पन्न हो चुका' (जात) है, उसे ऐसा नही कह सकते कि वह 'उत्पन्न होता' (जायते) है और जो 'अजात' हो उसके लिए भी 'जायते' का व्यवहार नही कर सकते, क्योकि यदि इसे स्वीकार किया जाये तो खर-विषाण की भी उत्पत्ति हो जायेगी। जो 'जात' भी हो, और 'अजात' भी हो, उसके लिए भी 'जायते' का व्यवहार नही होगा, क्योकि उसमे उक्त प्रकार के दोनो दोष आते हैं। इसलिए शून्यता सिद्ध हुई।

"किसी वस्तु का निर्माण तब होता है, जब उपादान और निमित्त सब एक स्थान पर एकत्र हो जाते हैं। जब वे पृथक-पृथक कार्यरत रहते हैं, तो क्रिया कभी नही होती।

"किसी वस्तु का पर भाग तो दर्शनगत होता नही और उसका सामने का भाग जो दिखलायी पडता है, वह अति-सूक्ष्म होता है। अत इन दोनो के अदर्शनीय होने से सब भाग की अनुपलब्धि हो जाती है। दोनो की अनु-पलब्धि होने से सभी की अनुपलब्धि मानी जाती है। और, उससे सर्वशून्य हो जाता है।

"हे व्यक्त! भूतो की स्थिति के सम्बन्ध मे शका मत करो। असत् वस्तु में तुम्हारा सशय उचित नही है। जो वस्तु होती ही नही, उसके सम्बध मे आकाश-कुसुम अथवा खरशृग के समान शका सम्भव नही है और जो वस्तु विद्यमान होती है, उसी के सम्बध में शका होती है—जैसे कि पेड का ठूठा अथवा पुरुष!

"ऐसा कोई विशेष कारण नही है, जिससे सर्वशून्यता-काल में स्थाणु और पुरुष के सबध में तो शका हो, पर आकाशकुसुम के सम्बन्ध मे नही। अथवा इसके विपरीत शका क्यो नही होती?

"प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम इन तीन प्रकारो से पदार्थों की सिद्धि होती है। जिनमे इन प्रमाणो की विषयता नहीं है, उनमे संशय ठीक नहीं है।

"संशयादि (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, निर्णय) ज्ञान के पर्याय हैं। वे ज्ञेय से सम्बद्ध ही होते हैं। अत, जब सभी ज्ञेय का अभाव हो, तो संशय के लिए स्थान कहाँ है।

"हे सौम्य ! तुम्हारे संशय-भाव के कारण वे पदार्थ स्थाणु-पुरुष की तरह हैं ही। और, अगर तुम्हारा मत यह है कि, स्थाणु और पुरुष का दृष्टांत असिद्ध है तो संशय का ही अभाव हो जाता है।

"यह मानना ठीक नहीं है कि, सर्वाभाव मे भी स्वप्न की तरह सन्देह उत्पन्न हो जाता है; क्योंकि स्वप्न स्मृति आदि निमित्त के कारण होता है[1]। उनके अभाव मे तो स्वप्न भी नहीं होता।

"अद्भुत, दृष्ट, चिन्तित, श्रुत, प्रकृति-विकार, देवता, सजल प्रदेश, पुण्य और पाप ये स्वप्न के कारण हैं। सर्वाभाव दशा मे स्वप्न भी नहीं होता है।

"विज्ञानमय होने से घट-विज्ञान की तरह स्वप्न 'भाव' है अथवा नैमित्तिक होने से घट की तरह स्वप्न है, क्योंकि 'अनुभूत, दृष्ट, चिन्त्य, इत्यादि उसके निमित्त बताये गये हैं।

"सर्वाभाव की स्थिति मे स्वप्न और अस्वप्न में कैसे अंतर जाना जा सकता है ? यह सच है, यह झूठ है ? गन्धर्वनगर है अथवा पाटलिपुत्र ? तथ्य है या उपचार है ? कार्य है अथवा कारण है ? साध्य है अथवा साधन है ? इनका अंतर कैसे होगा और कर्त्ता-वक्ता और वचन-वाच्य और पर-पक्ष अथवा स्वपक्ष में क्या अंतर रहेगा ?

१—गोयमा ! पंचविहे सुविणदंसणे पण्णत्ते, तंजहा—अहातच्चे, पयाणे, चिंता सुविणे, तव्विवरीए, अवत्तदंसणे।

—भगवती सूत्र सटीक शतक १६, उद्देश. ६, सूत्र ५७८, पत्र १३०४-१

"ऐसी स्थिति में स्थिरता, द्रवता, उष्णता, चलन, अरुचित्व तथा शब्द आदि ग्राह्य कैसे होते हैं, और कान आदि ग्राहक कैसे होगे। समता, विपर्यय सर्वाग्रहण आदि शून्य की स्थिति मे क्यो नही माने जाते ? और, यह समीचीन ज्ञान है अथवा मिथ्या ज्ञान है ? 'स्व', 'पर' और 'उभय'-बुद्धि कैसे होगी ? उनकी परस्पर असिद्धि कैसे हो सकती है। और, यदि इन सब का कारण दूसरे की बुद्धि है तो 'स्व'-बुद्धि, 'पर'-बुद्धि का अतर क्या है ? 'स्व'-भाव और 'पर'-भाव मानने पर सर्वशून्यता की हानि हो जायगी।

"तुम्हारा दीर्घ-ह्रस्व सम्बन्धी विज्ञान युगपत है और क्रमशः हैं। यदि युगपत है तो परस्पर अपेक्षा क्या है ? यदि क्रम से, तो पूर्व मे पर की क्या अपेक्षा ? बच्चे को जो प्रथम विज्ञान होता है, उसमे किसकी अपेक्षा है। जिस तरह दोनो नेत्रो मे परस्पर अपेक्षा नही होती, उसी तरह तुल्य दो ज्ञानो मे भी अपेक्षा नही हो सकती।

"ह्रस्व की अपेक्षा करके जो दीर्घज्ञान होता है, सो क्यो ? दीर्घ की अपेक्षा करके ही दीर्घज्ञान क्यो नही होता। असत्व तो दोनो मे समान ही है। ख-पुष्प से दीर्घ और ह्रस्व का ज्ञान क्यो न हो अथवा असत्व की समानता से ख-पुष्प से ख-पुष्प रूप ही ह्रस्व-दीर्घ ज्ञानादि व्यवहार क्यो न न हो। ऐसा नही होता। इसलिए पदार्थ हैं ही—जगत की शून्यता असत है।

"यदि ससार मे सर्वाभाव ही है तो ह्रस्व आदि को दीर्घादि की अपेक्षा क्यो ? यह अपेक्षा की स्थिति ही शून्यता के प्रतिकूल है। जैसे, घटादि अर्थ की सत्ता। यदि तुम ऐसा कहो कि, स्वभाव से अपेक्षा से ही ह्रस्व-दीर्घ व्यवहार होता है, तो स्व-पर भाव का स्वीकार होने से, शून्यता की हानि हुई। वन्ध्यापुत्र की तरह पदार्थो के स्वभाव का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

"अपेक्षा से विज्ञान, अभिधान हो सकता है—जैसे कि दीर्घ-ह्रस्व। अन्य की अपेक्षा करके वस्तुओं मे सत्ता और आपेक्षिक ह्रस्व-दीर्घत्व आदि धर्मो से रूप-रसादि सिद्ध नही होते।

"यदि घटादि की सत्ता भी अन्य की अपेक्षा से हो, तो ह्रस्वाभाव मे

जिस तरह ह्रस्व का विनाश माना जाता है, उसी तरह दीर्घ का भी सर्व-विनाश माना जायेगा, क्योंकि दीर्घ-सत्ता को ह्रस्वसत्ता की अपेक्षा होती है। लेकिन, ह्रस्वाभाव मे दीर्घ का विनाश देखा नही जाता, इससे यह निश्चय होता है कि, घटादि पदार्थों के सत्ता-रूपादि धर्म अनन्यापेक्ष हैं। यदि यह सिद्ध है तो शून्यता नही रहती।

"अपेक्षण, अपेक्षक, अपेक्षणीय इनकी अपेक्षा किये विना, ह्रस्वादि को दीर्घादि की अपेक्षा नही होती। यदि इनको स्वीकार कर लें, तो शून्यता नाम की कोई चीज नही रह जायेगी। कुछ वस्तुएँ स्वत हैं, जैसे जलद, कुछ वस्तुएँ परतः हैं, जैसे घट, कुछ वस्तुओ की उभय स्थिति है, जैसे पुरुष और कुछ वस्तुएँ नित्य सिद्ध हैं जैसे आकाश। ये सब बातें व्यवहार-नय की अपेक्षा से मानी जाती हैं। वहिर्निमित के आश्रय से निश्चय से सभी वस्तुएँ स्वत होती है। पर, जिस वस्तु का अस्तित्व ही नही है, वह बाह्य निमित्त से भी उत्पादित नही हो सकती, जैसे खर-विषाण!

"घट और अस्तित्व मे एकता है अथवा अनेकता? जैसे घट और अस्तित्व मे एकता है अथवा अनेकता, इसी तरह एकत्व और अनेकत्व रूप पर्याय मात्र की ही चिंता की जाती है। इसमे उन दोनो का अभाव सिद्ध नही होता है। नही तो, यह बात खरशृंग और वन्ध्यापुत्र मे एकत्व-अनेकत्व के साथ क्यो नही लागू होती।

"घट और शून्यता इन दोनो मे भेद है अथवा अभेद। यदि भेद मानते हो तो, हे सौम्य! वह शून्यता घट के अतिरिक्त और क्या है? यदि अभेद मानते हो तो घट और शून्यता एक होने से वह शून्यता घट ही है—न कि शून्यता-नामक घट का कोई अतिरिक्त धर्म।

'यदि विज्ञान और वचन एक माना जाये, तो वस्तु की अस्तिता सिद्ध होने से शून्यता नही मानी जा सकती और भेद मानने पर विज्ञान और वचन को न जाननेवाला अज्ञानी और निर्वचनवादी शून्यता का साधन कैसे कर सकता है?

"घट-सत्ता घट का धर्म है। इसलिए, वह (घट-सत्ता) उससे अभिन्न है। पर, वह पट आदि से भिन्न है। अत जब कहा जाता है कि 'घट है', तो इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि 'और कुछ है ही नही', क्योकि अपनी सत्ता तो पटादि मे भी है ही।

"यह कहने से कि 'घट है', यह अर्थ कहाँ निकलता है कि जो कुछ है, सब घट ही है। या यह कहने से कि 'घट है', यह अर्थ कैसे हो सकता है कि और कुछ है ही नही।

" 'वृक्ष' शब्द से हम 'आम का वृक्ष' अथवा आम से भिन्न 'नीम आदि किसी का वृक्ष' अर्थ लेते हैं। लेकिन, जब हम 'आम का वृक्ष' कहते हैं तो आम के वृक्ष के अतिरिक्त और किसी वृक्ष का ज्ञान नही होता। इसी प्रकार जब हम कहते है कि 'है', तो उससे भाव यह होता है कि घट अथवा घट से भिन्न कोई वस्तु है; लेकिन इसमे 'घट' जोडकर 'घट है', ऐसा कहने से, केवल घट का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

"यदि ऐसा माना जाये कि न तो 'जात', न 'अजात', और न 'जाताजात' उत्पन्न किया जा सकता है, तो प्रश्न है कि 'जात' की जो वुद्धि होती है, वह कैसे होगी ? यदि 'जात' जात (उत्पन्न हुआ) नही है, तो यह विचार खपुष्प के साथ क्यो नही लागू किया जाता।

"यदि सर्वदा जात नही है, तो जन्म के बाद उसकी उपलब्धि क्यो होती है। उसकी उपलब्धि पूर्व मे क्यो नही होती अथवा भविष्य मे उसके नष्ट होने के बाद क्यो नही होती।

" 'शून्यता' चाहे वह जात न हो, जात मान ली जाती है, उसी प्रकार अन्य वस्तुओ को भी हम जात मान ले सकते हैं। और, यदि जात को ही जात नही मानें तो फिर शून्यता कैसे प्रकाशित होगी। शून्यता का अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा।

" 'जात', 'अजात', 'जाताजात' और 'जायमान' अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। कोई वस्तु सर्वथा उत्पन्न नही होती। 'कुम्भ' 'जात' इसलिए होता है

कि उसका रूप होता है। रूपितया जात ही घट उत्पन्न होता है, क्योकि मृद्-रूपिता तो वह पहले से विद्यमान है। 'अजात कुम्भ' इसलिए उत्पन्न होता है कि पहले से उसका वह सथान (आकार-विशेष) नहीं रहता है। और, मृद्रूप तथा आकार विशेष से जाताजात उत्पन्न होता है। जायमान इस कारण से कि वर्तमान मे उसके जायमान होने की क्रिया प्रस्तुत है। पर, जो 'कुम्भ' पहले वन चुका है, वह 'घटता' के कारण 'पट' पर्याय (पटादि रूप) के कारण और उन दोनो से पुन उत्पन्न नही किया जा सकता। और, जो जायमान कुम्भ है वह पटता के कारण जायमान भी नही होता। इसी प्रकार आकाश नही पैदा किया जा सकता, क्योकि वह नित्य 'जात' है। इसलिए, हे सौम्य! कोई वस्तु द्रव्य के रूप में नही उत्पन्न होती। हर वस्तु पर्याय-चिन्ता से जात अजात; जाताजात और जायमान मानी जाती है।

"सब वस्तुएँ सामग्रीमय दीखती हैं। पर, जब सब शून्य ही है तो सामग्री का प्रश्न कहाँ उठता है। तुम्हारा यह कहना विरुद्ध है। अविद्या के वश से हम अविद्यमान को देखते हैं, यह भी नही कहा जा सकता। यदि अविद्यमान को देखने की बात होती, तब तो कछुए की रोम की सामग्री भी देखी जानी चाहिए थी।

"यदि वक्ता सामग्रीमय है और उसका वचन है, तो शून्यता कहाँ रह जाती है। और, यदि उनका अस्तित्व नही है तो फिर बोलता कौन है और सुनता कौन है?

"(विरोधी कह सकता है) "जैसे वक्ता और वाणी नही हैं, तो उसी प्रकार वचनीय (जिन वस्तुओं की हम चर्चा करते हैं) भी नहीं हैं।" यह सत्य है अथवा असत्य? यदि सत्य है तो अभाव की स्थिति नही रहेगी और यदि असत्य है तो फिर तुम्हारा वचन अप्रमाण होता है। और, सर्वशून्यता की स्थिति की सिद्धि नहीं होगी।

"जैसे-तैसे शून्यता प्रतिपादक वचन को स्वीकार करता हूँ, अत हमारे वचन के प्रामाण्य से शून्यता की सिद्धि होगी, यह तुम्हारा मानना ठीक नहीं

है; क्योकि स्वीकार करनेवाले, स्वीकार्य और स्वीकारणीय इन तीनो की सत्ता सिद्ध होने पर ही यह स्वीकृति भी सिद्ध हो सकेगी।

"बालू से तेल क्यो नही निकलता ? तिल मे भी तेल क्यो है ? और, सभी वस्तुएँ खपुष्प की सामग्री से क्यो नही बनती ?

"सब वस्तु सामगीमय है—यह निश्चय नही है; क्योकि 'अणु' 'अप्रदेश' है—स्थान ग्रहण नही करता। तुम्हारे कथनानुसार यदि उसे 'सप्रदेश' (स्थान ग्रहण करनेवाला) मानें, तो तुम्हारी बुद्धि से जहाँ कही निष्प्रदेशतया उसकी स्थिति होती है, वह 'परमाणु' है और वह 'परमाणु' सामग्रीरहित है।

"यह बात परस्पर-विरोधी है कि सामग्रीमय वस्तु का दृश्य है और अणु नही होते या बात यह है कि अणु के अभाव मे वह वस्तु खपुष्प से निर्मित होती है ?

"दृश्य पदार्थ का निकटवर्ती भाग गृहीत होता है, पर अन्य पर भाग की कल्पना से 'नही है' ऐसा आपका कहना ठीक नही। यह बात विरुद्ध है। क्योकि, सर्वाभाव के तुल्य होने पर, गधे की सीग का निकट का भाग क्यो नही दिखायी देता।

"परभाग का दर्शन नही होने से अग्रभाग भी नही है, यह आपका अनुमान कैसा है ? या बात ऐसी है कि अग्रभाग के ग्रहण करने पर परभाग की सिद्धि क्यो नही होगी ?

"यदि सर्वाभाव ही है, तो निकट का, पर का, मध्यभाग का, अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ? और, दूसरो के विचार से ऐसा हो, तो अपने और दूसरो के विचार का अतर कहाँ है ? यदि सामने के, मध्य के और पृष्ठ के भाग की अवस्थिति स्वीकार कर लें, तो शून्यता कहाँ ठहर पाती है। और, यदि न स्वीकार करें, तो खर की सीग की कल्पना क्यो नही होती ? और, सब वस्तुओ के अभाव की स्थिति मे सामने का भाग क्यो दिखायी देता है ? और, पीछे का भाग क्यो नही दिखायी देता ? और, इसका विपर्यय क्यो नही होता ?

"स्फटिक आदि का परभाग भी दिखायी देता है। अत, वे बिना संदेह हैं। और, यदि स्फटिक आदि न माने जायें, पर भाग के अदर्शन से सभी भागों के अनास्तित्व की तुम्हारी बात असिद्ध होगी। यदि ऐसा कहे कि सर्वादर्श ने ही स्फटिक आदि पदार्थ भी नही हैं, तो 'पर भाग के अदर्शन से पदार्थ का अस्तित्व नहीं माना जाता है' वाली तुम्हारी प्रतिज्ञा ग़लत होगी और परस्पर-विरोध होगा।

" अप्रत्यक्ष होने से यदि पर भाग और नही है और उनके न होने पर यदि निकट का भाग भी न माना जायेगा, इसलिए सर्वशून्यता सिद्ध होती है', तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। क्योकि, 'अप्रत्यक्ष' कहने से इन्द्रिय की सत्ता सिद्ध हो जाती है। और, यदि इन्द्रिय की सत्ता सिद्ध हो जाती है, और इन्द्रिय की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं, तो सर्वशून्यता की हानि होती है और अप्रत्यक्षत्व की भी हानि होती है।

"अप्रत्यक्ष होने पर भी कुछ चीजो का अस्तित्व होता है। उदाहरण के लिए, जैसे तुम्हारा संशयादि विज्ञान, दूसरो के लिए अप्रत्यक्ष होने पर भी, है। इसी प्रकार मध्यभाग भी अप्रत्यक्ष होने पर भी सिद्ध माना जायेगा। यदि शून्यता ही नही है, तो वह किसकी मानी जायेगी ? और, वह किसे उपलब्ध होगी ?

"भूमि, जल, अनल आदि वस्तुओ के सम्बन्ध मे तुम्हारी शका उचित नही है, क्योकि वे प्रत्यक्ष हैं। वायु और आकाश के सम्बन्ध में तुम्हारी शका उचित नहीं है, क्योकि वे अनुमान से सिद्ध हैं।

"अदृश्य शक्ति से उत्पादित स्पर्शादि गुणों का कोई-न-कोई गुणी अवश्य माना जाता है जैसे 'रूप' का 'घट'। इसी प्रकार स्पर्श आदि का जो द्रव्य होगा, वह पवन ही है।

"जैसे जल का भाजन घट है, वैसे ही पृथ्वी आदि पदार्थों के भी भाजन हैं। हे व्यक्त! जो इन भूतों का भाजन है, वह भाजन स्पष्ट रूप से आकाश है।

"हे सौम्य ! जीव और शरीर के आधार और उपयोग मे आनेवाले, प्रत्यक्षादि प्रमाणो से सिद्ध, इन भूतो की सत्ता स्वीकार कर लो।

"पूछा जा सकता है कि वे भूत सचेतन कैसे हैं ? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सचेतन है, कारण यह है कि उनमे जीवन के लक्षण दिखलायी पडते हैं। आकाश अमूर्त है। वह जीवन के लिए आधार मात्र है। वह सजीव नही है।

"जन्म, जरा, जीवन, मरण, रोहण, आहार, दोहद, व्याधि और रोग-चिकित्सा आदि से नारी के समान ही वृक्ष भी सचेतन हैं (कुष्माण्डी, वीज-पूरक आदि वृक्षो मे गर्भिणी के समान इच्छा होती है।)

"हे व्यक्त ! स्पृष्टप्ररोदिका-सरीखे पौदे स्पर्श मात्र से कीडो की तरह सिकुड जाते हैं, वल्ली आदि आश्रय की खोज मे फैलती हैं, शमी आदि वृक्षो मे सोने, जागने, सकोचन आदि के गुण होते हैं, और वकुल आदि मे शब्दादि विपय ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है, वकुल, अशोक, कुरवक, विरहक, चम्पक, तिलक वृक्ष शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का उपयोग करते हैं। इसलिए वृक्ष सचेतन हैं।

"तरु, विद्रुम, लवण, पत्थर आदि अपने उद्गम-स्थान पर रहते हुए सचेतन हैं, क्योकि इन वस्तुओ को भी पुन-पुन अकुर निकला करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अर्श आदि की स्थिति मे मास निकल आता है।

"पृथ्वी खोदने से प्राकृतिक रूप मे जल निकलता है अत जल भी वैसा ही सजीव है जैसे मेढक। आकाश से पानी गिरता है। अत वह भी मछली के समान ही सजीव है।

"विला दूसरो से प्रेरणा प्राप्त किये, तिरछी चाल से, अनियमित दिशाओ मे चलने के कारण हवा, गाय की तरह, सचेतन है। अग्नि सचेतन है, क्योकि आहार से उसे वृद्धि-विकार प्राप्त होता है।

"पृथ्वी, जल, तेज और वायु-सरीखे चार भूतो से वना हुई जो शरीर

है, वह बादल आदि से अन्य होने से और मूर्त जाति होने से, यह शरीर तब तक जीवित है, जब तक शस्त्र से वह हत नहीं होती। और, जब शस्त्र से से हत होती है तो वह निर्जीव हो जाती है।

"हे सौम्य! बहुत-से जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। नये जीव का उत्पाद कोई नहीं चाहता। यह लोक परिमित है। अत, इस लोक को आधार करनेवाले थोडे ही स्थूल जीव हो सकते हैं। अत, जिनके मत से पौदे आदि एकेन्द्रिय सचेतन नहीं हैं, उनके मत में सम्पूर्ण जगत का नाश प्राप्त हो जाता है। लेकिन, वह किसी को इष्ट नहीं है। अत, भूत को आधार बनाने वाले अनत जीव सिद्ध होते हैं।

"(विरोधी पूछ सकता है) 'जीवघन' ससार को स्वीकार कर लेने से अहिंसा का अभाव हो जायेगा, क्योंकि उस स्थिति मे सयमी से भी अहिंसा-व्रत का पालन नहीं हो सकेगा। (इसका उत्तर यह है कि) ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा पहले कहा जा चुका है कि, शस्त्र के का आघात से ही जीव निर्जीव होता है। अत केवल यह मान लेने से ही कि 'ससार जीवघन है', हिंसा सम्भव नहीं होती।

"जो घातक है, वह सर्वथा हिंस्र नहीं है और जो घातक नहीं है, वह सर्वथा अहिंस्र नहीं है। जीव थोड़े हो तो हिंसा न हो और अधिक हो तो हिंसा हो, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, बिना हनन किये ही, अपने दुष्टत्व के कारण आदमी शिकारी के समान हिंस्र हो जाता है और दूसरो को पीडा देने पर भी शुद्ध होने से वैद्य हिंस्र नहीं है।

"पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी साधु अहिंसक होता है और जो इनके विपरीत है, वह अहिंसक नहीं होगा। वह सयमी जीव का आघात करे या न करे; लेकिन वह हिंसक नहीं कहलाता, क्योंकि उसका आधार तो आत्मा के अध्यवसाय के ऊपर है।

"जिसका फल अशुभ हो, वह हिंसा है। बाह्य-निमित्त हिंसा अथवा अहिंसा में कारण नहीं है; क्योंकि वह व्यभिचरित है। कोई उसकी अपेक्षा करता है, कोई उसकी अपेक्षा नहीं करता।

"जो जीवघात अशुभ परिणाम का कारण है, अथवा अशुभ परिणाम जिसका कारण है, वह जीवघात हिंसा है। ऐसा तीर्थंकर और गणधर मानते हैं। जिस जीवघात का निमित्त अशुभ-परिणाम नही है, ऐसे जीव वध करने वाले साधु को हिंसा नही होती।

"भावशुद्धि होने से वीतराग साधु के शब्दादि अनुराग उत्पन्न नही करते, क्योकि उसका भाव शुद्ध है। वैसे ही सयमी का जीववध भी हिंसा नही है, क्योकि उसका मन शुद्ध है।"

जब व्यक्त की शंकाओ का समाधान हो गया तो उन्होने भी अपने ५०० शिष्यो के साथ दीक्षा ले ली।

(५)

सुधर्मा

व्यक्त तथा अन्य लोगो के दीक्षा लेने की बात सुनकर सुधर्मा ने भगवान् के सम्मुख जाकर वदन करने का विचार किया। जब सुधर्मा भगवान् के पास आये तो तीर्थंकर ने उनका नाम और उनके गोत्र का नाम लेकर उन्हें सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हारा विश्वास हैं कि इस भव मे जो जैसा है, पर भव मे भी वह भी वैसा ही होता है। लेकिन तुम वेद-पदो[1] का सही अर्थ नहीं जानते।

"तुम्हारा यह विचार है कि जैसे अकुर बीज के अनुरूप होता है। वैसे ही कार्य भी कारण के अनुरूप होता है। इस आधार पर तुम यह मानते हो कि परभव में भी वस्तुएँ इस भव के अनुरूप ही होती हैं। पर, तुम्हारा यह मानना ठीक नहीं है।

---

(१) इन पर टीका करते हुए टीकाकार ने निम्नलिखित वेदवाक्य उद्धृत किया है।

१—पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पाशवः पशुत्वम्'

२—शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते

इनमे प्रथम का अर्थ तुम यह मानते हो कि पुरुष मर कर पर भव मे पुरुषत्व को ही प्राप्त करता है और पशु मर कर पशुत्व को प्राप्त करते हैं। (इनसे पूर्वभव के समान ही दूसरा भव सिद्ध होता है)

और दूसरे का जो पुरीष-सहित जलाया जाता है, वह शृगाल-योनि मे उत्पन्न होता है। (इससे यह स्पष्ट होता है कि दूसरा भव पहले भव से बिलकुल भिन्न होता है)

"शृग से शर नाम की वनस्पति उत्पन्न होती है। और, उस शृंग मे यदि सर्षप का लेप कर दिया जाये, तो भूतृण (सस्य-समुदाय) उत्पन्न होता है और गोलोम तथा अविलोम के सयोग से दूर्वा उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यो के मिश्रण के सयोग से नाना प्रकार की वनस्पतियो की उत्पत्ति का वर्णन वृक्षायुर्वेद और योनिविधान मे है। इसलिए, हे सुधर्मा ! यह कोई नियम नही है कि जिस प्रकार का कारण होता है, उसी प्रकार कार्य होता है।

"वीज के अनुरूप जन्म मानो, तव भी एक भव से भवान्तर मे (जाति, कुल, वल, ऐश्वर्य, रूप आदि) विभिन्न परिणाम वाले जीव को स्वीकार करना पडेगा। भव-रूपी अकुर को उत्पन्न करने वाला बीज-रूपी कर्म विचित्र है। इसलिए कारण की विचित्रता से भवाकुर मे भी वैचित्र होगा। अत, हे सौम्य ! यदि तुमने कर्म को स्वीकार किया और हेतु की विचित्रता होने से उसे विचित्र भी माना, तो ऐसा भी मानो कि उससे उत्पादित उसका फल भी विचित्र होगा।

"और, विचित्र कार्यों के फलरूप होने से यह ससार भी विचित्र है। लोक में जिस तरह भिन्न-भिन्न कार्यों का फल भिन्न-भिन्न होता है, उसी तरह यहाँ इस लोक मे किये गये भिन्न-भिन्न कर्मों का फल परलोक भिन्न-भिन्न होगा। बाह्य (अभ्रादि विकार की तरह) पुद्गल-परिणाम होने के फलस्वरूप कार्यो का परिणाम विचित्र होता है और कर्म के कारणो मे वैचित्र्य होने से कर्म भी विचित्र होते हैं।

"इस भव के समान ही परलोक भी है, इतना यदि तुम मानते हो तो तुम्हे यह भी स्वीकार करना पडेगा कि कर्मफल भी दूसरे भव मे इसी भव के समान ही होगा। इस लोक मे नानागति कर्म करने वाले मनुष्य यदि उसका फल भोगते है तो दूसरे भव मे भी उन्हे उसका फल भोगना पडेगा।

"(यदि विरोधी कहे) कर्म इसी लोक मे फलसहित है, परलोक मे नहीं तव सर्वथा सादृश्य नही होगा। अकृतकर्म फल देगा और कृत कर्म निष्फल

होंगे। या तो कर्म का ही अभाव होगा। कर्म के अभाव में दूसरा भवान्तर कहाँ रह जायेगा। और, उनके अभाव मे सदृश्यता कहाँ रह जायेगी। और, यदि यह मान लिया जाये कि वह भव निष्कारण है तो उसका नाश भी उसी प्रकार निष्कारण होगा।

"तुम्हारा यह कहना है कि कर्म का अभाव मानने मे भी क्या दोष हैं, क्योंकि सब कुछ कारण के अनुरूप घटादि कार्य होते हैं।

"पर, मैं कहता हूँ कि क्या वह स्वभाव निश्चित वस्तु है? अथवा कारण भावरूप है? अथवा वस्तु-धर्म है?

"यदि उसे वस्तु मान लें, तो उसकी अनुपलब्धि होने से आकाशकुसुम के समान वह वस्तु नही मानी जा सकती। और, यदि अनुपलब्ध होने के बावजूद वह 'है', तो कर्म को क्यो न 'है' माना जाये। उनके स्वीकार करने मे तुम जो कारण समझते हो, वह कारण कर्म के साथ भी लागू होगा। यदि कहे कि कर्म का ही नाम स्वाभाव है, तो इसमें क्या दोष होगा? उसे स्वाभाव के नित्य समान रहने मे क्या कारण है?

"वह स्वभाव मूर्त है अथवा अमूर्त? यदि मूर्त है तो वह परिणामी होने से दूध की तरह सर्वथा समान नही होगा। और, यदि अमूर्त है, तो उपकरण के अभाव मे शरीर का कारण नही होगा। अत हे सुधर्मा! इस कारण से भी शरीर अमूर्त नही माना जा सकता; क्योकि उसके कार्य-शरीर आदि मूर्त होते हैं। अमूर्त से मूर्त कार्य उत्पन्न नही होता। और, सुख-दुखादि का ज्ञान होने से वह स्वभाव अमूर्त नही हो सकता।

'यदि (भवान्तर) स्वभाव से उत्पन्न होता है और स्वाभाव अकारण होता हैं, तो सादृश्यता नहीं हो सकती है। और, बिना कारण के निःसदृश्ता क्यो नहीं होती? या विनाश क्यो नहीं हो जाता?

"'वस्तु का धर्म स्वाभाव है' यदि ऐसा माना जाये तो वह स्वाभाव भी सदा सदृश नही माना जा सकता। क्योंकि, वस्तु के उत्पाद, स्थिति और भग पर्याय विचित्र होते हैं।

"हे सुधर्मा ! पुद्गल मय कर्म के परिणाम को ही स्वाभाव कहते हो तो भी जगत का कारण वह स्वभाव विचित्र ही होगा। ऐसा कहे तो कोई दोष नही है। मैं भी इसे मानता ही हूँ, किन्तु मेरा यह कहना है कि वह स्वभाव सर्वदा सदृश नही होता।

"हे सुधर्मा ! आप परभव को एक कैसे कह सकते हैं, क्योकि सभी वस्तुएँ किन्ही पूर्व-पर्यायो से प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न होती हैं, किन्ही उत्तर पर्यायो से नष्ट नही होती हैं और किन्ही पर्यायो से तद्वस्थ रहती हैं। ऐसा होने पर वह वस्तु आत्मा के पूर्व-पूर्व धर्मो से उत्तर-उत्तर धर्मो के सदृश्य नही हैं तो फिर अन्य वस्तुओ की बात क्या ? सामान्य धर्मों से तो सभी त्रिभुवन समान हैं ?

"इस भव में ऐसा कौन है, जो सर्वथा सदृश्य ही है अथवा सर्वथा असदृश्य ही है ? क्योकि सभी वस्तु सदृशासदृश्य है और नित्यानित्य है।

"जिस तरह इस लोक मे युवा अपने भूत-भविष्य बाल-वृद्धादि पर्यायो से सर्वथा समान नही हैं, और सत्तादिरूप सामान्य धर्म से सब समान हैं, उसी तरह परलोक मे जीव भी अपने अतीत-अनागत धर्मों को लेकर भिन्न और सत्तादि सामान्य धर्मों को लेकर सदृश्य माना जा सकता है।

मनुष्य मर कर देवत्व को प्राप्त होता हुआ सत्तादि पर्याय से तीनो जगत का सादृश्य है और देवत्व आदि धर्मो को लेकर विसादृश्य है। इसलिए निश्चित रूप से कही भी सादृश्यता नही है। इसी रूप मे नित्यानित्य की भी बात माननी चाहिए।

"पूर्ण सादृश्यता के फलस्वरूप उत्कर्ष और अपकर्ष की कही गुंजाइश न रहेगी। यहाँ तक कि उसी कोटि मे भी। और, दानादि का फल वृथा होगा।

"शृगालो वै एष जायते" आदि वेदवाक्य और वेद-विहित स्वर्गीय फल

(६)

माण्डिक

यह सुनकर कि पहले गये लोगों ने दीक्षा ले ली, भगवान् का वदन करने के विचार से माण्डिक उनके पास गये। भगवान् ने उन्हें देखते ही उनका और उनके गोत्र का नाम लेकर उन्हें सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हें बन्ध और मोक्ष के सम्बन्धमे शका है। तुम वेदमन्त्रो[1] का सही अर्थ नही जानते।

"तुम्हारा विश्वास है कि जीव का बन्ध-कर्म के साथ सयोग है। तो, वह सयोग आदिमान है अथवा आदिरहित है? यदि आदिमान है, तो

१—टीकाकार ने यहाँ दो मन्त्रो का उल्लेख किया है —

(अ) स एष विगुणो विभुर्व वध्यते संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष वाह्यमभ्मतरं वा वेद"

(आ) "न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोर पहतिरस्ति, अशरीर वा वसन्तं प्रिया-ऽप्रिये न स्पृशात."

वहाँ पर तीन पक्ष उठ जाते हैं। पहला यह कि क्या पहले जीव उत्पन्न होता है और पीछे कर्म ? अथवा क्या पहले कर्म उत्पन्न होता है, पीछे जीव ? अथवा दोनो एक काल मे ही उत्पन्न होते हैं ?

"पहले जीव की और उसके पीछे कर्म की उत्पत्ति होती है, यह कहना ठीक नही है, क्योकि कर्म के पहले जीव की उत्पत्ति खर-शृ ग के समान युक्त नही है। और, यदि कहे कि आत्मा की उत्पत्ति निष्कारण है, तो जिसका जन्म निष्कारण है, उसका विनाश भी निष्कारण होगा।

"यदि कहें कि जीव अनादि है और निष्कारण है तथा कर्म से उसका कोई सम्बन्ध नही होता है, तो उसे निष्कारण मानने पर मुक्त पुरुष को भी जन्म लेना पडेगा और तब तो मुक्ति मे भी कोई विश्वास नही रह जायेगा।

"बन्धाभाव मे यदि वह नित्य मुक्त होता है, तो उसका मोक्ष क्या है ? क्योकि जिसका बन्ध नही होता है, उसकी मुक्ति क्या ?

"यह भी नही कह सकते कि, जीव के पहले कर्म की उत्पत्ति होती है, क्योकि उस समय कर्ता जीव का अभाव होता है। यदि कहें कि कर्म की उत्पत्ति निष्कारण होती है, तो उसका नाश भी निष्कारण ही होगा।

"जीव और कर्म की उत्पत्ति एक काल मे मानने पर, कर्तृ-कर्म-भाव युक्त नही हो सकता। जिस प्रकार लोक मे गाय की दो सींगें एक ही काल मे आती हैं और उनमे कर्तृ-कर्म भाव नही होता।

"यदि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि का मान लिया जाये तो मोक्ष भी उत्पन्न नही होगा। नियम है कि जो अनादि है, वह अनत होता है, जिस तरह आत्मा और आकाश का सम्बन्ध।

"इस तरह युक्ति से वेदो मे बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नही घटती है। अत तुम्हे यह शका हो रही है। जिस रूप मे तुम्हारा यह सशय मिट रहा है, अब मैं उसे कहता हूँ।

'बीज और अंकुर की तरह परस्पर हेतु-हेतुमद-भाव होने से, हे मंडिक! देह और कर्म का सतान अनादिक है।

"ऐसा कोई देह है, जो कि भविष्य के कर्म का कारण है। और, वही अतीत कर्म का कार्य है। इसी प्रकार, कर्म भी ऐसा है, जो कि भावी देह का कारण है और वही अतीत देह का कार्य है। इस तरह अनादि संसार में कहीं विश्राम नहीं है। इसलिए देह और कर्म का सन्तान अनादि है।

"जिस प्रकार घट का कर्ता कुंभकार है उसी तरह कारण होने से जीव कर्म का कर्ता है और उसी प्रकार कारण होने से कर्म देह का कारण है।

"अतीन्द्रिय होने से कर्म कारण नहीं हो सकता, यह तुम्हारा मत ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य से वह कारण सिद्ध हो सकता है और चेतनारब्ध क्रिया रूप होने से कृषि आदि क्रिया की तरह दानादि क्रियाएँ फल वाली होती हैं। उनका जो फल है, वही कर्म होगा। अग्निभूति की तरह तुम भी इसे मान लो।

"सन्तान अनादि होने से अनन्त भी होगा, यह बात नियत नहीं है। क्योंकि, बीज और अंकुर की अनादिता भी अंतवाली देखी जाती है।

"बीज और अंकुर इन दोनों के बीच अन्यतर से असम्पादित कार्य ही जब विहत होता है, तो इन दोनों की सन्तान भी विहत होगी। यही स्थिति मुर्गी और अंडे की भी जाननी चाहिए। जैसे अनादि संतानभाव भी सोना-पत्थर-संयोग उपाय के द्वारा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जीव और कर्म का संयोग भी तप-संयम आदि उपायों के द्वारा नष्ट हो जाता है।

"तो क्या जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होता हुआ जीव और नभ के सम्बन्ध के अनुसार अनन्त है? या वह स्वर्ण और पत्थर के संयोग के अनुरूप सान्त है? इसका उत्तर यह है कि दोनों रूपों का सम्बन्ध विरुद्ध नहीं है। अनादि-अनन्त रूप जो पहला है, वह अभव्यों में होता है और स्वर्ण और पत्थर की तरह जो अनादि और सान्त है, वह भव्यों का जानना

चाहिए। क्योंकि, जीवत्व की समानता होने पर, 'यह भव्य है', और 'यह अभव्य है' का व्यवहार क्यो होता है ?

"जीव और आकाश मे द्रव्यत्व तुल्य होने पर भी, जिस तरह स्वभावत भेद माना जाता है और जीव तथा अजीव मे द्रव्यत्व तुल्य होने पर भी जिस तरह उनमें स्वभावत भेद माना जाता है, उसी तरह भव्य और अभव्य मे भी स्वभावत भेद मानना चाहिए।

"यदि जीवो का भव्याभव्यत्व विशेष कर्मकृत मानते हैं तो नारकादि भेद की तरह इसमे कोई भेद नही रहता है। लेकिन, यह बात नही है। जीव स्वभावत. भव्याभव्य होते हैं, कर्म से नही। मेरे ऐसा कहने पर तुम्हे सन्देह हो रहा है।

"यदि जीवत्व के समान भव्य-भाव भी स्वाभाविक हो तो वह भी जीवत्व के समान नित्य होगा। भव्य भी नित्य होगा तो मोक्ष की कोई गु जाइश न रह जायगी।

"जैसे घट का प्राग्भाव अनादि स्वभाव होता हुआ भी सात माना जाता है, उसी प्रकार उपाय से भव्यत्व का भी अत मान लें तो क्या दोष होगा ?

"(तुम ऐसा कह सकते हो कि) प्राग्भाव का उदाहरण नही मान सकते, क्योकि वह तुच्छ है और जो तुच्छ होता है, वह उदाहरण के योग्य नही होता, जैसे खर-विषाण। पर, बात ऐसी नही है। कुभ का प्राग्भाव अभाव नही; किन्तु वह भाव-रूप ही है, केवल घटानुत्पत्ति भाव से विशिष्ट है।

"जिस तरह धान्य को निकाल देने पर कोष्ठागार शून्य होता है, उसी प्रकार यह ससार भी भव्यो से शून्य हो जायेगा, आपका यह कहना ठीक नही है। अनागत काल और अम्बर की तरह।

"'अतीत और अनागत काल तुल्य ही है, अत भव्यो का अतीत काल के साथ एक अनत भाग ससिद्ध होता है। उसी तरह यह बात आने वाले काल

के साथ भी उतनी ही युक्त है। इससे भी सभी भव्यों का समुच्छेद युक्त नही होगा। यह किस प्रकार सिद्ध होगा? भव्यो का अनन्तत्व अथवा अनत भाग कैसे मुक्त होगा?' यह तुम्हारा मत ठीक नही है। हे मडिक! मेरा वचन होने से कालादि की तरह तुम इनको भी स्वीकार कर लो।

"ज्ञायक मध्यस्थ के वचन के समान और अतिरिक्त वचनो के समान मेरे वचन से, मेरी सर्वज्ञता आदि से तुम इसे सत्य मान लो। अगर तुम पूछो कि मैं 'सर्वज्ञ' कैसे हूँ, तो इसका उत्तर यह है कि मैं सब की शंकाओ का निवारण करता हूँ। दृष्टांत के अभाव होने पर, जिसको जो संशय हो, वह मुझसे पूछ सकता है।

"तुम पूछ सकते हो कि, भव्य होने पर भी कितने जीव ऐसे हैं, जो समस्त काल में भी मोक्ष प्राप्त नही करते। उन्हें अभव्य कहा जाये अथवा भव्य?

"इसका उत्तर यह है कि भव्य को मोक्षगमन योग्य कहा जाता है; परन्तु योग्यत्व से सभी भव्य मोक्ष प्राप्त नही कर पाते, जैसे स्वर्ण, मणि, पाषाण, चन्दन, काष्ठादि दलिक (अवयव) प्रतिमा योग्य हैं; पर उनके सभी खण्डो से प्रतिमा नही बनती, किन्तु जिनमे प्रतिमा बनने योग्य सामग्री होती है, उसी से वह बनायी जाती है।

"जैसे कि पत्थर और सोना का योग, वियोग के योग्य होने पर भी उनमे सब का पृथक्करण नही होता है, केवल उनका होता है, जिनकी सम्प्राप्ति होती है और मैं इतनी दृढता के साथ कहता हूँ कि वियोग-सामग्री की प्राप्ति वियोग योग्य स्वर्ण-पाषाण का ही होता है, दूसरे का नही। उसी तरह सर्व-कर्म क्षयरूप मोक्ष नियमत भव्यो को ही होता है। अन्य अभव्यो को नही। इस रूप मे भव्याभव्य की व्यवस्था हो सकती है।

"तुम कहोगे कि कार्य होने से कुभ की तरह मोक्ष नित्य नही हो सकता है। यहाँ तुम्हारा हेतु व्यभिचरित है, क्योकि कार्य होने पर भी प्रध्वसाभाव सभी वादियो से नित्य माना जाता है, अन्यथा फिर से घट की उत्पत्ति हो जायेगी। तुम कहोगे कि आपका यह उदाहरण ठीक नही है, क्योकि अभाव कोई वस्तु नही है। यह तुम्हारा कहना ठीक नही है, क्योकि प्रध्वसाभाव भी पूर्वकथित प्राग्भाव की तरह कुभ विनाश-विशिष्ट पुद्गलमय भाव ही है।

"पुद्गल मात्र के विनाश होने से नियमत

"अनपराध व्यक्ति के समान मुक्त (जीव) वधन के कारणो के अभाव मे कभी वद्ध नही होता। (मन, वचन, काम के भोग आदि वध के कारण वताये जाते हैं) शरीर आदि के अभाव में वे मुक्त के नही होते।

"विना वीज के अकुर के समान उसका पुनर्जन्म नही होता, क्योकि कर्म ही उमका बीज है। वह कर्ममुक्त को हैं ही नही। इसलिए पुनरावृत्ति के अभाव मे वह मोक्ष नित्य है।

"ऐसा तुम ऐसा कहो कि, द्रव्यमूर्तत्व से वह आकाश के सामान सर्वगामी हो जायेगा, तो यह नही कह सकते, क्योकि सर्वगतत्व का अनुमान से वाध हो जाएगा, (असर्वगत आत्मा कृत्वात् कुलालवत्)।

"मोक्ष के नित्य मानने का आग्रह ही क्या ? क्योकि सभी वस्तुएँ उत्पत्ति, विनाश और स्थितिमय होती है। पर, केवल अन्य पर्याय से अनित्यादि व्यवहार होता है। (जिस तरह 'घट' 'मृतपिण्ड' पर्याय से विनष्ट है, 'घट' पर्याय से उत्पन्न है और 'मिट्टी' पर्याय से स्थित है। ऐसी दशा मे जव जो पर्याय प्रधानतया विवक्षित होता है, उससे अनित्यत्वादि व्यवहार होता है।

"उसी तरह यह मुक्त भी 'ससार'—पर्याय से विनष्ट है और 'सिद्ध'—पर्याय से उत्पन्न और जीवत्व तथा उपयोग आदि पर्याय से स्थित होगा।'

"तुम पूछोगे कि समस्त कर्मरहित जीव का स्थान कौन-सा होगा। हे

सौम्य ! लोकांत ही उसका स्थान माना जाता है। 'कर्मरहित होने से चेष्टा के अभाव मे आत्मा का लोकात मे जाना असम्भव है।' यह तुम नहीं कह सकते, क्योकि कर्म के नष्ट होने पर आत्मा को—सिद्धत्व की तरह—अपूर्व गति परिणाम का लाभ हो जाता है।

"तुम पूछोगे कि (आकाश, काल आदि अमूर्त को निष्क्रिय मानते हैं तो फिर) अमूर्त आत्मा को सक्रिय नही मान सकते (और सक्रिय न मानने पर उसकी गति असिद्ध हो जायेगी) तो इस पर मैं कहता हूँ—हे मण्डिक ! तुम्हीं यह बतलाओ—क्या भूलोक में अरूप वस्तु चेतन देखने में आती है, जिससे मुक्तात्मा को चेतन मानते हो अर्थात् अमूर्त होने से आकाश की तरह आत्मा को भी अचेतन ही प्राप्त हो जायेगा। जैसे आत्मा को अमूर्तत्व से आकाशादि की समता होने पर भी चैतन्यरूप एक विशेष धर्म भी माना जाता है, उसी तरह क्रिया भी मानी जायेगी।

"आत्मा सक्रिय माना जा सकता है, जैसे कि अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण कुम्भकार माना जाता है। वह यंत्र-पुरुष के समान सक्रिय है, क्योकि उसके शरीर का परिस्पन्द होता है।

"(तुम्हारा यह विचार हो सकता है कि) आत्मा के प्रयत्नो के फलस्वरूप देहस्पन्दन होता है; लेकिन अक्रिय आत्मा के साथ यह बात नही घटती है (या यह माना जा सकता है कि आत्मा के मूर्तमान होने पर वह कार्मण-शरीर ही कहलायेगा दूसरा नहीं और उसके स्पन्दन का कुछ कारण मानना पड़ेगा।) उसका भी दूसरा कारण, और उसका भी दूसरा कारण मानने से इस तरह अनवस्था हो जायेगी। चेतन वस्तु का, सम्भवत. प्रतिनियत प्रति-स्पन्दन ठीक नहीं।

"तुम कहोगे कि 'जो कर्मरहित है, उसकी क्रिया कैसे होगी', इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जीव सिद्धत्व को प्राप्त करता है, उसी तरह कर्मगति के परिणाम से उसमें क्रिया भी होती है।

"प्रश्न पूछ सकते हो कि, गति के कारण यदि मुक्तात्मा भी सक्रिय है तो वह सिद्धालय से भी परे क्यो नही जाता। इसका उत्तर यह है कि वह सिद्धालय से परे नही जा सकता, क्योकि वह धर्मस्तिकाय—जो गति को रोकनेवाला है—लोक मे ही है, अलोक मे नही। इसलिए सिद्धो की गति अलोक मे नही होती।

'जिस तरह शुद्धपद का अर्थ होने से 'घट' का विपक्ष 'अघट' माना जाता है, उसी तरह लोक का भी विपक्ष अलोक माना जायेगा। तुम कहोगे कि 'अलोक'-पद से घट-पटादि का ग्रहण क्यो नही होता, क्योकि वे भी तो लोक से भिन्न हैं। पर, तुम ऐसा नही कह सकते, क्योकि अलोक पद मे 'नञ्' प्रत्यय प्रसज्ज अर्थ मे नही है, किन्तु पर्युदास है। अत, उसका विपक्ष अर्थ भी अनुरूप ही लेना चाहिए।

"लोक-परिच्छेद के कारण धर्माधर्म को मानना आवश्यक है अन्यथा आकाश को साधारण होने पर 'अय लोक', 'अयचालोक' यह लोक और अलोक का व्यवहार कैसे होगा। और, यदि लोक-विभाग न होगा तो प्रतिघात के अभाव से और अनवस्था होने से अलोक मे भी गमन होने से जीव और पुद्गलो का परस्पर सम्वन्ध नही होने से जीवो का वध, मोक्ष, सुख, दु ख, भव, ससरण आदि व्यवहार नही होगे।

"जिस तरह जल से ऊपर मछली की गति नही होती, उसी प्रकार गति मे अनुग्रह करनेवालो के अभाव से जीव और पुद्गलो की, लोक के वाहर, अलोक मे गति नही होती। गमन में जो अनुग्रह करनेवाला है, वह धर्मस्तिकाय लोक-परिणाम ही है।

"जैसे ज्ञान ज्ञेय का परिमाणकारी (मापनेवाला) है, उसी प्रकार धर्मस्तिकाय लोक का परिमाणकारी है। लोक का परिमाणकारी तभी हो सकता है, जव कि अलोक का अस्तित्व माना जाये।

"'सिद्धो का स्थान' में जो षष्ठी विभक्ति है, वह कर्ता अर्थ मे लेना चाहिए। अर्थात् 'सिद्ध कर्तृक स्थान' अर्थात् सिद्धो का रहना, ऐसा उसका

अर्थ होता है। इससे सिद्ध और उसके स्थान का भेद नहीं पर अभेद विवक्षित है। अर्थात् सिद्ध और सिद्ध के स्थान में कोई भेद नहीं है। वहाँ से उसका पतन नहीं होता।

"यदि उसका अर्थ 'स्थान' करें भी, तो भी सिद्ध का पतन नही होगा; क्योंकि उसका स्थान आकाश ही होगा। वह तो नित्य है। उसका विनाश नही होता। अत, मुक्त का पतन नहीं होगा। पतनादि क्रिया का कारण कर्म है। मुक्त को तो कर्म का अभाव है, फिर उसकी पतन-क्रिया कैसे होगी?

"यदि नित्यस्थान से पतन स्वीकार कर लें, तो व्योमादि का भी पतन सिद्ध होगा और यदि उसे उस रूप में न माने तो 'स्थान से पात' यह स्ववचनविरुद्ध होगा।

"ससार से ही सभी मुक्तात्मा सिद्ध होते हैं, अत. सभी सिद्धो मे कोई पहला सिद्ध माना जायेगा? जिस तरह काल के अनादि होने से प्रथम शरीर नहीं जाना जा सकता, उसी तरह काल के अनादि होने से पहला सिद्ध भी नहीं जाना जा सकता।

"सिद्धक्षेत्र के परिमित होने पर उसमे अनत सिद्ध कैसे रहेंगे? इसका उत्तर यह है कि वे अमूर्त होते हैं और अपने एक ही आत्मा में ज्ञानादि अनत गुणो की तरह अमूर्त होने से परिचित देश मे भी अनन्त सिद्धो का अवस्थान माना जा सकता है।

"तथ्य यह है कि तुम्हें वेदवाक्य 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोर पहति' का सही अर्थ नहीं ज्ञात है। इसलिए बंध और मोक्ष के संबंध मे तुम्हें शका हो गयी है। वह तुम्हारी शका ठीक नहीं है। सशरीरता ही बंध है और अशरीरता ही मोक्ष है, यह बात प्रकट है।

इस प्रकार शका-निवारण हो जाने पर मडिक ने अपने ४५० शिष्यो के साथ दीक्षा ले ली।

(७)

मौर्य

यह सुनकर कि उनके पूर्व जाने वालो ने दीक्षा ले ली, तीर्थंकर भगवान् के पास उनकी वदना करके उपासना करने के विचार से मौर्य गये । उन को सम्मुख पहुँचा देख कर, भगवान् ने उनका नाम और गोत्र कह कर सम्बोधित किया और कहा—"तुम क्या विचार कर रहे हो । तुम्हे शका है कि देव हैं या नही ? तुम्हे वेदवाक्यो[१] का सही अर्थ नही मालूम । उनका अर्थ इस प्रकार है ।

टीकाकार ने इस सदर्भ में देवास्तित्व बतलाने के लिए निम्नलिखित वेद-वाक्य दिये है —

(१) स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोक गच्छति

(२) अपाम सोमंअमृता अभूम अगमन् ज्योतिरविदाम देवान् किं नूनमस्तात् तृणवदरातिः किमु मूर्तिमतृतमर्त्यस्य.

देवो के अभाव को बतलाने वाला निम्नलिखित वेद वाक्य है

(३) को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान्द्रि-यम-वरुण कुबेरादीन्...

इन वेद वाक्यो का अर्थ तुम यह लगाते हो ।

(१) "स एष यज्ञायुधी....' वह यज्ञ ही दूरितवारण क्षय (पापो को दूर करने मे समर्थ) आयुध वाला यजमान अनायास स्वर्गलोक को जाता है ।

(२) "अपाम सायममृता..." हम लोग सोम लता रस को पी लिए । न मरने वाले हो गये और स्वर्ग को प्राप्त हो गये । देवत्व को प्राप्त हो गये । हम लोगो से ऊपर की तृणवत् व्याधि क्या करेगी । अमृतत्व प्राप्त पुरुष के लिए जरा-व्याधि आदि कर सकते हैं ?

(३) माया के तुल्य इन्द्र यम वरुण कुबेर आदि देवो को कौन जानता है ।

"तुम मानते हो कि नारक तो परतत्र हैं और दुःखी होने से हमारे सम्मुख नही आ सकते। अत सुनकर ही उनके विषय मे विश्वास किया जा सकता है, परन्तु देवता तो स्वच्छदचारी और दिव्य प्रभावयुक्त होते हैं। पर, इतने पर भी वे दृष्ट नही होते। इसलिए देवो के विषय मे तुम्हें सशय होता है।

"पर, मनुष्य से सर्वथा भिन्न जाति वाले देवो के सम्बन्ध मे तुम शका मत करो। तुम को यदि देखना ही है तो (मेरी वदना के लिए इसी सम-वसरण मे आये हुए भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक) चार प्रकार के देवो को प्रत्यक्ष देखो।

"पर, इसके पहले भी तुम्हे सशय नही करना चाहिए, क्योकि सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव तो प्रत्यक्ष ही दिखते हैं। कुछ देवो के प्रत्यक्ष हो जाने पर सभी देवो के विषय मे अस्तित्व की शका क्यो? और, लोक मे देव-कृत अनुग्रह और उपघात भी तो देखे जाते हैं।

"तुम्हारा मत है कि (सूर्य चन्द्रादि विमान) शून्य नगर की तरह आलय मात्र ही हैं। इसका उत्तर यह है कि उनमे रहने वाले सिद्ध ही देव माने जायेंगे, क्योकि आलय सर्वदा के लिए शून्य कभी नही होते।

"तुम कहोगे कि 'कौन जानता है कि वह क्या होगा?' वे निःसशय विमान ही हैं, क्योंकि वे रत्नमय हैं और नभोगामी हैं—जैसे विद्याधरो आदि देवो का विमान।"

"तुम यह सब कह सकते हो कि 'यह सब माया है,' तो उस माया को भी जो करने वाले होंगे, वे देवता ही होंगे। और, यह सब माया मात्र नहीं है। यदि माया मात्र ही होते तो नगर की तरह सर्वदा उनकी उपलब्धि न होती।

"यदि बहुत पाप का फल भोगने वाले को तुम नारकीय मानते हो, तो बहुत पुण्य के फल का भोग करने वालो को तुम्हे देव मानना चाहिए।

"वे देवता दिव्य प्रेम मे लगे हुए रहते हैं, विषय मे फँसे रहते है, उनके कर्तव्य असमाप्त रहते है और मनुष्यो के कार्य उनके आधीन नही होते। अत वे मनुष्यो के अशुभ भव मे नही आते।

"जिन के जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण के समय कुछ देवो को कर्तव्य समझ कर जगत मे आना पडता है। कुछ भक्तिवश आते हैं। हे सौम्य ! कुछ सशयविच्छेद की दृष्टि से आते हैं, कुछ पुर्वानुराग से आते हैं, कुछ समय-निबन्ध (प्रतिबोधादि निमित्त) से आते हैं, कुछ तपोगुण से आकृष्ट होकर आते हैं, कुछ नर को पीडा पहुँचाने आते है, कुछ अनुग्रह करने आते हैं और कुछ देव कदर्प (काम) आदि के साथ (साधुओ की परीक्षा के लिए) आते हैं।

"हे सौम्य देवताओ की स्थिति निम्नलिखित स्थितियो से, सिद्ध हो सकती है —

(१) जातिस्मरण ज्ञान वाले पुरुष के कथन से (२) तप प्रभृति गुणो से युक्त व्यक्ति के देवताओ के प्रत्यक्ष दर्शन से (३) विद्यामत्र की सिद्धि से (४) ग्रहविकार से (५) उत्कृष्ट पुण्य का फल मिलने से (६) अभिधान सिद्धि से ('देव' नाम पडने से) (७) सभी आगमो मे बताये जाने से।

अत 'देव हैं', ऐसी श्रद्धा तुम्हे करनी चाहिए।

"जैसे 'घट' शब्द का कुछ अर्थ होता है, इसी प्रकार 'देव' शब्द भी सार्थक होने से किसी-न-किसी अर्थ को अवश्य बतायेगा। उसका जो अर्थ है, वह देव है। कुछ लोग कहेगे कि, गुण ऋद्धि आदि से युक्त मनुष्य ही देव है, अदृश्य देव की कल्पना ही क्यो की जाये ? पर, ऐसा नही हो सकता। मुख्य वस्तु के कही सिद्ध होने पर ही उसका उपचार होता है। मुख्य सिंह के कही होने पर ही, बटु मे उसका उपचार किया जाता है।

(८)

अकम्पित

यह सुनकर कि मौर्यपुत्र आदि ने दीक्षा ले ली, आठवें गणधर अकम्पित भगवान् की वन्दना करने के विचार से भगवान् के पास आये। भगवान् ने उन्हें देखते ही, उनके नाम और गोत्र का उच्चारण करके उन्हें सम्बोधित किया और कहा कि—"तुम्हें शंका है कि नरक में रहने वाले लोग हैं या नहीं? लेकिन, तुमने वेदमन्त्रों का सही अर्थ नहीं समझा है। विरुद्ध वेद[1] पदों के सुनने से तुम्हें शंका हो गयी है।

"तुम ऐसा मानते हो कि चन्द्रादि देव प्रत्यक्ष हैं और विद्यामन्त्रादि द्वारा फल की सिद्धि करने वाले अन्य देव भी माने जा सकते हैं। पर, नारकों की

१—यहाँ टीकाकार ने दो पद किये हैं।

(अ) 'नारको वै एष जायते य शूद्रान्नमश्नाति...' अर्थात् जो ब्राह्मण शूद्रान्न को खाता है, वह नारकीय होता है।

(आ) 'न ह वै प्रेत्या नारका सन्ति...' अर्थात् मर की कोई नारकी नही होते।

तो केवल चर्चा सुनी जाती है। प्रत्यक्ष और अनुमान से भी न उपलब्ध होने वाले (तिर्यक्, नर, अमर से सर्वथा भिन्न) देवताओ से भिन्न नारकीय कैसे माने जायेंगे ?

"नारको को भी जीव आदि के समान मान लो। वे मुझे प्रत्यक्ष हैं। क्या ऐसी बात है कि, जो स्वय को प्रत्यक्ष हो, वही है और जो दूसरो की प्रत्यक्ष हो, वह है ही नही ! जो चीज किसी एक को भी प्रत्यक्ष होती है, उसे सम्पूर्ण जगत प्रत्यक्ष मान लेता है। जैसे सिह सब को प्रत्यक्ष न होने पर भी लोग उसे मान लेते हैं।

"या इन्द्रियो द्वारा जो प्रत्यक्ष हो, क्या वही प्रत्यक्ष है ? उपचार मात्र से वह प्रत्यक्ष है। परन्तु तथ्य तो इन्द्रियातीत है।

"इन्द्रियाँ घट के समान मूर्त (अचेतन) हैं। अत वे उपलब्धि (ज्ञान) के लिए अशक्य हैं। इन्द्रियाँ तो केवल उपलब्धि मे द्वार हैं। और, ज्ञान करने वाला तो जीव है।

"जैसे कि पाँच खिडकियो से पाँच वस्तुओ को देखने वाला व्यक्ति पाँचो खिडकियो से भिन्न माना जाता है, उसी प्रकार जीव इन्द्रियो से भिन्न है। इन्द्रियाँ जब कार्यरत नही होती, उस समय भी स्मरण मे, जीव उपलब्ध कर सकता है। और, यदि जीव ही अन्यमनस्क हो, तो इन्द्रियो के कार्यरत रहने पर भी कुछ ग्रहण नही होता।

"सभी आच्छादनो के नष्ट हो जाने पर, इन्द्रिय-रहित जीव, अधिक वस्तुओ को जानता है, जैसे कि घर से बाहर आया हुआ व्यक्ति घर में रहने वाले की अपेक्षा अधिक पदार्थो को देखता है।

"जिस तरह कृतकत्व हेतु से, केवल घट मे अनित्यता की सिद्धि होती है, उसी तरह चक्षुरादि इन्द्रिय के शक्ति-विशेष रूप-धर्म से अनंत धर्म वाले वस्तु के केवल रूपादि एक धर्म मात्र का ज्ञान होता है।

"पूर्वोपलब्ध सम्बन्ध के स्मरण से, जिस प्रकार धुएं के द्वारा अग्नि

का ज्ञान होता है, उसी तरह अन्य निमित्त से इन्द्रिय जीवात्मा के ज्ञान मे निमित्त मात्र है।

"केवल-ज्ञान मन-पर्याय-ज्ञान, और अवधिज्ञान से रहित आत्मा के सभी ज्ञान अनुमान मात्र ही हैं। वस्तु के साक्षात्कार करने से, केवलादि तीनो ज्ञान प्रत्यक्ष माने जाते हैं। नरक को सिद्ध करने मे, जब प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो प्रमाण हैं, तब नारको का अस्तित्व न मानना ठीक नहीं है।

"प्रकृष्ट फल के भोगने वालो को जिस तरह 'देव' कहते हैं, उसी तरह प्रकृष्ट पाप के फल को भोगने वाले को 'नारकी' कहा जा सकता है। यदि तुम्हारी ऐसी मति हो कि जो अत्यन्त दु खी हैं, उन तिर्यंच और पक्षियो को ही नारकी कहा जाये तो यह ठीक नही होगा, क्योकि जिस तरह देवता लोग प्रकृष्ट पुण्य फल का उपभोग करने वाले होते हैं, उस तरह प्रकृष्ट पाप के फल प्रकृष्ट दु ख के भोक्ता भी होगे ही।

"हे अकम्पित! मेरा वचन होने से, अन्य वातो की तरह इस वात को भी सत्य मानो। तुम जिसे सर्वज्ञ मानते हो और उनके वचन को जिस रूप मे तुम सत्य मानते हो उसी प्रकार मेरे वचन को भी सत्य मानो, क्योकि मैं भी सर्वज्ञ हूँ।

"मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सत्य अव्यभिचारी है, क्योकि मैं भय, राग, द्वेष, मोह आदि से मुक्त हूँ। इसलिए तुम मेरे वचन को ज्ञायक मध्यस्थ की तरह सत्य समझो।

"तुम पूछ सकने हो कि आपको सर्वज्ञ क्यो मानूँ, तो इसका उत्तर यह है कि मैं समस्त शकाओं का निवारण करता हूँ और भय, राग आदि दोषो से मुक्त हूँ।"

"इस प्रकार शका के निवारण हो जाने पर अपने ३०० शिष्यो के साथ उन्होने दीक्षा ले ली।

अचलभ्राता

अन्य लोगो के दीक्षा लेने की बात सुनकर, अचलभ्राता वन्दना करने के विचार से तीर्थंकर महावीर स्वामी के पास गये। भगवान् ने उन्हे भी नाम और गोत्र का उच्चारण करके सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हें शका है कि पाप और पुण्य हैं या नही। लेकिन तुम्हे वेदवाक्यो[१] का सही अर्थ ही ज्ञात नही है। इसलिए तुम्हे सशय हो रहा है।

"पाप-पुण्य के सम्बन्ध मे पाँच मत है —

(१) 'पुण्यमेवैकमस्ति न पापम्'—केवल पुण्य ही है, पाप नाम की कोई वस्तु नही है।

(२) 'पापमेवैकमस्ति न तु पुण्यम्'—केवल पाप ही है, पुण्य नाम की कोई वस्तु नही है।

(३) उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपं मेचकमणिकल्प संमिश्रसुख-दु खाख्यफलहेतुः साधारणं पुण्यापापाख्यमेकं वस्तु'—पुण्य-पाप नाम की एक वस्तु मेचकमणि की तरह परस्पर अनुविद्ध-स्वरूपवाली और मिश्रित सुख-दु ख फल को देनेवाली है।

(४) 'स्वतंत्र उभयं'—पुण्य और पाप एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है।

(५) 'मूलतः कर्मैवनास्ति, स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपचः'—मूल रूप मे कर्म ही नही है। यह सब स्वभावत होता है और यह सब पुण्य-पाप जगत के प्रपच हैं।

१—यहाँ टीकाकार निम्नलिखित वेदपद का उल्लेख किया है .—

"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वम्. ."

"तुमने पाँचो कारण सुन लिये। तुम पाँचो के सशयरूप दोला पर आरूढ हो। और, इस प्रकार पाप-पुण्य के सम्बन्ध मे शकाशील हो।

"पुण्य के उत्कर्ष से तरतम योग वाली शुभता होती है और उसके अपकर्ष से (शुभता की) हानि होती है। पथ्याहार की तरह, जब पुण्य का पूर्ण क्षय हो जाता है, तो मोक्ष मिलता है। (जिस तरह पथ्याहार की वृद्धि मे आरोग्य की वृद्धि होती है, उसी तरह पुण्य की वृद्धि से सुख की वृद्धि होती है। जिस तरह पथ्याहार के क्रमश त्याग मे सरोगता होती है उसी तरह पुण्य के अपचय मे दु ख की उत्पत्ति होती है। और, जिस तरह सर्वथा पथ्याहार छोडने से मृत्यु होती है, उसी तरह सर्वथा कर्म-क्षय होने पर जीव का मोक्ष होता है—अर्थात् वह मर जाता है।)

"जैसे क्रमश अपथ्य बढाने से रोग की वृद्धि होती है, उसी तरह पाप की वृद्धि मे दु ख बढता है, और अत्यन्त पाप के बढ जाने पर नारक-दु ख होता है। जिस तरह अपथ्य के त्याग से क्रमश. आरोग्य-वृद्धि होती है, उसी तरह क्रमश पाप की कमी से सुख की वृद्धि होती है। एकदम कमी होने पर देवलोक का सौख्य होता है। और, जिस तरह अपथ्याहार के सर्वथा परित्याग से परम आरोग्य उत्पन्न होता है, उसी तरह सर्व पापक्षय होने से मोक्ष होता है।

"पाप और पुण्य ये दोनो स्वतन्त्र नही हैं—दोनो एक दूसरे से सयुक्त हैं। और, उनके अपकर्ष अथवा उत्कर्ष से वे पाप-पुण्य के नाम से कहे जाते हैं।

"इसी प्रकार कुछ ऐसा मानेंगे कि वे एक दूसरे से भिन्न हैं। और, इस जगत की उत्पत्ति स्वभाव से होती है, (इसका उत्तर यह है कि) जगत की उत्पत्ति स्वभाव से होती है, यह मानने योग्य नही है। वह स्वभाव कोई वस्तुरूप है, निष्कारणता है या वस्तुधर्म है? यदि (उसे वस्तुरूप माने) तो आकाश-कुसुम के समान अनुपलब्ध होने से वह है ही नही।

"यदि वह अत्यन्त अनुपलब्ध है, तो स्वभाव क्यो कहा जाता है? 'कर्म'

क्यो नही ? स्वभाव के होने मे तो हेतु लागू होता है, वह कर्म मे भी लागू होता है। तो फिर कर्म और स्वभाव को समानार्थी माने तो क्या दोष है ? और, प्रतिनियत आकारवाला होने से 'घट' की तरह वह कर्ता नहीं होगा। उस स्वभाव को मूर्त कहेगे अथवा अमूर्त ? यदि मूर्त कहे तो नाम मात्र से ही होगा। यदि अमूर्त कहे तो वह ठीक उसी प्रकार कर्ता नही होगा, जिस तरह देहादि का कर्ता आकाश नही माना जाता। लेकिन, कार्य होने से उसको मूर्त ही मानना पडेगा और यदि मूर्त मानें तो भेद नाममात्र से रह जायेगा।

"और यदि स्वभाव निष्कारणता है, तो कारण की अपेक्षा नही होने से खरशृंग भी हो जाये।

"यदि उसे वस्तु-धर्म रूप में मानें तो वह कारण-कार्य से अनुमेय पुण्येतर नाम का कर्म और जीव का परिणाम-रूप माना जायेगा।. कारण होने से और देहादि के कार्य होने से, तुम भी अग्निभूति की तरह मेरे द्वारा वतलाये गये कर्म को मानो और देहादि तथा क्रियाओ की शुभाशुभता से स्वभावत. भिन्न जातीय पुण्य-पाप को भी मानो।

"कार्य होने से अवश्य सुख-दु ख का भोग्य मानना चाहिए। घट के परमाणु की तरह इनका (सुख-दु ख का) कारण पुण्य और पाप ही हैं।

"सुख-दु ख मे पुण्य-पाप रूप कर्म कारण हैं। वह कर्म सुख-दु खात्मक कार्य के सदृश्य ही होगा। ऐसी दशा मे सुख और दु ख को आत्मपरिणामी होने से यदि अरूप मानें तो पुण्य पापात्मक कर्म भी अरूप होगा। यदि उसे रूपवाला माने तो वह अनुरूप ही नही होगा।

"क्योकि कारण न तो सर्वथा अनुरूप और न सर्वथा भिन्न ही होता है। यदि तुम कारण को सर्वथा अनुरूप और भिन्न भी मानो तो उसमें कार्यत्व, कारणत्व अथवा वस्तुत्व ही कैसे रहेगा ?

"यदि सब वस्तुएं तुल्य अथवा अतुल्य हो, तो कारण मे कार्यानुरूपता

कैसे आयेगी। जिससे कि कारण का कार्य स्वपर्याय है और अकार्यरूप जितने पदार्थ हैं, वे कारण के परपर्याय होते हैं।

'क्या जिस तरह मूर्त-अमूर्त का कारण है, उसी तरह सुखादि का पुण्य-पाप रूप कर्म भी मूर्त ही कारण होगा? जिस तरह प्रत्यक्ष ही सुख आदि के कारण अन्न, माला, चन्दनादि होते हैं, उसी तरह से कर्म भी सुख-दुःख का कारण होगा।

"(विरोधी तर्क कर सकता है) प्रत्यक्ष दृष्ट अन्नादि को ही, सुख आदि का कारण मानें तो फिर कर्म का क्या प्रयोजन है? तुल्य अन्नादि साधन-वाले पुरुषों को भी सुख-दुःखात्मक फल मे अन्तर रहता है। एक ही अन्न खाने से किसी को आह्लाद और किसी को रोगादि की उत्पत्ति होती है। इस दशा मे वह फल सकारण माना जायेगा। फल-भेद मे जो कारण है, वह अदृष्ट कर्म है।

"(तुल्य साधन होने पर कर्म के द्वारा, जिससे फल-भेद होता है) वह घट के समान मूर्त है, क्योंकि शरीरादि मे वल को देनेवाला मूर्त ही होता है अथवा देहादि कार्य के मूर्त होने से उसके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए।

"(इस पर परपक्ष वाला कहेगा) क्या देहादि के मूर्त होने से वह कर्म मूर्त है? या सुख-दुःख का कारण होने से वह अमूर्त है?

"(इस प्रश्न का उत्तर यह है कि) सुखादि का कारण केवल कार्य ही नहीं है, परन्तु जीव भी उसका (समवायि) कारण है—कर्म को समवायिकार मानें तो इसमें क्या दोष होगा?

"इस तरह स्वभाववाद का निराकरण करने पर, कर्म मे सुख-दुःख कारणत्व और रूपित्व को सिद्ध हो जाने पर, तुम्हारा यह कहना कि केवल पुण्य के अपकर्ष मे दुःख का बाहुल्य होना है, अयुक्त हो जाता है।

"सुख-दुःख का बाहुल्य पुण्य के अपकर्ष मे नहीं होता है, किन्तु अपने

अनुरूप कर्म के प्रकर्ष से होता है, क्योंकि पीछे वेदना प्रकर्ष का अनुभव रूप होने से, जैसे स्वानुरूप कर्म प्रकर्षजनित सौख्य प्रकर्ष का अनुभव।

"वाह्य साधन के प्रकर्ष के कारण यह इस रूप मे है। अन्यथा उसे वाह्य अयवा विपरीत साधन-वल की आवश्यकता न होती।

"देह मूर्त होने से, पुण्योत्कर्ष की तरह अपचय कृत नही है। पुण्यापचय मात्र से देह को उत्पन्न मानें तो वह हीनतर और शुभ ही होगा। महान् और अशुभतर कैसे होगा ?

"वही (तर्क) विपरीत-रूप में सर्व पाप मानने वालो के साथ दिया जा सकता है। कारण के अभाव होने से सकीर्ण स्वभाव पुण्य-पापात्मक कर्म नही माना जा सकता।

"कर्म योग निमित्त होता है। और, वह योग एक समय मे शुभ अयवा अशुभ हो सकता है। लेकिन, वह उभयरूप कभी नही होता। इस प्रकार कर्म को भी मानना चाहिए।

"मन, वाक् और काया के योग शुभ-अशुभ एक समय मे दिखलायी पडते हैं। यह मिश्रभाव द्रव्य मे होता है—भावकरण मे नही।

"ध्यान या तो शुभ होता है, या अशुभ। मिश्र कभी नही होता, क्योकि ध्यान के वाद लेश्या शुभ या अशुभ ही होती है। इसी प्रकार कर्म भी या शुभ होगा या अशुभ होगा।

"पूर्वगृहीत कर्म-परिणाम वश से सम्यक् मिथ्यात्व पुजरूपता को प्राप्त करायेगा अथवा समकत्व अमिथ्यात्व को प्राप्त करायेगा। ग्रहण-काल मे फिर पुण्य-पाप-रूप सकीर्ण-स्वभाव कर्म नही वाँधता और न तो एक को अपर-रूपता प्राप्त कराता है।

"आयुष्क दर्शनमोह और चरित्रमोह को छोडकर अतिरिक्त प्रकृतियो को उत्तर प्रकृति रूपो का सक्रम भाज्य है।

"जिसके शुभ वर्णादि गुण होते है और जिसका शुभ परिणाम होता है, उसे पुण्य कहा जाता है। जो इस पुण्य से विपरीत है, वह पाप है। दोनो ही न तो वहुत वडे है और न वहुत सूक्ष्म हैं।

"पुण्य-पापात्मक कर्म के योग्य ही, कर्म वर्गणागत अयोग्य द्रव्य को ग्रहण करता है, किन्तु परिणाम आदि औदारिक वर्गणागत अयोग्य द्रव्य को नही ग्रहण करता है और एक क्षेत्र मे स्थित द्रव्य को ही ग्रहण करता है। अन्य प्रदेश-स्थित को नही—जैसे कि देह मे तेल आदि को लगानेवाला पुरुष धूल को ग्रहण करता है। उसी तरह रागद्वेष मे युक्त स्वरूपवाला जीव भी ग्रहण करता है अथवा नही ?

"पुद्गल से भरे हुए लोक मे स्थूल और सूक्ष्म कर्म का विभाजन ठीक है; लेकिन उसी के साथ कर्म ग्रहणकाल मे शुभाशुभ का विवेचन कैसे सम्भव है ?

"वह अविशिष्ट है, इसमे शका नही है। लेकिन, परिणाम और आश्रय के स्वभाव से शीघ्र ही वह शुभाशुभ करता है—जिस प्रकार जीव आहार को।

"जिस प्रकार तुल्य ही आहार-परिणाम और आश्रय गाय मे दूध उत्पन्न करता है और विषधर मे विष, उसी प्रकार पाप-पुण्य का परिणाम भी है।

"एक शरीर मे एक प्रकार का आहार लिया जाता है। उसमें से सार और असार दोनो परिणाम तत्काल होते हैं। अपना शरीर उन भोज्य पदार्थ का रस, रक्त, मास रूप, सार-तत्त्व मे और मल-मूत्र आदि असार तत्त्व के रूप मे परिणित कर देता है—यह सर्वसिद्ध है। इसी प्रकार एक जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणाम के द्वारा पुण्य और पाप के रूप मे परिणित करता है।

"सात (सुख) सम्यक्त्व, हास्य, पुरुष-रति, शुभायुनाम और गोत्र यह सब पुण्य है। शेष को पाप जानना चाहिए। चाहे वे तत्काल फल देनेवाली हो या न हो।

"पुण्य-पाप के अभाव मे, स्वर्ग की कामना के लिए निश्चित अग्निहोत्रादि कर्म व्यर्थ हो जायेंगे। तत्सवधी सर्व दानादि फल भी व्यर्थ हो जायेगा।

"इस प्रकार शका-समाधान हो जाने पर ३०० शिष्यो के साथ उन्होंने दीक्षा ले ली।

(१०)

मेतार्य

अपने पहले गये लोगों के दीक्षा लेने की बात सुनकर, मेतार्य भगवान् के पास वदना करने के विचार से गये। उन्हे देखते ही भगवान् ने उनका नाम और गोत्र उच्चारित करके उन्हे सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हे शका है कि परलोक है या नही। तुमने विरुद्ध-वेदो' को सुना है। इसीलिए तुम्हे शका है।

'यदि तुम मानते हो कि जैसे मद्याग मे मद्य का अश है, उसी प्रकार भूतधर्म में चैतन्यता है। इससे तुम्हारा मत है कि भूतो के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जायेगा और इस प्रकार परलोक न होगा।

"यदि इसके भिन्न भी हो (यदि चैतन्य को भूतो से भिन्न भी माना जाये) तो उस अवस्था में भी (चैतन्य में) नित्यत्व नही होगा। अरणी से भिन्न विनाशधर्म वाली अग्नि की तरह।

"यदि (जीव) एक, सर्वगत और निष्क्रिय हो, तो भी परलोक सिद्ध नही होगा। क्योकि, सर्व पिण्डो मे ससरण के अभाव मे यह व्योम के समान होगा।

"इस लोक से भिन्न यदि सुर-नारकादि के रहने के लिए परलोक हैं, ऐसा माने तो भी अप्रत्यक्ष होने से वह सिद्ध नही होगा। पर, श्रुतियो मे उसके बारे मे सुना जाता है, अतः शका उत्पन्न होती है।

टीकाकार ने यहाँ दो यत्र दिये है :—

१—विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य ...

२—तेषाचार्यं ना जानासि

"भूतो और इन्द्रियो से अतिरिक्त मे चेतना होती है। वायुभूति के समान तुम भी यह मान लो। जातिस्मरण से, वह आत्मा द्रव्य की अपेक्षया नित्य है।

"लक्षण आदि के भिन्न-भिन्न होने से न तो वह (जीव) एक है, न सर्वागत है और न निष्क्रिय है। किन्तु, घट आदि के समान वह अनन्त है। इस बात को इन्द्रभूति के समान तुम भी मान लो।

"हे सौम्य! यह मान लो कि इस लोक से भिन्न परलोक और उसमे सुर और नारको का निवास है। मौर्य और आकम्पित की तरह विहित प्रमाणो से तुम भी इसे स्वीकार कर लो।

"जीव विज्ञानमय है और विज्ञान अनित्य है। अत परलोक न होगा। यदि उसे विज्ञान से भिन्न कहे तो वह आकाश के समान अनभिज्ञ होगा। इसी कारण, वह जीव न तो कर्ता होगा और न भोक्ता होगा। इस रूप मे भी परलोक सिद्ध नही होता। जो आकाश के समान अज्ञान और अमूर्त है, वह जीव ससरण नही करेगा।

'चेतना की भी यदि उत्पत्ति आदि होने से घट के समान विनाश मानो तो, हे सौम्य! उसके अविनाशत्व मे भी वही कारण होगा।

"जैसे उत्पत्तिवाला होने के कारण कुम्भ वस्तु होने से एकान्त विनाशी नही होता, उसी तरह यह विज्ञान भी एकान्त विनाशी नही है।

"रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, सस्थान, द्रव्य-शक्ति से कुम्भ बनता है। वे सब के सब प्रसूति (उत्पत्ति) व्यवच्छित्त (व्यय) और ध्रौव्य धर्म वाले हैं।

"इस लोक मे पिंडाकार शक्ति-पर्याय के विनाश-काल मे ही कुम्भकार शक्तिपर्याय रूप से पिंड उत्पन्न हो जाता है। रूपादि द्रव्य पर्याय से न तो वह उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है। इससे वह नित्य होगा। इसी प्रकार सभी पदार्थं उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाले होते हैं। अत. एकान्तत नित्य अथवा अनित्य किसी को भी नही कह सकते।

"घट-विपयक विज्ञान-रूप से नाश और पट-विषयक विज्ञान से उत्पाद तुल्य काल में होता है। और, चेतना-सतान से उसकी अवस्थिति होती है। इस तरह जैसे इस लोक में वर्तमान जीव को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनो स्वभावत दिखलाये गये, उसी तरह परलोकवासी जीवो के भी ये तीनो मानने चाहिए। इस लोक मे मनुष्य का नाश और सुरादिलोक में उसका उद्‌भव दोनो एक साथ ही होता है। जव मनुष्य मर कर सुरलोकादि मे उत्पन्न होता है, तब मनुष्य-रूप इह लोक का नाश और तत्काल मे ही सुरादि परलोक का उत्पाद और जीव-रूप से उसका अवस्थान होता है। उस जीवात्वावस्था मे इहलोक परलोक की विवक्षा नही होती। किन्तु, निष्पर्याय जीव द्रव्य मात्र ही विवक्षित होता हैं। अत उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य स्वभावत. होने पर जीव का परलोक भाव नही होता।

"जो असत् है, उसकी उत्पत्ति नही होती। यदि उसकी उत्पत्ति हो तो खरविषाण की भी उत्पत्ति होगी। जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नही होता। सर्वथा विनाश होने से क्रमश सर्वोच्छेद हो जायेगा।

"अत जीव का मनुष्यत्वादि धर्म से विनाश और सुरत्वादि धर्म से उत्पाद् होता है। इसे सर्वोच्छेद तो नही माना जा सकता। यदि सर्वोच्छेद मानें तो सभी व्यवहारो का विनाश हो जायेगा।

"यदि परलोक न माना जाये तो स्वर्ग की कामना से किये गये अग्नि-होत्रादि और दानादि फल लोक मे असम्बद्ध हो जायेंगे।"

इस प्रकार शका समाधान हो जाने पर, उन्होने भी अपने ३०० शिष्यो के साथ दीक्षा ले ली।

प्रभास

यह सुनकर कि अन्य सभी ने दीक्षा ले ली, प्रभास भगवान् के प्रति आदर प्रकट करने और उनकी वदना करने के विचार से तीर्थंकर के पास गये। उन्हे देखकर तीर्थंकर ने उनका नाम और गोत्र उच्चरित करके उन्हें सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हे इस सम्बन्ध मे शका है कि निर्वाण है या नही। तुम वेद-वाक्यो[1] क्या अर्थ नही जानते। उनका अर्थ इस प्रकार है।

"तुम क्या मानते हो कि, जिस तरह दीप का नाश दीप का निर्वाण[2] कहा जाता है, उसी तरह जीव का निर्वाण क्या जीव का नाश है। अनादि होने से आकाश की तरह जीव-कर्म-सम्बन्ध का विच्छेद नही होने से ससार का अभाव (विनाश) कभी नही होगा। तुम मडिक की तरह जीव और कार्य के सम्बन्ध का विच्छेद स्वीकार कर लो। तुम इसे भी ज्ञान-क्रिया से स्वर्ण के धातु-पाषाण वियोग की तरह मान लो। तुम ऐसा मानते हो कि नारक, तिर्यक, नर, अमर-भाव ही ससार है। इन नाराकादि पर्याय से भिन्न दूसरा जीव कौन होगा ? ऐसी स्थिति मे नारकादि भाव-रूप संसार के नाश होने पर, जीव के अपने स्वरूप का नाश हो जाने से, जब उसका सर्वथा विनाश ही हो जायेगा तो फिर मोक्ष किसका होगा ?

१—इस स्थल पर टीकाकार ने वेदवाक्यो का उल्लेख किया है —

(अ) जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्

(आ) सैपागुहा दुरवगाहा

(इ) द्वे ब्रह्मणी परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तरं, ब्रह्म

२—राग-द्वेप-मद-मोह-जन्म-जरा-रोगादि दुःख क्षयरूप विशिष्ट अवस्था को निर्वाण कहते हैं— —टीकाकार

"पर, तथ्य यह है कि जिस तरह मुद्रा के नष्ट होने पर भी स्वर्ण का नाश नही होता, उसी प्रकार केवल नारकादि पर्यायो के नाश होने से जीव-द्रव्य का नाश नही होता। ससार कर्मकृत है। अत कर्म के नाश होने से ससार का नाश हो सकता है। जीवत्व तो कर्म-कृत नही। फिर, कर्म के नाश होने पर जीवत्व का नाश कैसे?

"विकार की उपलब्धि नही होने से, आकाश की तरह वह जीव विनाश धर्मवाला नही हो सकता। कुम्भ की तरह विनाशी पदार्थ के ही अवयव आदि विकार देखे जाते है।

"तुम यह नही कह सकते कि, कृतक होने से घट की तरह आत्मा भी कालान्तर-विनाशी है, क्योकि प्रध्वसाभाव इस लोक में कृतक होने पर भी नित्य माना जाता है।

"तुम्हारा दृष्टान्त ठीक नही है, क्योकि खर-शृग की तरह अभाव दृष्टात नहीं हो सकता। पर, वह घट का प्रध्वसाभाव पुद्गलमय घट-विनाश विशिष्ट भाव ही है।

"जिस तरह घट मात्र के विनाश होने पर, आकाश मे कुछ नवीनता नही आती, उसी तरह पुद्गल-मात्र के विनाश होने पर जीव मे कुछ नवीनता नही आती है। प्रत्युत जीव अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करता है। इसलिए, एकान्तकृतक नही मान सकते।

"मुक्तात्मा द्रव्य और अमूर्त होने से आकाश की तरह नित्य होता है। तुम कहोगे कि क्या आकाश की तरह आत्मा भी व्यापक हो जायेगा? इसका उत्तर यह है कि अनुमान[1] से व्यापकत्व का निवारण हो सकता है।

"तुमको नित्यत्व का आग्रह ही क्या? क्योकि, सभी वस्तुएँ उत्पत्ति,

---

१—टीकाकार ने लिखा है यहाँ अनुमान इस रूप मे हो सकता हैं—

त्वक्पर्यन्तदेहमात्रव्यापको जीव, तत्रैव तद्गुणोपलब्धे, स्पर्शनवत्।

स्थिति और ध्रौव्य धर्मवाली ही हैं। केवल पर्यायान्तर मात्र से अनित्यादि का व्यवहार होता है।

"दीपक का सर्वथा विनाश नही होता। वह प्रकाश-परिणाम को छोड़कर अधकार-परिणाम को धारण करता है, जिस प्रकार दूध दधिरूप परिणाम को धारण करता है, घट के कपालादि परिणामो के प्रत्यक्ष होने से सर्वथा नाश नही होता।

"तुम कहोगे कि, यदि अग्नि का सर्वथा नाश नहीं होता, तो साक्षात् दिखती क्यो नही। इसका उत्तर यह है कि परिणाम सूक्ष्मता से मेघविकार अथवा अजनरज की तरह अग्नि का साक्षात्कार नही होता।

"पहले अन्य इन्द्रियो से गृहीत स्वर्णपत्र, लवण, सोठ, हरड़, चित्रक, गुडादि समुदायो का फिर से अन्य इन्द्रियो से ग्रहण होता है और नही भी होता। यह पुद्गल-परिणाम की विचित्रता है।

"जिस तरह वायु आदि के पुद्गल एक-एक इद्रिय से ग्राह्य होते हैं, उसी तरह अग्नि पुद्गल भी पहले चक्षुग्राह्य होकर बाद मे घ्राणेन्द्रिय-ग्राहकता को प्राप्त होते हैं।

"जिस तरह परिणामान्तर को प्राप्त होने से 'निर्वाण' शब्द का दीप के साथ व्यवहार होता है, उसी तरह कर्म-रहित केवल अमूर्त जीव-स्वरूप-भावरूप अबाध परिणाम को प्राप्त करते हुए, जीव मे भी 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग होता है।

"ज्ञान की अबाधता से मुनि की तरह मुक्तात्मा को परम सुख होता है। आवरण-हेतु और बाध-हेतु के अभाव होने से आत्मा में अनाबाध प्रकृष्ट ज्ञान है।

"ऐसा कहा जा सकता है कि, ज्ञान कारणाभाव से मुक्तात्मा को आकाश की तरह अज्ञानी होना चाहिए। पर, ऐसा विचार ठीक नही है। उस दृष्टान्त से आत्मा का अचैतन्य होना सिद्ध होगा। अत मुक्तात्मा मे ज्ञान को माना जाता है।

"द्रव्यत्व और अमूर्तत्व की तरह स्वभाव और जाति से एक दम विपरीत अन्य जाति को आत्मा प्राप्त नही कर सकती। यह बात वैसे ही है, जैसे आकाश जीवत्व को प्राप्त नही करता।

"इद्रियाँ मूर्त होने से घट की तरह उपलब्धिवाली नही होती। इन्द्रियाँ तो उपलब्धि के द्वार हैं। उपलब्धि वाला तो जीव होता है। पाँच गवाक्षो से ज्ञान करनेवाला, जिस तरह उन पाँचो से भिन्न है, उसी तरह आत्मा भी इन्द्रियो से भिन्न है, क्योकि इन्द्रियो के विनाश होने पर भी, वह स्मरण करता है। इन्द्रियो के व्यापार होने पर भी, अनन्यमनस्कता आदि के कारण कभी उपलब्धि नही होती है। अत आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है।

"जीव ज्ञानरहित नही हो सकता, क्योकि ज्ञान ही उसका स्वरूप है। ऐसी स्थिति में जैसे मूर्ति के बिला अणु नही होता, उसी तरह ज्ञान के बिला जीव भी नही हो सकता। अतः तुम्हारा यह कथन "अस्ति चासौ मुक्तो जीवः अथ च स ज्ञानरहित" विरुद्ध है।

"तुम पूछोगे कि, वह जीव ज्ञान-स्वरूप है, इसका निश्चय कैसे कर सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि अपने देह मे प्रत्यक्षानुभव से ही जीव ज्ञानस्वरूप जाना जा सकता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि हेतु से परदेह में भी जीव ज्ञान-स्वरूप जाना जा सकता है।

"इन्द्रियवाला जीव अशत आवरण-क्षय होने पर ज्ञानयुक्त होता है, तो अनिन्द्रिय जीव के सभी आवरणो के क्षय होने पर वह शुद्धतर अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्रकाशयुक्त माना जा सकता है—यह बात ठीक वैसी है, जिस तरह समस्त अभ्रावरण के विनाश होने पर सूर्य सम्पूर्णमय होते हैं। अत प्रकाशमयत्व के होने से आत्मा मे ज्ञान का अभाव नही माना जा सकता।

"इसी तरह जीव इन्द्रियरूप छिद्रो के द्वारा प्रकाश को देने से छिद्रावरण युक्त दीप के समान कुछ प्रकाश करता हुआ प्रकाशमय माना जाता है। और, मुक्तात्मा सभी आवरणो के विनाश होने से, घर से बाहर निकले हुए मनुष्य और आवरण से रहित दीप के समान अत्यन्त अधिक प्रकाशमय होता है।

सुख-दु ख पुण्य और पाप से होते हैं। अत पुण्य-पाप के नाश होने पर सुख-दु ख के नाश हो जाने से, मुक्तात्मा आकाश के समान सुख-दु ख रहित हो सकता है। अथवा मुक्तात्मा देह इन्द्रियादि रहित होने से, आकाश के समान सुख-दु ख रहित होगा, क्योकि सुख-दु ख प्राप्ति मे आवार तो देह ही है।

"पाप के फल के समान, कर्मोदयजनित होने से पुण्य-फल भी दु ख ही है। इस पर कहा जा सकता है कि, तव तो पाप-फल भी सुख-रूप माना जायेगा। इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानने से प्रत्यक्ष विरोध होगा, क्योकि अपने अनुभूत सुख-दु ख की दु ख-सुख-रूप से ज्ञान नही होता है।

"हे सौम्य ! जिस कारण से दु खानुभव के समय में सुख प्रत्यक्ष नही है और जो भी माला, चन्दन, अगना, सम्भोगादि से उत्पन्न सुख है, वह भी दु ख का प्रतिकार-रूप होने से मूढो में पामा (खुजली) कण्डूयनादि की तरह सुख-रूप से जाना जाता है, किन्तु वस्तुत. वह दु ख ही है। अत यह वात तुम सिद्ध मान लो कि पुण्य-फल भी दु ख ही है।

"विषय-सुख केवल दु ख के प्रतिकार-रूप होने से चिकित्सा की तरह दु ख ही है। लोक मे केवल उपचार से सुख का व्यवहार होता है। विना वास्तविक वस्तु के उपचार नही होता।

"अत जो मुक्त का सुख है, वह दु ख के विनाश होने से और विना प्रतिकार रूप होने से अनावाव मुनि के सुख के समान सत्य है।

"जिस तरह यह जीव ज्ञानमय होता है और ज्ञानोपघाती आवरण होते हैं, इन्द्रियाँ अनुग्रहकारी होती हैं और सर्वावरण के विनाश होने पर ज्ञान-विशुद्धि होती है, उसी तरह यह जीव सुखमय है और पाप उस सुख का उपघातक है, पुण्य अनुग्रहकारी है और पुण्य-पाप सवके विनाश मे सम्पूर्ण सुख प्राप्त होता है।

"और, जिस तरह कम के निवारण हो जाने से मुक्तात्मा सिद्धत्व आदि

परिणाम को प्राप्त करता है, उसी तरह उसी कर्मक्षय से ससारातीत सुख को भी प्राप्त करता है।

"सात और असात (सुख-दु ख) सब दु,ख ही हैं। उस दु ख के सर्वथा क्षीण हो जाने पर सिद्ध को स्वाभाविक सुख मिलता है। अत , देह और इन्द्रियो के न रहने पर, दु ख और देहेन्द्रिय के अभाव मे सुख होता है।

"और, जो देहेन्द्रियजनित सुख को ही सुख माननेवाले हैं, उनको ससार-विपक्ष मोक्ष को प्रमाण से साध लेने पर 'नि सुख , सिद्ध देहेन्द्रिया भावात्' यह दोष होगा। ससारातीत धर्मान्तिर सिद्ध सुख माननेवालो के साथ दोष की यह बात लागू नही होती।

"कोई कहेगा कि, सिद्ध को यथोक्त सुख होगा, इस बात का क्या प्रमाण ? इस सम्बन्ध मे मैं कहता हूँ—ज्ञान के अनाबाध होने से ही, उनको यथोक्त सुख प्राप्त होता है। यदि आप ऐसा कहेगे तो सिद्ध का सुख और ज्ञान भी चेतन-धर्म होने से राग की तरह अनित्य होगा।

"तुम कहोगे तपादि कष्टकारण अनुष्ठान-साध्य होने से सिद्ध के सुख और ज्ञान घट की तरह अनित्य माने जायेंगे। इसका उत्तर यह है कि, आवरण और बाधता के कारण के अभाव से, सिद्ध के ज्ञान और सुख का कभी विनाश न होने से, अनित्यता सिद्ध नही हो सकती और सभी वस्तुओ को उत्पाद, स्थिति, भग स्वभाववाली होने से अनित्यता दोष लागू नही हो सकता।

"और, मोक्ष के अभाव मे, मुक्तावस्था मे सर्वथा नाश मानने में और सुख के अभाव मे 'न ह वै सशरीरस्य' इत्यादि श्रुतियाँ विरुद्ध हो जायेंगी।

"कोई कहेगा कि, शरीर का सर्वनाश होने पर, नष्ट जीव खर-विषाण-रूप है। उसको प्रियाप्रिय और सुख-दु ख यदि नही स्पर्श करते, तो इसमे दोष ही क्या है ?

"इन वेद-वाक्यो के अर्थ को तुम अच्छी तरह नही जानते। उसको सुनो

जिस तरह 'अधन' (निर्धन) कहने से विद्यमान देवदत्त के ही धन-निषेध का विधान किया जाता है, इसी तरह इस श्रुति मे 'अशरीर' के व्यवहार से विद्यमान जीव के देह के अभाव की प्रतीति होती है। 'नञ्' को निषेधादि होने से, उससे भिन्न और उसके सदृश, वस्तु की ही प्रतीति होती है। अत. अशरीर पद से जीव ही लिया जा सकता है, खरशृंग नहीं।

"इस श्रुति का एक अर्थ यह है कि इस लोक के अग्रभाग में विद्यमान को सुख-दु ख स्पर्श करते हैं और उसमे प्रयुक्त 'वा' से यह भी स्पष्ट है कि देहधारी होने पर भी वितराग योगी को सुख-दु ख विशेष स्पर्श नहीं करते।

"और, इस श्रुति मे 'अथवा' अर्थ मे और 'वाव' यह निपात भी 'अथवा' के अर्थ मे है। अत इसका अर्थ यह होगा कि अशरीर होने पर मोक्षावस्था मे विद्यमान जीव को सुख-दु ख स्पर्श नहीं करते और शरीर-धारी होने पर भी वीतराग को सुख-दु ख स्पर्श नहीं करते। और, इस श्रुति मे 'वावसन्तम्' मे 'वाव' एक खड है। 'अव' धातु का अर्थ 'ज्ञान' भी होता है। अत इसका अर्थ यह होगा कि—'हे सौम्य! तुम इस तरह से समझो कि शरीररहित मुक्तावस्था मे विद्यमान अथवा ज्ञानादि गुणो से विशिष्ट विद्यमान जीव को सुख-दु ख स्पर्श नहीं करते। 'वा' शब्द से सशरीर वीत-राग योग को भी सुख-दु ख स्पर्श नही करते।

"इस श्रुति मे है 'अशरीर वावसतम्' यहाँ 'अकार' के लुप्त होने से 'न वसन्तमवसन्त क्वाप्य तिष्ठन्तम्' ऐसी व्याख्या करने से यह अर्थ सिद्ध होता है, मुक्त अवस्था मे जीव नहीं रहता और जीव के असत् होने से ही उसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नही करते। पर, तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। क्योकि, इस श्रुति मे अशरीर पद आया है 'न विद्यते शरीर यस्य' इस तरह पर्युदास-निषेध होने से मुक्त अवस्था मे जीव विद्यमान है, यही सगत होगा। दूसरी बात यह कि 'स्पृशत'—यहाँ 'स्पर्श' विशेषण भी विद्यमान वस्तु मे ही लागू हो सकता है। यदि जीव खर-विषाण की तरह असत् हो, तो उसके स्पर्श करने की बात पूर्णत असगत हो जायेगी।

'तुम कहोगे कि मुक्त जीव ... इस बात को मैं मानता हूँ। और, जीव का कर्म वियोग रूप ही मोक्ष होता है। इससे जीव की सत्ता तो सिद्ध हो जाती है, परन्तु अशरीर होने से जीव मे सुख और दु ख नही हो सकते है। तुम्हारा यह विचार भी ठीक नही है, क्योंकि वे सुख-दु ख समस्त पाप-पुण्य कर्म-रहित सम्पन्न संसार समुद्र के पार को प्राप्त करने वाले मुक्तात्मा को स्पर्श नही करते। इससे यह नही समझना चाहिए कि, सिद्ध मे सुख की हानि हो जावेगी। अनाबाध ज्ञान होने से राग द्वेप-रहित मुक्तात्मा को पुण्य जनित सुख और पाप जनित दु ख प्राप्त नही होते, किन्तु उस अवस्था मे सकल कार्यक्षय जनित स्वाभाविक 'निस्प्रतीकार' निरुपम अप्रतिप्राती सुख मनाने मे कोई दोष नहीं।

जरा-मरण से मुक्त तीर्थंकर द्वारा इस प्रकार सशय दूर हो जाने पर प्रभास ने शिष्यों सहित दीक्षा ले ली।

卐

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

महावीरकालीन धार्मिक स्थिति

जैन-साहित्य द्वारा महावीरकालीन धर्म, दर्शन तथा धार्मिक स्थिति पर बड़ा अच्छा प्रकाश पडता है।

हम इस प्रकरण मे पहले धार्मिकवादो पर विचार करेंगे। सूत्रकृताग मे उनका उल्लेख इस प्रकार है :—

किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं[1]।

इन वादो के उल्लेख जैन-साहित्य मे अन्य स्थलो पर भी आये हैं। हम यहाँ आगम-ग्रथो में आये प्रसगो को दे रहे हैं .—

(१) चत्तारि वातिसमोसरणा पं तं.—किरियावादी, अकिरियावादी, अन्नाणियवादी, वेणइयवादी।

—स्थानाग सूत्र सटीक, ठाणा ४, उद्देशा ४, सूत्र ३४५ (पूर्वार्द्ध), पत्र २६७-२।

(२) गोयमा ! चत्तारि समोसरणा पन्नता, तंजहा किरियावादी, अकिरियावादी, अन्नाणियवाई, वेणइयवाई।

—भगवती सूत्र, शतक ३०, उद्देशा १, सूत्र १, (भगवान्‌दास हर्षचद दोषी-सम्पादित) भाग ४, पृष्ठ ३०२।

१—सूत्रकृतागसूत्र, भाग २, अध्याय २, सूत्र ४०, पत्र ८१-१।
(गोडी पार्श्व जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)

(३) किरिअं अकिरिअं विणयं अण्णाणं च महामुणी ।
एएहिं चउहिं ठाणेहि मे अण्णे किं पभासति ?

—उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचन्द्र की टीका सहित, अध्ययन १८, गाथा २३, पत्र २३०–१ ।

(१) किरियावाद (२) अकिरियावाद (३) अज्ञानवाद और विनयवाद की शाखा-प्रशाखाओ का भी विस्तृत उल्लेख जैन-शास्त्रो मे किया गया है ।

समवायाग सूत्र मे इन वादो का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

असीअस्स किरियावाइयसयस्स, चउरासीए अकिरियवाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईणं, बत्तीसाए वेणइयवाईणं, तिण्हं तेवट्ठीणं अण्णदिट्ठियसयाणं वूह ।[1]

इसी प्रकार का उल्लेख नन्दीसूत्र मे भी है —

असीअस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीइए अकिरिआवाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं, बत्तीसाए वेणइअवाईणं, तिण्ह तेसट्ठाण पासंडिअसयाणं...।[2]

सूत्रकृताग-निर्युक्ति मे भी उनके विभेद इसी प्रकार वताये गये हैं :—

असीयसयं किरियाणं १८०, अकिरियाणं च होइ चुलसीती ८४ ।
अन्नाणिय सत्तट्ठी ६७, वेणइयाणं च वत्तीसा ३२ ॥[3]

१—समवायाग सूत्र सटिक, सूत्र १३७, पत्र १०२–१ ।

२—नन्दीसूत्र (आगमोदय समिति) पत्र २१२–२ तथा २१३–१ ।

३—सूत्रकृताग सटीक भाग १ (गौडी पार्श्व जैन ग्रथमाला वम्वई) पत्र २१२–२ सूयगड (पी० एल० वैद्य-सम्पादित) सूत्रकृताग निर्युक्ति, पृष्ठ १४५ । यह गाथा प्रवचन सारोद्धार (उत्तर भाग) पत्र ३४४–१ मे भी है । इस गाथा को हरिभद्र ने आवश्यक निर्युक्ति की टीका मे पत्र ८१६–२ तथा ठाणाग की टीका मे अभयदेव सूरि ने पत्र २६८–२ पर उद्धृत किया है ।

—अर्थात् १८० मत क्रियावादी के, ८४ मत अक्रियावादी के, ६७ मत अज्ञानवादी के और ३२ मत विनयवादी के हैं। इन सब का योग ३६३ होता है।

क्रियावादी—क्रियावादी ऐसा मानते हैं कि, कर्त्ता के बिना पुण्यबंधादि लक्षण क्रिया नहीं होती। इसलिए क्रिया आत्मा के साथ समवाय-सम्बन्ध-वाली है। यह जो क्रियावादी हैं, आत्मादिक नव पदार्थों को एकान्त अस्ति-स्वरूप से मानते हैं। उन क्रियावादियो के १८० भेद इस रूप मे होते हैं। १ जीव, २ अजीव, ३ आश्रव, ४ बंध, ५ संवर, ६ निर्जरा, ७ पुण्य, ८ अपुण्य, ९ मोक्ष ये ९ पदार्थ हैं। इनमे हर एक के स्वत:, परत:, नित्य, अनित्य; काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव इतने भेद करने से यह १८० होता है। यह बात नीचे दिये चक्र से स्पष्ट हो जायेगी।

जीव

स्वत		परत:	
नित्य	अनित्य	नित्य	अनित्य
१ काल	१ काल	१ काल	१ काल
२ ईश्वर	२ ईश्वर	२ ईश्वर	२ ईश्वर
३ आत्मा	३ आत्मा	३ आत्मा	३ आत्मा
४ नियति	४ नियति	४ नियति	४ नियति
५ स्वभाव	५ स्वभाव	५ स्वभाव	५ स्वभाव

इस प्रकार जैसे अकेले जीव के २० भेद हुए, उसी प्रकार अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, अपुण्य और मोक्ष सबके भेद-स्थापन करने से संख्या १८० हो जायेगी।[1]

१—जीवाइनवपयाण अहो ठविज्जति सयपरय सद्दा।
तेसिंपि अहो निच्चानिच्चा सद्दा ठविज्जति ॥८९॥
काल १ सहाव २ नियई ३ ईसर ४ अप्पत्ति ५ पचविपयाइ।
निच्चानिच्चाणमहो अणुक्कमेण ठविज्जति ॥९०॥

अक्रियावादी—अक्रियावादी की मान्यता यह है कि क्रिया पुण्यादिरूप नही है, क्योकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है। परन्तु, स्थिर पदार्थ तो जगत मे है ही नही, क्योकि उत्पत्यनतर ही पदार्थ का विनाश हो जाता है। ऐसा जो कहते हैं, सो अक्रियावादी।

यह जो अक्रियावादी हैं, वे आत्मा को नही मानते।

उनके ८४ मत इस प्रकार होते हैं —१ जीव, २ अजीव, ३ आश्रव, ४ सवर, ५ निर्जरा, ६ बध, ७ मोक्ष यह सात पदार्थ के 'स्व' और 'पर' और उनके, १ काल, २ ईश्वर, ३ आत्मा, ४ नियति, ५ स्वभाव, ६ यदृच्छा इन ६ भेद करने से ८४ सिद्ध होगा। यहाँ नित्यानित्य दो भेद इसलिए नही माने जाते कि जब आत्मा आदि पदार्थ ही वे नही मानते, तो नित्य-अनित्य का भेद ही कहाँ ?[1]

१—इह जीवाइपयाइ पुन्न पाव विणा ठविज्जति।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्दुग ॥९४॥
तस्सवि अहो लिहिज्जइ १ काल १ जहिच्छा य २ पयट्ठुगसमेय।
नियइ १ स्सहाव २ ईसर ३ अप्पत्ति ४ इम पय चउक्क ॥९५॥

(पृष्ठ ३३४ की पादटिप्पणि का शेषाश)

जीवो इह अत्थि सओ निच्चो कालाउ इय पढमभगो।
बीओ य अत्थि जीवो सओ अनिच्चो य कालाओ ॥९१॥
एव परओऽवि हु दोन्नि भगया पुव्वदुगजुया चउरो।
लद्धा कालेणेव सहावपमुहावि पावति ॥९२॥
पचहिवि चउक्केहि पत्ता जीवेण वीसई भगा।
एवमजीवाईहिवि य किरियावाई असिइसय ॥९३॥

—प्रवचन सारोद्धार, उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४-१।

इसी प्रकार की व्याख्या आचारागसूत्र सटीक पत्र १६-२, १७-१ सूत्रकृताग सटीक, प्रथम भाग, पत्र २१२-२, स्थानाग सूत्र सटीक भाग १, पत्र २६८-१ पर भी दी है।

अज्ञानवादी—अज्ञान से ही कल्याण होता है। ज्ञान से झगड़ा होता है। पूर्ण ज्ञान किसी को होता नहीं। अधूरे ज्ञान से भिन्न-भिन्न मतों की उत्पत्ति होती है। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं। ऐसी अज्ञानवादियों की मान्यता है।

इनके ६७ भेद बताये गये हैं। जीवादि ९ पदार्थों के १ सत्व, २ असत्व, ३ सदसत्व, ४ अवाच्यत्व, ५ सदवाच्यत्व, ६ असदवाच्यत्व, ७ सदसदवाच्यत्व, ये ७ भेद करने से संख्या ६३ होती है। उत्पत्ति के सत्वादि चार विकल्प होते हैं। इस प्रकार ६३ और ४ मिलकर उनकी संख्या ६७ होगी।[1]

१—संत १ असंत २ सतासत ३ अवत्तव्व ४ सयअवत्तव्वं ५।
असयअवत्तव ६ सयवत्तव्वं ७ च सत्त पया ॥९९॥
जीवाइनवपयाणं अहोकमेण इमाइं ठविऊणं ॥
जइ कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१००॥
संतो जीवो को जाणइ? अहवा किं व तेण नाएणं?
सेसपएहिवि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स।
एवम जीवाईणवि पत्तेय सत्त मिलिय ते सट्ठी।
तह अन्नेऽवि हु भंगा चत्तारि इमे उ इह हुंति ॥२॥
सती भावुप्पत्ती को जाणइ किं च तीए नायाए?।

(पृष्ठ ३३५ की पादटिप्पणि का शेषांश)

पढमे भंगे जीवो नत्थि सओ कालओ तयणु बीए।
परलोगवि नत्थि जीवो काला इय भंगगा दोन्नि ॥९६॥
एव जइच्छाईहिवि पएहि भंगद्दुगं दुगं पत्त।
मिलियावि ते दुवालस संपन्ना जीवतत्तेणं ॥९७॥
एवमजीवाईहिवि पत्ता जाया तओ उ चुलसीई।
भेया अकिरियवाईण हुंति इमे सव्व संखाए ॥९८॥

—प्रवचन सारोद्धार सटीक, उत्तरार्द्ध पत्र ३४४–२

यही व्याख्या स्थानांग सूत्र पत्र २६८–२ आदि अन्य स्थलों पर भी है।

विनयवादी—"विनयेन चरन्तीनि वैनयिक" विनयपूर्वक जो चले, वह विनयवादी होता है। तन विनयवादियो का लिग (वेश) और शास्त्र नही होता। वे केवल मोक्ष मानते हैं। इनके ३२ भेद कहे गये हैं। १ सुर, २ राजा, ३ यति, ४ ज्ञाति, ५ स्थविर, ६ अधम, ७ माता, ८ पिता—इन आठो की १ मन से, २ वचन से, ३ काया से और ४ देश-काल-उचित दान देने से विनय करे। इस ८ और ४ के गुणा करने से ३२ होता है।[1]

आचाराग मे भी चार वादो का उल्लेख है.—

से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी।

—आचाराग सूत्र, सटीक श्रु० १, अ० १, उ० १, पत्र २०–१

१—सुर १ निवइ २ जइ ३ न्नाई ४ थविरा ५ वम ६ माइ ७ पिइनु ८ एएसिं। [मण १ वयण २ काय ३ दाणेहिं ४ चउव्विहो किरए विणओ ॥५॥

अट्ठवि चउक्कगुणिया बत्तीस हवति वेणइयभेया।
सव्वेहिं पिंडिएहिं तिन्नि सया हुति तेसट्ठा ॥६॥

—प्रवचन सारोद्धारे सटीक, उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४–२।

ऐसा ही स्थानाग सूत्र सटीक पूर्वार्द्ध पत्र २६९–२ आदि स्थलो पर भी है।

(पृष्ठ ३३६ की पादटिप्पणि का शेपाश)

एवमसती भावुप्पत्ती सदसत्तिया चेव ॥ ३ ॥
तह अव्वत्तव्वावि हु भावुप्पत्ती इमेहिं मिलिएहिं।
भगाण सत्तसट्ठी जाया अन्नाणियाण इमा ॥४॥

—प्रवच सारोद्धार सटीक उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४–२।

ऐसी ही व्याख्या स्थानाग सूत्र सटीक पूर्वार्द्ध, पत्र २६८–२ आदि स्थलो पर भी है।

सभाष्य-चूर्णि निशीथ मे निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिको के उल्लेख हैं.—

१ आजीवग[1], २ ईसरमत[2], ३ उलूग[3], ४ कपिलमत[4], ५ कविल[5], ६ कावाल[6], ७ कावालिय[7], ८ चरग[8], ९ तच्चन्निय[9], १० परिव्वायग[10], ११ पडरंग[11], १२ वोडित[12], १३ भिच्छुग[13], १४ भिक्खू[14], १५ रत्त-पड[15], १६ वेद[16], १७ सक्क[17], १८ सरक्ख[18], १९ सुतिवादी[19], २० सेयवड[20], २१ सेयभिक्खु[21], २२ शाक्यमत[22], २३ हडुसरक्ख[23]।

बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित कुछ दार्शनिक विचार

दीघनिकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त मे वर्णन है कि बुद्ध के काल मे ६२ दार्शनिक मत प्रचलित थे। उनमे १८ धारणाएँ 'आदि' के सबन्ध मे और ४४ धारणाएँ 'अत' के सबन्ध में थी।[24]

१—निशीथ सूत्र सभाष्यचूर्णि— भाग १, पृष्ठ १५।
२—वही, ३, १९५।
३—वही, १, १५
४—वही, ३; १९५।
५—वही, १; १५।
६—वही, ४, १२५।
७—वही, ३; ५८५।
८—वही, १; २।
९—वही, ३, २४६, २५३।
१०—वही, १, १७।
११—वही, ३, १२३।
१२—वही, १, १५।
१३—वही, १; ११३।
१४—वही, ३, ५८५।
१५—वही, १, १७, ११३।
१६—वही, १, १५।
१७—वही, १, १५।
१८—वही, ४, १२५।
१९—वही, ३; ५८५।
२०—वही, १; ७८।
२१—वही, ४, ८७।
२२—वही, ३, १९५।
२३—वही, ३, ५८५।
२४—दीघनिकाय मूल (नालंदा) पृष्ठ १२ से ४०।
दीघनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) पृष्ठ ५ से १५।

तापस

औपपातिक सूत्र मे[1] एक स्थल पर गगा के तट पर वसे वानप्रस्था तापसो का उल्लेख आया है। उक्त सूत्र इस प्रकार है .—

से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा—होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णई सड्ढई थालई हुंपउट्ठा दतुक्खलिया उमज्जका सम्मज्जका निम्मज्जका सपक्खाला दक्खिणकूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधमका मिगलुद्धका हत्थितावसा उद्दण्डका दिसापोक्खिणो वाकवासिणो अंबुवासिणो बिलवासिणो जलवासिणो वेलवासिणो रुक्खमूलिआ अबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा बीयाहारा परिसडिय-कंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसेअकढिणगायभूया, आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इगालसोल्लियं कंडुसोल्लियं कट्ठसोल्लियंपिव... I...

इसकी टीका अभयदेवसूरि ने इस प्रकार की है —

'गगाकूलग'त्ति गगाकूलाश्रिता. 'वानप्पत्थ'त्ति वने—अटव्या प्रस्था-प्रस्थान गमनमवस्थान वा वानप्रस्था सा अस्ति येपा तस्या वा भवा वान-प्रस्था. — 'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथे' त्येवभूततृतीयाश्रम-वर्तिन. — 'होत्तिय' त्ति अग्निहोत्रिका', 'पोत्तिय' त्ति वस्त्रधारिण, 'कोत्तिय' त्ति भूमिशायिन 'जन्नई' त्ति यज्ञयाजिन, 'सड्ढइ' त्ति श्राद्धा, 'थालई' त्ति गृहीतभाण्डा, 'हुवउट्ठ' त्ति कुण्डिकाश्रमणा, 'दतुक्खलिय' त्ति फलभोजिन, 'उम्मज्जक' त्ति उन्मज्जनमात्रेण ये स्नान्ति, 'समज्जग' त्ति उन्मज्जनस्यैवा-सकृत्करणेन ये स्नान्ति, 'निमज्जक' त्ति स्नानार्थं निमग्ना एव ये क्षण तिष्ठन्ति,

१—औपपातिक सूत्र, सूत्र ३८, पत्र १७०।१७१ ।

'सपक्खाल' त्ति मृत्तिकादिघर्षणपूर्वक येऽङ्ग क्षालयन्ति, 'दक्खिणकूलग' त्ति यैर्गङ्गाया दक्षिणकूल एव वस्तव्यम्, 'उत्तरकूलग' त्ति उक्तविपरीता 'सखधमग' त्ति शखध्मात्वा ये जेमन्ति यद्यन्य. कोऽपि नागच्छतीति, व कूलधमग' त्ति ये कूले स्थित्वा शब्द कृत्वा भुञ्जते 'मियलुद्धय'त्ति प्रतीता एव, 'हात्यितावस'त्ति ये हस्तिन. मारयित्वा तेनैव बहुकाल भोजनतो यापयन्ति, 'उड्डग'त्ति उर्द्धीकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति, 'दिसापोक्खिणो'त्ति उदकेन दिश. प्रोक्ष्य ये फलपुष्पादि समुच्चिन्वन्ति, 'वाकवासिणो'त्ति वल्कलवासस, 'चेलवासिणो'त्ति व्यक्त पाठान्तरे 'वेलवासिणो'त्ति समुद्रवेलासन्निधिवासिन 'जलवासिणो'त्ति ये जलनिमग्ना एवासते, शेपा. प्रतीता, नवरं 'जलाभिसेयकढिणगाया' इति ये अस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्रा इति वृद्धाः पाठन्तरे जलाभिषेककठिन गात्रं भूता —प्राप्ता. ये ते यथा, 'इगालसोल्लिय'त्ति अगारैरिव पक्व, 'कडुसोल्लिय'त्ति कन्दुपक्वभिवेति...'

इस प्रसग मे निम्नलिखित तापस गिनाये गये है :—

१ होत्तिय—अग्निहोत्र करनेवाले
२ पोत्तिय—वस्त्रधारी तापस
३ कोत्तिय—भूमि पर सोनेवाले
४ जण्णई—यज्ञयाजिन
५ सड्ढई—श्राद्धिक तापस
६ सालई—अपना सामान साथ लेकर घूमनेवाले
७ हुंपउट्ठा—कुण्डिक सदा साथ में लेकर भ्रमण करनेवाले
८ दंतुक्खलिया—फलभोजी
९ उम्मज्जका—उन्मज्जन मात्र से स्नान करनेवाले
१० सम्मज्जका—कई वार गोता लगाकर सम्यक् रूप से स्नान करनेवाले,
११ निम्मज्जका—क्षण मात्र मे स्नान कर लेने वाले
१२ सपक्खला—मिट्टी घिस कर शरीर साफ करने वाले

१३ दक्खिणकूलका—गगा के दक्षिण किनारे पर रहने वाले

१४ उत्तरकूलका—गगा के उत्तर किनारे पर रहने वाले

१५ संखधम्मका—भोजन के पूर्व शख बजाने वाले ताकि भोजन के समय कोई न आये

१६ कूलधमका—तट पर शब्द करके भोजन करने वाले

१७ मिगलुद्धका—पशुओ का मृगया करने वाले

१८ हत्थितावसा—ये लोग हाथी मार लेते थे और महीनो तक उसी का मास खाते थे। इनकी चर्चा सूत्रकृताग में भी आती है। आर्द्रकुमार से इन तापसो से भी भेट हुई थी। उनका विचार है कि साल मे एक हाथी मार कर हत्थितावस कम पाप करते हैं।

१९ उद्दण्डका—दण्ड ऊपर कर के चलने वाले

२० दिसापोक्खीण—चारो दिशाओ मे जल छिडक कर फल-फूल एकत्र करने वाले।

२१ वाकवासिण—वल्कलधारी

२२ अंबुवासिण—पानी में रहने वाले

२३ विलवासीण—बिल (गुफाओ) मे रहने वाले

२४ जलवासिण—जल में रहने वाले

२५ वेलवासिण—समुद्रतट पर रहने वाले

२६ रुक्खमूलिया—वृक्षो के नीचे रहने वाले

२७ अंबुभक्खिण—केवल जल पीकर रहने वाले

२८ वायुभक्खिण—केवल हवा पर रहने वाले

२८ सेवालभक्खिण—सेवाल खा कर रहने वाले

२९ मूलाहारा—केवल मूल खाने वाले

३० कदहारा—केवल कद खाने वाले

३१ तयाहारा—केवल वृक्ष की छाल खाने वाले

३२ पत्ताहारा—केवल पत्र खाने वाले

३३ पुष्फाहारा—केवल पुष्प खाने वाले

३४ बीयाहारा—केवल बीज खाने वाले

३५ परिसडियकदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा—कद, मूल, छाल, पत्ता, पुष्प, फल खाने वाले

३६ जलाभिसेयकढिणगायभूया—विला स्नान भोजन न करने वाले

३७ आयावणाहिं—थोडा आतप सहन करने वाले

३८ पंचग्गितावेहिं—पचग्नि तापने वाले

३६ इंगालसोल्लियं—अगार पर सेंक कर खाने वाले

४० कंडुसोल्लियय—तवे पर सेंक कर खाने वाले

४१ कट्ठसोल्लिय—लकडी पर पका भोजन खाने वाले

इस के अतिरिक्त औपपातिक सूत्र[1] मे ही निम्नलिखित अन्य तापसो के भा उल्लेख मिलते हैं —

१ अत्तुक्कोरिया—आत्मा मे ही उत्कर्ष मानने वाले

२ भूइकम्मिया—ज्वरित आदि उपद्रव से रक्षार्थ भूतिदान करने वाले

३ भुज्जो-भुज्जो कोउयकारका—सौभाग्यादि के निमित्त स्नानादि कराने वाले कौतुककारक

उसी सूत्र में फुटकल रूप मे कुछ तापसो के उल्लेख है .—

१ धम्मचिंतक—धर्मशास्त्र पाठक[2]

२ गोव्वइया[3]—गोव्रत धारण करने वाले

३ गोअमा[4]—छोटे बैल को कदम रखना सिखला कर भिक्षा माँगने वाले

४ गीयरई—[5]—गीत-रति से लोगो को मोहने वाले

१—औपपातिक सूत्र सूत्र ४१, पत्र १९६

२—वही ३८, पत्र १६८—

३—औपपातिक सूत्र, सूत्र ३८, पत्र १६८

४—वही „ सूत्र ३८ पत्र १६८

५—वही „ सूत्र ३८, पत्र १७१

औपपाति के अतिरिक्त अन्य शास्त्रो मे भी कुछ तापसो के नाम मिलते हैं :—

१ चंडिदेवगा[1]—चक्र को धारण करने वाले, चडी के भक्त,

२ दगसोयारिय[2]—साख्य मत के अनुयायी जो पानी वहुत गिराते हैं।

३ कम्मारभिक्खु[3]—देवताओ की द्रोणी लेकर भिक्षा माँगने वाले

४ कुव्वीए[4]—कूर्चिक , कूर्चन्धर —दाढी रखने वाले

५ पिंडोलवा[5]—भिक्षा पर जीवन-निर्वाह करने वाला

६ ससरक्ख[6] सचित्तरजोयुक्ते—(रजोयुक्त) धूलिवाला तापस

७ वणीमग—याचक। ठाणागसूत्र ठाणा ५ उद्देशा ३ में पाँच वणीमग गिनाये गये हैं—पच वणीमगा पं० तं० अतिहिवणीमते किविणवणीमते माहणवणीमते साणवणीमते समणवणीमते
—सूत्र ४४६ पत्र ३२६-२

८ वारिभद्रक[7]—अब्भक्षा शैवलाशिनो नित्य स्नानपादादिधा-वनाभिरता वा (पानी में ही कल्याण मानने वाले)

९ वारिखल[8]—परिव्राजकास्तेषा द्वादश मृत्तिकालेपा भोजन शोध-नका भवन्ति।...(मिट्टी से वारह वार भाजन शुद्ध करने वाले)

१—सूत्रकृताग, प्रथम भाग, पत्र १५४-१ (निर्युक्ति)

२—पिंडनिर्युक्ति मलयगिरि की टीका सहित, गाथा ३१४ पत्र ६८-१

३—वृहत्कल्पभाष्य ३, ४३२१, विभाग ४, पृष्ठ ११७०

४—वही १, २८२२, विभाग ३, पृष्ठ ७६८.

५—उत्तराध्ययन चूर्णि पत्र १३८

६—आचाराग सूत्र २, १, ६, ३

७—सूत्रकृताग प्रथम भाग, पत्र १५४-१ (निर्युक्ति)

८—वृहत्कल्पभाष्य १, १७३८—विभाग २, पृष्ठ ५१३

सूत्र कृताग मे आद्रकुमार से विभिन्न धर्मावलम्बियो के मिलने का उल्लेल आता है। उसमे गोशाला के धर्मावलम्वी, बौद्धभिक्षु वाची शाक्यपुत्रीयो, वैदिक, सारय मतवाले वेदान्ती, और हस्तितापस के उल्लेख हैं[1]।

निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि मे निम्नलिखित अन्यतीर्थक श्रमण-श्रमणियो के उल्लेख हैं।

१ आजीवक[2], २ कप्पडिय[3], ३ कव्वडिय[4], ४ कावालिय[5], ५ कावाल[6], ६ कापालिका[7], ७ गेरुअ[8], ८ गोव्वय[9], ९ चरक[10], १० चरिका[11], ११ तच्चनिय[12], १२ तच्चणगी[13], १३ तडिय[14], १४ तावस[15], १५ तिडगी परिव्वायग[16], १६ दिसापोक्खिय[17], १७ परिव्वाय[18], १८ परिव्राजिका[19], १९ पचगव्वासणीय[20], २० पच-ग्गितावय[21], २१ पडरग[22], २१ पंडर भिक्खु[23], २२ रत्तपड[24], २३ रत्तपडा[25], २४ वणवासी[26], २५ भगवी[27], २६ वृद्धसावक[28], २७ सक्क-शाक्य[29], २८ सरकव[30], २९ समण[31], ३०, ३० हड्ड सर-कव[32]

१—सूत्रकृतांग सटीक चूर्णि, भाग २, अध्ययन ६, पत्र १३५-१५८-१

३—निशीयसूत्र सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृष्ठ ११८-२००

४— वही २, २०७,४५९ | ५— वही ३; १९८

६— वही २, ३८ | ७— वही ४; १२५

८— वही ४, ९० | ९— वही २, ३३२

१०— वही ३; १९५ | ११— वही २, ११८,२००

१२— वही ४, ९० | १३— वही ३, २५३, ३२५

१४— वही ४, ९० | १५— वही २; २०७, ४५९

१६— वही २, ३, ३३२ | १७— वही १, १२

१८— वही ३, १९५ | १९— वही २, ११८,२००

२०— वही ४' ९० | २१— वही ३; १९५,

२२— वही ३; १९५ | २३— वही २, ११९

बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित ६ तीर्थंकर

जैन-ग्रथो के समान ही बौद्ध-ग्रथो मे भी तात्कालीन समाज और धर्म का चित्रण मिलता है। बौद्धग्रथो मे बुद्ध के समकालीन ६ तीर्थंकरो का उल्लेख आता है और स्थान-स्थान पर उनके धार्मिक विश्वासो पर प्रकाश डाला गया है। वे तीर्थंकर निम्नलिखित थे —

(१) पूर्णकाश्यप (अक्रियावादी)
(२) मक्खलि गोशाल (दैववादी)
(३) अजितकेशकम्बलि (जडवादी, उच्छेदवादी)
(४) प्रक्रुद्ध कात्यायन (अकृततावाद)
(५) निगठनाथपुत्र (चातुर्याम सवर)[1]
(६) सजय वेलट्ठिपुत्रका (अनिश्चिततावाद)[2]

देवी-देवता

भगवान् महावीर के काल में जिन देवी देवताओ की पूजा प्रचलित थी, इस पर जैन ग्रन्थो द्वारा अच्छा प्रकाश पडता है। आचाराङ्ग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्याय १, उद्देशा २ (पत्र २९८) मे साधु के भिक्षाटन के प्रसङ्ग मे कुछ पर्वो और देवी-देवताओ की पूजा का उल्लेख मिलता है -

१—महावीर स्वामी पाच महाव्रत का उपदेश देते थे। यह चार की सख्या भ्रामक है।

२—दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद) सामञ्ञफलसुत्त पृष्ठ १९-२२

(पृष्ठ ३४३ की पादटिप्पणि का शेषाश)

२४— वही ३, ४१४
२५— वही १, ११३, १०१
२६— वही १; १२३
२७— वही ३, ४१४
२८— वही ४, ९०
२९— वही २, ११८
३०— वही २; ३, ११८
३१— वही ३, २५३
३२— वही २, ३३२
३४— वही २, २०७

"से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा समवाएसु वा पिंडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंधमहेसु वा एवं रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूयमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु या दहमहेसु वा नइमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु वहवे समण माहण अतिहि किवणवणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं जाव सनिहिसनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतकडं जाव नो पडिग्गाहिज्जा ॥"

अर्थात् साधु अथवा साध्वी जव भिक्षाटन के लिए निकले, तो उनको निम्नलिखित परिस्थियो मे भिक्षा स्वीकार न करनी चाहिए:

१ जव सामुदायिक भोजन हो, २ मृत भोजन हो, ३ इन्द्र ४ स्कन्द, ५ रुद्र, ६ मुकुन्द, ७ भूत, ८ यक्ष, या ९ नाग का उत्सव हो अथवा १० स्तूप, ११ चैत्य, १२ वृक्ष, १३ गिरि, १४ दरी, १५ कूप, १६ तालाव, १७ द्रह, १८ नदी, १९ सरोवर, २० सागर या २१ आकर (खान) का उत्सव हो अथवा इन प्रकारो के अन्य ऐसे उत्सव हो जव कि वहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिकृपण तथा भिखमगो को भोजन दिया जाता हो ।

'नायाधम्म कहा' (१-८ पृष्ठ १००) मे निम्नलिखित देवी-देवता गिनाये गये हैं —

"इदाण य खंदाण य रुद्दसिववेसमण नागाणं भूयाण य जक्खाण अज्जकोटिकिरियाणं"

१ इन्द्र, २ स्कन्द, ३ रुद्र, ४ शिव, ५ वेसमाण, ६ नाग, ७ भूत, ८ यक्ष, ९ अज्जा, १० कोटकिरिया ।

'भगवती सूत्र' (शतक २, उद्देशा १, सूत्र १३४, पत्र १६२) मे निम्नलिखित देवी देवताओ के उल्लेख हैं :—

"………गोयमा ! पाणामाए ण पव्वज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पाइस इद वा खंदं वा रुद्दं वा सिवं वा वेसमरण वा अज्जं वा कोट्टकिरिय वा राय वा जाव सत्थवाहं वा कागं साणं वाणं वा पाणं वा उच्चं पासइ उच्च पणाम करेइ नीयं पासइ नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासति तस्स तहा पणाम करेइ……।

इस सूत्र मे १ इन्द्र, २ स्कन्द, ३ रुद्र, ४ शिव, ५ कुवेर, ६ आर्या पार्वती, ७ महिषासुर, ८ चण्डिका, ९ राजा से लेकर सार्थवाह तक १० कौआ, ११ कुत्ता, १२ चाण्डाल आदि को प्रणाम करने की वात कही गयी है।

भगवती सूत्र (शतक ९, उद्देसा ६, सूत्र ३८३, पत्र ८४६-२) में एक स्थल पर और देवी-देवताओ की चर्चा मिलती है :—

"………किन्न अंज्ज खत्तियकुंडग्गामे नगरे इंदमहेइ वा खदमहेइ वा मुगुदमहेइ वा णागमहेइ वा जक्खमहेइ वा भूयमहेइ वा कूवमहेइ वा तडागमहेइ वा नईमहेइ वा दहमहेइ वा पव्वयमहेइ वा रुक्खमहेइ वा चेइयमहेइ वा थूभमहेइ वा जणण एए वहवे उग्गा भोगा राइन्ना इक्खागा णाया कोरव्वा खत्तियपुत्ता भडा भडपुत्ता जला उववाइए जाव सत्थवाहप्पभिइए ण्हाया कयवलिकम्मा जहा उववाइए जाव निग्गच्छति ?,……"

इसमे १ इन्द्रमह, २ स्कन्दमह, ३ मुकुन्दमह, ४ नागमह, ५ यक्षमह, ६ भूतमह, ७ कूपमह, ८ तडागमह, ९ नदीमह, १० द्रहमह, ११ पर्वतमह १२ रुद्रमह, १३ चैत्यमह, १४ स्तूपमह का वर्णन है।

निशीथचूर्णि मे एक स्थल पर निम्नलिखित महोत्सवो के उल्लेख मिलते हैं —

पिडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा रुद्दमहेसु वा मुगुद-महेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु वा णागमहेसु वा थूभ-महेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्ख-महेसु वा गिरि-महेसु वा दरिमहेसु वा अगड-महेसु वा तड़ाग-महेसु वा दह-महेसु वा णादि-महेसु वा सर-महेसु वा सागर-महेसु वा आगर-महेसु

वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु असणं वा पाणं वा खाइयं वा पडिग्गाहेति पडिग्गाहेतं वा सातिज्जति ॥

—निशीथचूर्णि सभाष्य सचूर्णि, विभाग २, पृष्ठ ४४३ ।

इसके अतिरिक्त उसी ग्रंथ में कुछ अन्य उत्सवों के भी नाम मिलते हैं :—

१ अट्ठहिमहिम,[1] २ कौमुदी,[2] ३ तलाग जण्णग,[3] ४ देवउलजण्णग,[4] ५ लेपग,[5] ६ विवाह,[6] ७ सक्क,[7] ।

१ इन्द्रमह आषाढ़ पूर्णिमा को २ स्कन्दमह आसोज पूर्णिमा को ३ यक्षमह कार्तिक पूर्णिमा को ४ भूतमह चैत्रपूर्णिमा को मनाया जाता था ।

ज्ञाता धर्मकथा (सूत्र २४, पत्र ४३-१) में निम्नलिखित उत्सवों के वर्णन हैं :—

"......अज्ज रायगिहे नगरे इंदमहेति वा खंदमहेति वा एवं रुद्दसिववेसमण नाग जक्ख भूय नई तलाय रुक्ख चेतियपव्वयउज्जाणगिरिजत्ताइ वा जओ णं वा बहवे उग्गा भोगा जाव एगदिसिं एगाभिमुहा णिग्गच्छंति,....:"

इन्द्रोत्सव, स्कन्दोत्सव रुद्रोत्सव, शिवोत्सव, यक्षराट्-उत्सव, नाग-भवनपति देव विशेष उसका उत्सव, यक्षोत्सव, भूतोत्सव, नदी-उत्सव, तालाव-उत्सव, वृक्ष-उत्सव, चैत्योत्सव, पर्वतोत्सव उद्यान-यात्रा और गिरियात्रा का उल्लेख है ।

अब हम इन पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे ।

१—निशीथ सूत्र सभाष्य सचूर्णि, ३, १४१ ।
२—वही ४, ३०६ ।
३—वही २, १४३ ।
४—वही २, १४३ ।
५—वही ३, १४५ ।
६—वही १, १७, २, ३९६ ।
७—वही २, २४१ ।

इन्द्रमह

जैन-ग्रन्थो में ६४ इन्द्रो के उल्लेख हैं। हम उनका सविस्तार वर्णन पृष्ठ २३०-२३१ की पादटिप्पणि मे कर आये हैं। उनमे से प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्र का उत्सव इन्द्रमह है।

जैन-ग्रन्थो मे ऐसा वर्णन मिलता है कि इस देश का 'नाम' इस देश के प्रथम सम्राट् भरत के नाम पर पडा। वे ऋषभदेव के पुत्र थे।[1] इस देश मे

१—प्रियव्रतो नाम सुतो मनो. स्वायम्भुवस्य य ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिऋषभस्तत्सुत. स्मृत ॥
तमाहुर्वासुदेवाश मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशत तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ॥
तेषा वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यात वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥
—भागवत खण्ड २, स्कध ११, अध्याय २ पृष्ठ ७१० (गोरखपुर)।

वायुपुराण मे भी यही परम्परा लिखी है—
हिमाद्रेर्दक्षिण वर्षं भारताय न्यवेदयत् ।
तस्मात्त भारते वर्षे तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥
वायुपुराण अ० ३३, श्लोक ५२।

जैन ग्रन्थो मे भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। 'वसुदेवहिण्डी' मे उल्लेख है—
इहं सुरासुरेन्द्रविंदवदियचलणारविंदो उसभो नाम पढमो राया जगप्पियामहो आसी। तस्स पुत्तसय। दुवे पहाणाभरहो वाहुवली य। उसभसिरी पुत्तसयस्स पुरसयं च दाऊण पव्वइओ। तत्थ भरहो भरहवास चूडामणी, तस्सेव नामेण इह 'भरतहवास' ति पवुच्चति।
—वसुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १८६।

इन्द्र की पूजा उन्होंने ही प्रारम्भ की। 'त्रिपष्टि-शलाका-पुरुप-चरित्र' मे कथा आती है कि एक वार भरत ने इन्द्र से पूछा—

किमीदृशेन रूपेण यूयं स्वर्गेऽपि तिष्ठथ ?
रूपान्तरेण यदि वा कामरूपा हि नाकिनः ॥

—हे देवपति, क्या आप स्वर्ग मे भी इसी रूप मे रहते हैं या किसी दूसरे रूप मे ? क्योकि देवता तो कामरूपी (इच्छित रूप वनाने वाले) कहलाते हैं।

देवराजोऽब्रवीद् राजन्निदं रूपं न तत्र न.।
यत् तत्र रूपं तन्मर्त्यैर्न द्रष्टुमपि पार्यते ॥

—राजन्, स्वर्ग मे हमारा रूप ऐसा नही होता। वहाँ जो रूप है, उसे तो मनुष्य देख भी नही सकते।

इन्द्र के इस उत्तर पर भरत ने इन्द्र के उस रूप को देखने की इच्छा प्रकट की तो इन्द्र ने उन्हे '· योग्यालकार शालिनीम्। स्वांगुलीं दर्शयामास जगद्वेश्मैकदीपिकाम्' उचित अलकारो से सुशोभित और जगत्-रूपी मन्दिर में दीपक के समान अपनी एक उँगली भरत को दी। राजा भरत उसे लेकर अयोध्या आये और वहाँ उस उँगली की स्थापना कर उन्होने अष्टाह्निका उत्सव किया। (त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १, सर्ग ६, श्लोक २१४-२२५)

इन्द्र-पूजा के प्रारम्भ की यह कथा आवश्यकचूर्णी मे भी इसी रूप मे आयी है। उसमे उल्लेख है:—

ताहे सक्को भणति-ण सक्का तं माणुसेण दट्ठुं, ताहे सो भणति तस्स आकिर्ति पेच्छामि, ताहे सक्का भणति-जेण तुमं उत्तमपुरिसो तेण ते अहं दाएमि एगपदेस, ताहे एगं अगुलि सव्वालंकारविभसितं काऊण दाएति, सो तं दट्ठूण अतीव हरिस गतो, ताहे तस्स अट्ठाहियं महिमं करेति ताए अगुलीए आकिर्ति काऊण एस इंदज्झयो, एवं वरिसे वरिसे इंदमहो पव्वतो पढमउस्सवो।

(पूर्वार्द्ध, पत्र २१३)

वसुदेव हिंडी (पृष्ठ १८४) मे भी इसी रूप मे इन्द्रमह का प्रारम्भ वर्णित है।

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' के शब्दो में कहिए 'इन्द्रोत्सवः समारब्धो लोकैरद्याऽपि वर्तते' तब से इस देश मे इन्द्र की पूजा प्रचलित है।

निशीथचूर्णी (पत्र ११७४) मे चार पर्वों—इन्द्रमह, स्कन्दमह, जक्खमह, भूयमह—के उल्लेख मिलते हैं। उनमें एक इन्द्रमह भी है। उसके अतिरिक्त इस पर्व का उल्लेख आवश्यक सूत्र हारिभदीयावृत्ति (पत्र ३५८–१) आचाराग (पत्र ३२८), जीवजीवाभिगम (पत्र २७१–२) मे भी मिलता है। ठाणाग मे अश्वयुक् पौर्णमासी—आश्विन की पूर्णिमा को इन्द्रमह मनाये जाने का वर्णन है।[२]

आश्विन में इन्द्रमह मनाए जाने का वर्णन रामायण मे भी आता है—

इन्द्रध्वज इवोद्भूत पौर्णमास्या महीतले।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतन ॥

(किष्किधाकाण्ड, सर्ग १६, श्लोक ३६ पृष्ठ)

उत्तराध्ययन की टीका (भावविजयगणि-कृत) मे कम्पिलपुर के राजा द्विमुख द्वारा इन्द्रमह मनाए जाने का विस्तृत वर्णन है। उसमें आता है—

उपस्थिते शक्रमहेऽन्यदा च द्विमुखो नृपः।
नागरानादिशच्छक्रध्वज सस्थाप्यतामिति ॥७०॥
ततः पटु ध्वजपटं किंकिणीमालभारिणम्।
माल्यालिमालिन रत्न-मौक्तिकावलिशालिनम् ॥७१॥
वेष्टित चीवरवरैर्नान्दीनिर्घोषपूर्वकम्।
द्रुतमुत्तम्भयामासु पौरा पौरदरं ध्वज ॥७२॥

२—निशीथचूर्णी मे (पत्र ११७४) मे इन्द्रमह के आषाढ पूर्णिमा को तथा लाड देश में श्रावण पूर्णिमा को मनाये जाने का उल्लेख है। आवश्यक सूत्र निर्युक्ति वृत्ति सहित मे क्वार अथवा कार्तिक की पूर्णिमा को इन्द्रमह मनाए जाने का उल्लेख है।

[युग्मम्] अपूजयन् यथाशक्तित च पुष्पफलादिभिः ।
पुरस्तस्य च गीतानि, जगु केपि शुभस्वराः ॥७३ ॥
केचित्तु ननृतु. केचिदुच्चैर्वाद्यान्यवादयन ।
अर्थितोर्न्यर्थिना केऽपि ददु कल्पद्रुमा इव ॥७४॥
कर्पूरमिश्रघुसृणजलाच्छोटनपूर्वकम् ।
मिथ. केचित्तु चूर्णानि सुरभीणि निचिक्षिपु ॥७५॥
एवं महोत्सवैरागात्पूर्णिमा सप्तमे दिने ।
तदा चापूजयद् भूरि विभूत्या भूधवोपि नम् ॥७६॥
सम्पूर्ण चोत्सवे वस्त्र-भूषणादि निज निजम् ।
आदाय काष्ठशेषं त पौरा पृथ्व्यामपातयन् ॥७७॥

एक वार इन्द्रमहोत्सव आने पर द्विमुख राजा ने पुरजनो से इन्द्रध्वज स्थापित करने को कहा। नागरिक जनो ने एक मनोहर स्तम्भ के ऊपर श्रेष्ठ वस्त्र लपेटा। उसके ऊपर सुन्दर वस्त्र का ध्वज वांधा। उसके चारो ओर छोटी-छोटी ध्वजाओ और घटियो से शृगार किया। ऐसे फूल जिन पर भ्रमर आते हो, उनकी तथा रत्नो और मोतियो की माला से उसको खूब सजाया। वाजे-गाजे के साथ उस ध्वज को नगर के मध्य में स्थापित किया। फिर पुष्प-फल आदि से लोगो ने (अपने सामर्थ्य के अनुसार) उसकी पूजा की। उस ध्वज के पास कितने लोग गाने लगे, और कितने नृत्य करने लगे। कितने वाजा वजाने लगे और कितने ही कल्पवृक्ष की भाँति याचको को दान देने लगे। कितने कर्पूर-केसर-मिश्रित रग छिड़कने लगे और सुगन्धित चूर्ण उड़ाने लगे। इस प्रकार सात दिन उत्सव चलता रहा। सातवें दिन पूर्णिमा आयी तो द्विमुख राजा ने भी उस ध्वज की पूजा की। ....

(उत्तराध्ययन सूत्र सटीक, पत्र २१०)

इस प्रकरण से स्पष्ट है कि इन्द्रमह कितने उत्साह से मनाया जाता था और उसका कितना महत्त्व था।

वृहत्कल्पसूत्र (भाग ६, श्लोक ५१५३) मे हेमपुर नामक नगर मे

इन्द्रपूजा का उल्लेख मिलता है कि ५०० उच्चकुल की महिलाओ ने फूल, धूपदान आदि से युक्त होकर सौभाग्य के लिए इन्द्र की पूजा की।

'अंतगडदसाओ' (षष्ठ वग्ग, पृष्ठ ४७, मोदी-सम्पादित) मे पोलासपुर के निवासियो का 'इन्दट्ठाण' (इन्द्रस्थान) पर जाने का उल्लेख मिलता है।

इस इन्द्र का वर्णन कल्पसूत्र (सूत्र १३) मे बडे ही विस्तृत रूप मे
आया है। उस मे इन्द्र के लिए कहा गया है कि वे (देविंदे) देवताओ के
स्वामी, (देवराय) देवताओ के राजा, (वज्जपाणि) वज्र धारण करनेवाले,
(पुरन्दर) दैत्यो के नगर का विनाश करनेवाले, (सयक्कउ) श्रावक की
पाँचवी प्रतिमा[1] (एक प्रकार की क्रिया-विशेष) को सौ बार करने वाले,
(सहस्सक्खे) एक सहस्र नेत्र वाले [इन्द्र के पाँच सौ मत्री थे। उनकी
एक सहस्र दृष्टियो की सलाह से वे कार्य करते हैं। इसलिए उन्हे सह-
स्राक्ष' कहते हैं।] (मघव) मघवा-देव जिसका सेवक है, (पागसासणे)
पाक-नामक दैत्य पर जो शासन करे अथवा शिक्षा दे, (दाहिणड्ढलोगा-
हिवई) दक्षिण लोकार्द्ध के स्वामी, (एरावणवाहणे) एरावण वाहन है,
जिसका, (सुरिंदे) देवताओ-सुरो को हर्ष करने वाला, (द्विात्रिशल्लक्षविमाना-
धिपति) बत्तीस लाख विमानो के अधिपति, (अरय त्ति) जिस पर धूल न
हो ऐसे (अबरवत्थधरे) अम्बर तुल्य वस्त्र को धारण करने वाले, (आल-
इयमालमउडे) माला-मुकुट आदि को यथास्थान धारण करने वाले, (हेमत्ति
चारुत्ति चित्त त्ति चचल कुडल त्ति) जिसके सोने के सुन्दर और चचल
कुडल है, (महिड्ढीए) महान् ऋद्धि वाले, (महज्जुए) महती द्युति वाले

१—जैन-शास्त्रो में श्रावक (गृहस्थ) की ११ प्रतिमाएँ (क्रिया-[illegible]) मानी जाती है। उनमे पांचवी प्रतिमा का नाम प्रतिमा है।

(उवासगदसाओ, पी एल वैद्य-सम्पादित, पृष्ठ [illegible])

इन्द्र ने अपने कार्तिक सेठ के भव में [illegible] पाँचवी प्रतिमा को १०० [illegible] किया था। इसीलिए इन्द्र को 'शतक्रतु' कहते [illegible]।

(कल्पसूत्र सुबोधिका टीका [illegible])

(महब्बले) महाबली, (महायसे) महान् यश वाले, (महापुभावे) महान् महिमा वाले, (महासुक्खे) महान् सुख वाले, (भासुर) देदीप्यमान शरीर वाले, (पलबवणमालवरे) लम्बायमान पचवर्ण पुष्पमाला धारण करने वाले बताये गये हैं। वे इन्द्र सौधर्म-नामक देवलोक मे, सौधर्मावतसक नामक विमान में सुधर्मा नामक राजसभा में, सक्र नाम सिहासन पर बैठते हैं।

उनके यहाँ (से ण बत्तीसाए विमाणावाससयसाहस्सीणं) बत्तीस लाख वैमानिक देव हैं, ४८ हजार सामानिक देव हैं (जो ऋद्धि मे इंद्र के समान हो, उन देवताओ को सामानिक देव कहते हैं), ३३ त्रायस्त्रिशक देव हैं (जो देवता इन्द्र के भी पूज्य हैं, उन्हे त्रायस्त्रिश देवता कहते हैं), चार लोकपाल हैं (सोम, यम, वरुण और कुवेर), आठ राजमहिषियाँ हैं (पद्मा, शिवा, शची, अजू, अमला, अप्सरा, नवमिका और रोहिणी), और उनके परिवार के (एक-एक इन्द्राणी के १६ हजार देव-सेवक हैं) १ लाख २८ हजार देव-सेवक हैं। उनकी तीन पर्षदाएँ हैं (बाह्य, मध्यम और अभ्यतर)। उनके सात अनीक (सेना) हैं (हाथी, घोडा, रथ, पैदल, वृषभ, नाटक, और गंधर्व)। उन सात अनीको के सात स्वामी हैं। एक दिशा में ८४ हजार, अगरक्षक इन्द्र की सेवा मे शस्त्र-सहित तत्पर रहते हैं (इस प्रकार कुल ३ लाख ३६ हजार अगरक्षक हैं)। वे सब नित्य इन्द्र की सेवा करते हैं। सौधर्म लोक में जो अन्य देव-देवियाँ हैं, इन्द्र उन सब की रक्षा करते हैं, पुरोवर्तित्व करते हैं, अग्रगामित्व करते हैं, स्वामित्व करते हैं, पोषण करते हैं, प्रमुखत्व करते हैं, और सेनापतित्व करते हैं तथा पालन करते हैं। उनके यहाँ नाटक, तन्त्री, वीणा, वादित्र, ताल, तूर्य, शख, मृदग आदि का मेघ के गर्जन के समान कर्ण-प्रिय स्वर गुजरित होता रहता है। वे दैवी भोगो के योग्य भोग भोग रहे हैं।

इन्द्र का ठीक इसी प्रकार का उल्लेख प्रज्ञापना-सूत्र (पत्र १०१।१) सूत्र ५२ में भी आया है।

सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ वज्जपाणी, पुरंदरे सयक्कतू सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाण-

वाससयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अयरंबरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुण्डलविलिहिज्जमाणगडे महिड्ढिए जाव पसमासेमाणे से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसगाणं चाउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसि च बहूणं सोहम्मकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वेमाणे जाव विहरइ।

इनके अतिरिक्त इद्र का तद्रूप वर्णन 'श्रीमज्जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति'-नामकउपाग टीका-सहित मे पत्र ३९५।१–२ मे तथा जीवाजीवाभिगमोपाग (सटीक) के पत्र ३८६–१ मे भी आया है।

स्कन्दमह

स्कन्द शिव के लडके थे। उसके सबन्ध मे यह पर्व भगवान् महावीर के काल मे भी मनाया जाता था। जब वे श्रावस्ती मे पहुँचे थे, तो स्कन्द का जुलूस निकाला जा रहा था।

—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र ३१५

बृहत्कल्पसूत्र (खड ४, पृष्ठ ९६७ गाथा ३४६५) मे भी स्कद की मूर्ति का उल्लेख है, जिसके सम्मुख रात्रि मे दीप जलता रहता था। यह मूर्तिकाष्ठ की बनती थी। (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध पत्र ११५)। कल्पसूत्र सुबोधिका टीका (पत्र ३०८) मे भी स्कन्द-पूजा का उल्लेख मिलता है।

रुद्रमह

रुद्रघर (रुद्रदेव का मदिर) की चर्चा जैन-ग्रन्थो मे मिलती है। रुद्र को महादेवता कहा गया है। रुद्रघर मे रुद्र के साथ-साथ माई (चामुण्डा), आदित्या तथा दुर्गा की मूर्तियाँ होती थी। (निशीथ चूर्णि, पत्र २३६)।

व्यवहार भाष्य मे रुद्र, आडम्बर, यक्ष तथा माई के आयतन का उल्लेख है। यह मदिर मृतक व्यक्तियो के शवो पर बना था (व्यवहार-भाष्य ७—३१३)। आवश्यक चूर्णि मे उल्लेख मिलता है कि रुद्र की मूर्ति काष्ठ की बनती थी। (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध पत्र-११५)

मुकुन्द–मह

जैन-ग्रथो मे मुकुद-पूजा का भी उल्लेख है। भगवान् महावीर के समय मे श्रावस्ती और आलभिया के निकट मुकुन्द और वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। बलदेव की मूर्ति के साथ हल (नागल) भी रहा करता था। (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २९३)। मर्दन ग्राम मे बलदेव की मूर्ति का उल्लेख मिलता है (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २९४) (कल्पसूत्र सुबोध-टीका पत्र ३०३) कुडाक-सन्निवेश मे वासुदेव के मदिर का उल्लेख मिलता है। (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २९३)।

शिवमह

स्कद और मुकुन्द के समान ही शिव की भी पूजा भगवान् महावीर के समय मे प्रचलित थी। आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, (पत्र ३१२) मे एक शिवमूर्ति का उल्लेख मिलता है। पत्तियो, फूलो, गुग्गुल और गड़ुए के जल से उनकी पूजा होती थी। (बृहत् कल्पसूत्र सटीक, भाग १, पृ २५३ की पादटिप्पणि) आवश्यक चूर्णि (पत्र ३१२) तथा बृहत्कल्पसूत्र (पचम विभाग, श्लोक ५९८८, पृष्ठ १५९३) मे वृद्ध शिव की पूजा का उल्लेख है।

वेसमण-मह

वैश्रमण[1] कुबेर को कहते है। इनकी पूजा भी भगवान् महावीर के

१—(अ) वैश्रमण रत्नकर कुबेर—अभिधान चिंतामणि, देवकाड, श्लोक १०३, पृष्ठ ८८

—(आ) अमरकोश, प्रथम काड, श्लोक ६८-६९। (व्यकटेश्वर प्रेस, बम्बई) पृष्ठ १३

समय मे होती थी। जीवाजीवाभिगम (३, पत्र २८१) मे वेसमाण को यक्षो का अधिपति कहा गया है और उन्हे उत्तर दिशा का अधिपति बताया गया है।

नागमह

जैन-ग्रन्थो में कथा आती है, अष्टापद पर ऋषभदेव भगवान् के निर्वाण के बाद प्रथम चक्रवर्ती भरत ने वहाँ मन्दिर आदि बनवाये। कालान्तर में द्वितीय चक्रवर्ती सगर के जह्नु आदि ६० हजार पुत्र एक बार भ्रमण करते हुए अष्टापद गये। वहाँ मन्दिरो की रक्षा के विचार से उन लोगो ने दण्डरत्न से पर्वत के चारो ओर खाई खोद दी। और उसे गगा के जल से भर दिया। जब गगा का जल नागकुमारो के घर मे पहुँचा, तो दृष्टि विष, सर्पो ने नागकुमार की आज्ञा से सगर के पुत्रो को भस्म कर दिया।

कुछ समय बाद गगा पडोस के गाँवो मे उपद्रव करने लगी। इसकी सूचना मिलते ही, सगर ने अपने पौत्र भगीरथ[1] को गगा का जल समुद्र मे गिराने को भेजा। अष्टापद पर पहुँच कर भगीरथ ने नागो की पूजा की और उनसे अनुमति लेकर गगा का जल समुद्र-तक ले गये। यह नागपूजा का प्रारम्भ था। उत्तराध्ययन अध्याय १८, गाथा ३५ की भावविजय की टीका मे आता है —

नागपूजां ततः कृत्वा दण्डरत्नेन जह्नुजः।
नीत्वा सुपर्व सरितं पूर्वाब्धावुदतीरयत ॥६६॥
भगीरथो भोगिपूजा तत्रापि विधिवत् व्यधात।
गंगा सागर संगाख्यं तत्तीर्थं पप्रथे तत ॥६७॥

ऐसी ही कथा त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व २, सर्ग ५–७ मे तथा वसुदेवहिंडी पृष्ठ ३०४–३०५ मे भी आयी है।

१—डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक 'लाइफ इन एँशेंट इडिया' पृष्ठ २१६ पर भगीरथ को भरत का पौत्र लिखा है। यह उनकी भूल है।

नागपूजा का वडा विस्तृत विवरण ज्ञाताधर्मकथा (८, पृष्ठ ९५ मे मिलता है। रानी पद्मावती बडी घूमधाम से यह पर्व मनाती थी। उस अवसर पर पूरे नगर में पानी छिडका जाता था। मदिर के निकट पुष्प-मण्डप निर्मित होता था। उसमें मालाए लटकायी जाती थी। रानी स्नान आदि करके अपनी सहेलियो के साथ मदिर को गयी। उसने झील मे स्नान किया और भीगे कपडे ही फल, फूल आदि लेकर मदिर मे गयी। मूर्ति को साफ किया और धूप आदि जलाया।

यक्षमह

भगवान् महावीर के काल में यक्ष-पूजा भी होती थी। जैन-ग्रन्थो मे यक्षो की गणना ८ वाणमतर[1] देवो मे की गयी है। 'वाणमतर' शब्द पर टीका करते हुए सग्रहणी मे आता है :—वनानामन्तराणि वनान्तराणि तेषु भवा: वानमन्तरा.[2]

वनो के मध्य भाग मे रहने वाले वाणमतर होते हैं।

यक्षो का देह वर्ण श्याम होता है[3] और उनका ध्वज-चिन्ह वटवृक्ष होता

१—अट्ठविधा वाणमतरा देवा प० त०—पिसाया, भूता, जक्खा, रक्खसा किन्नरा, किंपुरिसा, महोरगा, गधव्वा।

—स्थानाग सूत्र सटीक, ठाणा ८, सूत्र ६५४, पत्र ४४२–२।

ऐसा ही उल्लेख उत्तराध्ययन के अध्ययन ३६, गाथा २०५ में तथा जिनभद्रगणि विरचित बृहत्सग्रहणी, गाथा ५८ (सटीक पत्र २८–१) मे तथा प्रज्ञापना सूत्र सटीक, सूत्र ३८, पत्र ६९–१ (पूर्वार्द्ध) में भी आता है।

२—प्रज्ञापना सूत्र सटीक, पूर्वार्द्ध, पत्र ६९–१।

३—जक्खपिसाय महोरग-गधव्वा साम किंनरा नीला।
रक्खस किंपुरसा वि य, धवला भूया पुणो काला

—चद्रसूरि प्रणीत सग्रहणी, गाथा ३९, पृष्ठ १०९।

है।[1] जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण-विरचित 'वृहत् सग्रहणी' की मलयगिरि की टीका में आता है .—

यक्षा गम्भीरा. प्रियदर्शिना विशेषतो मानोन्मानप्रमाणोपपन्नारक्तपाणि-पादतलनखतालुजिह्वौष्ठा भास्वर किरीट धारिणो नाना रत्नात्मकः विभूषणा, ते च त्रयोदशविधा —तद्यथा पूर्णभद्रा १, मणिभद्रा. २, श्वेत-भद्राः ३, हरिभद्राः ४, सुमनोभद्रा ५, व्यतिपाकभद्रा· ६, सुभद्रा· ७, सर्वतोभद्राः ८, मनुष्यपक्षा. ९, धनाधिपतय १०, धनाहारा· ११, रूपयक्षाः १२, यक्षोत्तमा. १३ इति।[2]

—अर्थात् यक्ष गम्भीर होते हैं, देखने में प्रिय होते है, मानोन्मान-प्रमाणोपपन्न होते हैं, उनके पाणि, पाद, तल, नख, तालु, जिह्वा, ओष्ठ रक्तवर्ण का होते हैं, किरीट धारण करते हैं तथा नाना रत्नमय आभूषणो से युक्त होते हैं।

यक्ष १३ बताये गये हैं :—

१ पूर्णभद्र, २ मणिभद्र, ३ श्वेतभद्र, ४ हरिभद्र, ५ सुमनोभद्र, ६ व्यतिपाकभद्र, ७ सुभद्र, ८ सर्वतोभद्र, ९ मनुष्यपक्षा, १० धनाधिपति, ११ धनाहार, १२ रूपयक्ष, १३ यक्षोत्तम।

इन १३ यक्षो की गणना प्रज्ञापना सूत्र सटीक (पूर्वार्द्ध) पत्र ७०–२ मे भी आयी है।

उत्तराध्ययन मे आता है :

देव दाणव गधव्वा, जक्ख-रक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥[3]

१—चिधं कलब सुलसे, वड-खट्टंगे असोग चपयए।
नागे तुबरु अ ज्भए, खट्टग विवज्जिया सरका
—चन्द्रसूरि प्रणीत वृहत्सग्रहणी, गाथा ३८, पृष्ठ १०६

२—पत्र २८–२।

३—उत्तराध्ययन, अध्ययन १६, गाथा १६।

—दुःख करके जो आचरण करे तथा ब्रह्मचर्य पालन करे, उस ब्रह्मचारी मुनि को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किन्नर नमस्कार करते हैं।

यक्षों के बहुत-से गुण जैन-ग्रन्थो मे वर्णित हैं। उसके बहुत-से कल्याणकारी रूप भी जैन-ग्रन्थो मे आते हैं।

गडीतिंडुग नाम का यक्ष काशी मे रहता था। उसने तिंडुग-उद्यान में मातग की रक्षा की थी।[1] और, विभेलग नामक यक्ष ने भगवान् महावीर की वदना की थी।[2]

रक्षण-कार्य के अतिरिक्त उसके निम्नलिखित रूप भी जैन-ग्रन्थो में आये हैं —

१ पुत्रदाता,[3] २ रोग-नाशक,[4] ३ बलदायक।[5]

इन शुभ गुणो के साथ-साथ यक्ष कष्टद भी बताये गये हैं।

वे जिस गाँव अथवा जिस व्यक्ति पर क्रुद्ध होते थे, उन्हे मार डालते थे। शूलपाणि-यक्ष के मदिर मे जो रात को रहता था, वह मर जाता था।[6]

ऐसी ही कथा है कि वार्षिक उत्सव के अवसर पर जो यक्ष की मूर्ति

१—उत्तराध्ययन, नेमिचन्द्र की टीका सहित, अध्ययन १२, पत्र १७४–१।

२—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २७२।
कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ३०३।

३—विपाकसूत्र, ७, पृष्ठ ५१, (पी० एल० वैद्य-सम्पादित)
ज्ञातधर्मकथा २, पृष्ठ ८४–१, ८५–२ (सटीक)

४—पिंडनिर्युक्ति २४५।

५—अतगडदसाओ ६।

६—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २७२।
कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र २९३।

रेंगता था, वह यक्ष उसे मार डालता था।[1]

सिद्ध-पुरुषो की सेवा के प्रसग में यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि हर तीर्थंकर के यक्ष-यक्षिणी होते हैं।[2]

भूतमह

भूत निशाचर होते थे। आवश्यक चूर्णि (द्वितीय खड, पत्र १६२) में उनको बलि[3] दिये जाने का उल्लेख है। भूतो की भी गणना वाणमतर देवो के रूप मे की गयी है (उत्तराध्ययन ३६, २०५) इन्द्रमह, यक्षमह आदि के समान ही भूतमह भी प्राचीन काल का एक विशिष्ट पर्व था।

भूतो से कुछ निम्न कोटि के पिशाच-नाम से प्रसिद्ध होते थे। उनके सम्बन्ध में उल्लेख है कि वे रक्त पीते थे और मास खाते थे।

अज्जा-कोट्टकिरिया

अज्जा और कोटकिरिया देवियाँ थी। आचाराग चूर्णि मे (पत्र ६१) मे चडिका देवी की उपासना का उल्लेख है। शातिमयी दुर्गा के लिए अज्जा (आर्या) शब्द का प्रयोग मिलता है और वही जब महिषा पर सवार होती थी तो उसे कोट्टकिरिया कहते थे।

'निशीथ' में वर्णित कुछ देवी-देवता

निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि मे आगे दिये देवी-देवताओ के उल्लेख आये हैं:—

१—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र ५६७।

२—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ६२३, ६२४।

३—देवतानाम् उपहारे ज्ञा० १, श्रु० ८ अ

१ अच्चुयदेव[१], २ इद[२], ३ कवल-सवल[३], ४ कामदेव[४], ५ खेत्त-देवया[५], ६ गोरी[६], ७ गंधारी[७], ८ चद[८], ९ जक्ख[९], १० जोइसिय[१०], ११ डागिणी[११], १२ णाइलदेव[१२], १३ णागकुमार[१३], १४ देविंद[१४], १५ पतदेवया[१५], १६ पिसाय[१६], १७ पुण्यभद्द[१७], १८ पुरन्दर[१८], १९ पूयणा[१९], २० वहस्सति[२०], २१ भवणवासी[२१], २२ भूत[२२], २३ मणिभद्द[२३], २४ रक्खस[२४], २५ रयणदेवता[२५], २६ वणदेवता[२६], २७ वाणमतर[२७], २८ वाणमतरी[२८], २९ विज्जुमाली[२९], ३० वेयाणिय[३०], ३१ शक्र[३१], ३२ सम्मदिट्ठि देवया[३२], ३३ सामाणिग[३३], ३४ सुदाढ[३४], ३५ हास-पहासा[३५], ३६ हिरिमिक्क[३६],

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्यतीर्थक देवो के उल्लेख उक्त ग्रथ मे हैं .—

१ केसव[३७], २ पसुवति[३८], ३ वभा[३९], ४ महादेव[४१] ५ रुद्द[४२], ६ विण्हु[४३], ७ सिव[४४],

---

१–निशीथसूत्र सभाष्य सटीक भाग ३, पृष्ठ १४१

२ वही १, २४ — ३ वही ३; ३६६

४ वही १, ९—३, १४४ — ५ वही ३, ४०८

६ वही ४, १५ — ७ वही ४, १५

८ वही ३, १४४, २०८ — ९ वही १, २१—३, १४१

१० वही ४, ५ — ११ वही २; ४१

१२ वही ३, १४१ — १३ वही ३; १४४, ३६६

१४ वही १, २० — १५ वही १; ८

१६ वही ३, १८६ — १७ वही ३, २२४

१८ वही २, १३० — १९ वही ३; ४०८

२० वही ३, १४४ — २१ वही २, १२५—४; ५

२२ वही १, ९ — २३ वही ३, २२४

२४ वही ३; १८६ — २५ वही ४; १४

परिशिष्ट २

भगवान् महावीर के छद्मस्थ-अवस्था के विहार-स्थल

प्रथम-वर्ष

१ कुण्डग्राम
२ ज्ञातखण्डवन
३ कर्मारग्राम
४ कोल्लाग-सन्निवेश
५ मोराक-सन्निवेश
६ दूईज्जतग-आश्रम
७ अस्थिक ग्राम (वर्धमान)।

दूसरा-वर्ष

१ मोराक-सन्निवेश
२ वाचाला
३ दक्षिण-वाचाला
४ सुवर्ण-वालुका (नदी)
५ रुप्य-वालुका (नदी)
६ कनकखल आश्रमपद
७ उत्तरवाचाला
८ श्वेताम्बी
९ सुरभिपुर
१० गंगानदी
११ थूणाक सन्निवेश
१२ राजगृह
१३ नालन्दा सन्निवेश।

तीसरा-वर्ष

१ कोल्लाग-सन्निवेश
२ सुवर्ण खल
३ ब्राह्मण ग्राम
४ चम्पानगरी

चौथा-वर्ष

१ कालाय सन्निवेश
२ पत्त कालाय
३ कुमाराक सन्निवेश
४ चोराक सन्निवेश
५ पृष्ठ-चम्पा।

पाँचवाँ-वर्ष

१ कयगला-सन्निवेश
२ श्रावस्ती
३ हलिद्दुय
४ नगला
५ आवत्ता
६ चोराय-सन्निवेश
७ कलकवुका सन्निवेश
८ राढ देश (अनार्य भूमि)
९ पूर्णकलश (अनार्य गाँव)
१० मलय प्रदेश
११ भद्दिल नगर

छठाँ-वर्ष

१ कयली समागम
२ जम्बूसड
३ तवाय सन्निवेश
४ कूपिय—सन्निवेश
५ वैशाली
६ ग्रामाक—सन्निवेश
७ शालीशीर्प
८ भद्दिया

सातवाँ-वर्ष

१ मगध भूमि
२ आलभिया

आठवाँ-वर्ष

१ कुण्डाक—सन्निवेश
२ मद्दन—सन्निवेश
३ वहुसालग
४ शालवन
५ लोहार्गला
६ पुरिमताल
७ शकटमुख-उद्यान
८ उन्नाग (तुन्नाक)
९ गोभूमि
१० राजगृह

नववाँ-वर्ष

१ लाढ—वज्रभूमि और सुम्हभूमि—अनार्य-देश।

दसवाँ-वर्ष

१ सिद्धार्थपुर
२ कूर्मग्राम
३ सिद्धार्थपुर
४ वैशाली
५ गडकी नदी (मडकी)
६ वाणिज्य ग्राम
७ श्रावस्ती।

ग्यारहवाँ-वर्ष

१ सानुलट्ठिय-सन्निवेश
२ दृढभूमि-पोलास-चैत्य
३ वालुका
४ सुभोग
५ सुच्छेता
६ मलय
७ हत्थिसीस
८ तोसलि
९ मोसलि
१० तोसलि
११ सिद्धार्थपुर
१२ व्रजगाँव
१३ आलंभिया
१४ सेयविया
१५ श्रावस्ती
१६ कौशाम्बी
१७ वाराणसी
१८ राजगृह
१९ मिथिला
२० वैशाली
२१ काम-महावन

बारहवाँ-वर्ष

१ सुसुमारपुर
२ भोगपुर
३ नन्दिग्राम
४ मेढियग्राम
५ कौशाम्बी
६ सुमंगल
७ सुच्छेता
८ पालक
९ चम्पा

तेरहवाँ-वर्ष

१ जम्भियग्राम
२ मेंढिय
३ छम्माणि
४ मध्यम अपापा
५ जम्भियग्राम
६ ऋजुवालुका (नदी)

* रेखांकित स्थानों पर भगवान् ने वर्षावास किये थे।

परिशिष्ट ३

गणधर

भगवान् महावीर के ११ गणधर (मुख्य शिष्य) थे। १ इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा, ६ मण्डिक, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकम्पित, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्य, ११ प्रभास[1]। उनके विवरण इस प्रकार हैं —

इन्द्रभूति—पिता का नाम-वसुभूति, माता का नाम-पृथ्वी, गोत्र-गौतम; जन्म-नक्षत्र-ज्येष्ठा, जन्मस्थान-गोबर ग्राम (मगध), गृहस्थ-जीवन ५० वर्ष दीक्षा-स्थान-मध्यमपावा, शिष्य-सख्या-५००, अकेवलिकाल-३० वर्ष, केवलि-पर्याय-१२ वर्ष, सर्वायु-९२ वर्ष, निर्वाण-काल—वीर-केवलोत्पत्ति के ४२ वर्ष के बाद, निर्वाण-स्थान वैभारगिरि (राजगृह)

अग्निभूति—पिता का नाम-वसुभूति, माता का नाम-पृथ्वी, गोत्र-गौतम, जन्म-नक्षत्र-कृतिका, जन्म-स्थान-गोबर ग्राम (मगध), गृहस्थ-जीवन-४६ वर्ष, दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा, शिष्य-सख्या-५००, अकेवलि-काल-१२ वर्ष, केवलिपर्याय-१६ वर्ष, सर्वायु-७४ वर्ष, निर्वाण-काल-वीर केवलोत्पत्ति से २८ वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

वायुभूति—पिता का नाम-वसुभूति, माता का नाम-पृथ्वी, गोत्र-

१—पढमित्थ इदभूई, बिइओ उण होइ अग्गिभूइत्ति।
तइए य वाउभूई, तओ वियत्ते सुहम्मे य ॥५९४॥
मडियमोरियपुत्ते, अकपिए चेव अयलभाया य।
मेयज्जे य पभासे, गणहरा होंति वीरस्स ॥५९५॥
—आवश्यक निर्युक्ति दीपिका, प्रथम भाग, पत्र ११५-२

गौतम, जन्म-नक्षत्र–स्वाति, जन्म-स्थान–गोवरग्राम (मगध), गृहस्थ-जीवन–४२ वर्ष, दीक्षा-स्थान–मध्यम पावा, शिष्य-संख्या–५००, अकेवलि-काल–१० वर्ष, केवलिपर्याय–१८ वर्ष, सर्वायु–७० वर्ष, निर्वाण-काल–वीर केवलोत्पत्ति से २८ वर्ष बाद,–निर्वाण-स्थान–वैभारगिरि (राजगृह)।

व्यक्त—पिता का नाम–धनमित्र, माता का नाम–वारुणी, गोत्र–भारद्वाज, जन्म-नक्षत्र–श्रवण, जन्म-स्थान–कोल्लाग सन्निवेश (मगध), गृहस्थ जीवन–५० वर्ष, दीक्षा-स्थान–मध्यम पावा, शिष्य-संख्या–५००, अकेवलि-काल–१२ वर्ष, केवलि-पर्याय–१८ वर्ष, सर्वायु–८० वर्ष, निर्वाण-काल–वीर-केवलोत्पत्ति के ३० वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान–वैभारगिरि (राजगृह)।

सुधर्मा—पिता का नाम–धम्मिल, माता का नाम–भद्दिला; गोत्र–अग्निवैश्यायन, जन्म-नक्षत्र–उत्तरा फाल्गुनी, जन्म-स्थान–कोल्लाग सन्निवेश (मगध), गृहस्थ-जीवन–५० वर्ष, दीक्षा-स्थान–मध्यम पावा, शिष्य-संख्या–५००, अकेवलि-काल–४२ वर्ष, केवलि पर्याय–८ वर्ष; सर्वायु–१०० वर्ष; निर्वाण-काल–वीर केवलोत्पत्ति से ५० वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान—वैभार-गिरि (राजगृह)।

मंडिक—पिता का नाम–धनदेव, माता का नाम–विजयादेवी, गोत्र–वाशिष्ठ, जन्म-नक्षत्र–मघा, जन्म-स्थान–मौर्यसन्निवेश[1]; गृहस्थ-जीवन–५३ वर्ष, दीक्षा-स्थान–मध्यम पावा, शिष्य-संख्या–३५०, अकेवलि-काल–१४ वर्ष, केवलि पर्याय–१६ वर्ष, सर्वायु–८३ वर्ष; निर्वाण-काल–वीर केवलोत्पत्ति से ३० वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान–वैभार गिरि (राजगृह)।

मौर्यपुत्र—पिता का नाम-मौर्य, माता का नाम–विजयादेवी, गोत्र–काश्यप, जन्म-नक्षत्र–रोहिणी, जन्म-स्थान–मौर्य सन्निवेश, गृहस्थ-जीवन–६५ वर्ष, दीक्षा-स्थान–मध्यम पावा, शिष्य-संख्या ३५०, अकेवलि-काल–१४ वर्ष; केवलि पर्याय–१६ वर्ष, सर्वायु–९५ वर्ष, निर्वाण-काल–

१—देखिए साथ की टिप्पणि।

वीर केवलोत्पत्ति से ३० वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

अकम्पित— पिता का नाम--वसु, माता का नाम-नन्दा, गोत्र-हारीत जन्म-नक्षत्र-मृगशिरस, जन्मस्थान-मिथिला, गृहस्थ-जीवन-४६ वर्ष, दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा, शिष्य-सख्या-३००, अकेवलिकाल-१२ वर्ष, केवलि-पर्याय १४ वर्ष, सर्वायु-७२ वर्ष, निर्वाण काल-वीर-केवलोत्पत्ति से ३० वर्ष बाद, निर्वाण स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)

अचलभ्राता-पिता का नाम देव, माता का नाम जयन्ती, गोत्र-गौतम, जन्म-नक्षत्र-उत्तराषाढा, जन्मस्थान-कोसल (अयोध्या), गृहस्थ-जीवन-४८ वर्ष, दीक्षा-स्थान—मध्यम पावा, शिष्य-सख्या-३००, अकेवलिकाल ९ वर्ष, केवलिपर्याय-२१ वर्ष, सर्वायु-७८ वर्ष, निर्वाण-काल-वीर-केवलोत्पत्ति से २६ वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)

मेतार्य—पिता का नाम दत्त, माता का नाम वरुणादेवी, गोत्र कौंडिन्य, जन्म-नक्षत्र-अश्विनी, जन्मस्थान-तुगिअ सन्निवेश (कौशाम्बी), गृहस्थ-जीवन-३६ वर्ष, दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा, शिष्य-सख्या-३००, अकेवलिकाल-१० वर्ष, केवलिपर्याय-१६ वर्ष; सर्वायु-६२ वर्ष, निर्वाण-काल-वीर-केवलोत्पत्ति से २६ वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)

प्रभास—पिता का नाम बल, माता का नाम अतिभद्रा, गोत्र-कौंडिन्य, जन्म-नक्षत्र-पुष्य, जन्मस्थान-राजगृह, गृहस्थ-जीवन-१६ वर्ष, दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा, शिष्य-सख्या-३००, अकेवलिकाल-८ वर्ष, केवलि-पर्याय-१६ वर्ष, सर्वायु-४० वर्ष, निर्वाण-काल-वीर केवलोत्पत्ति से २४ वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

नोट—उपर्युक्त ग्यारहो गणधरो की शिष्य-संख्या उस समय की है, जब उन्होंने भगवान् के समक्ष जा कर दीक्षा ली थी।

—लेखक

टिप्पणि

मोरियसन्निवेश—इसका नाम बौद्ध-ग्रन्थो मे मोरियग्गाम मिलता है। उसमे कथा आती है कि, जब प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने शाक्यो को भगाया तब उन लोगो ने इस नगर को बसाया था। (महावंस टीका, सिंहली-संस्करण, पृष्ठ ११६–१२१)। यह जंगल में एक जलाशय के तट पर स्थित था और इसके चारो ओर पीपल के वृक्ष थे।

ऐसा माना जाता है कि, अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य-वंश का था। पहले मौर्यों की राजधानी पिप्पलीवन थी। जहाँ वह स्थान था, वहाँ मयूरो का आधिक्य था और उनकी बोली प्राय सुनने को मिलती थी। (वही,)

पिप्पलीवन के ये मौर्य भी बुद्ध के निधन के बाद अस्थि माँगने गये थे। उन्हे अंगार दिया गया था और उस पर उन लोगो ने स्तूप बनाया था।[1]

आवश्यक-कथा मे भी चन्द्रगुप्त का मूल स्थान मोरियग्गाम[2] बताया गया है। वहाँ मोरपोसग लोग रहते थे—ऐसा उल्लेख जैन-ग्रन्थो में मिलता है।[3]

डाक्टर हेमचन्द्र रायचौधुरी ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इंडिया' (पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ १६४) मे लिखा है—

"(मौर्य) को शाक्य-वंश का कहा जाता है। पर, अधिक पुराने संदर्भ दोनों मे भेद करते हैं। एक मत यह है कि यह मौर्य शब्द 'मोर' से बना है। जहाँ वे रहते थे, उसके चारो ओर मोर बोला करते थे।

यह पिप्पलीवन वही है, जिसे ह्वान्च्वांग ने न्यग्रोधवन कहा है और

१—दीघनिकाय, हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १५०।

२—राजेन्द्राभिधान कोष, भाग ६, पृष्ठ ४५३।

३—उत्तराध्ययन नेमिचन्द्र की टीका, पत्र ५७–२।

परिशिष्ट पर्व (द्वितीय संस्करण) सर्ग ८, श्लोक २२६–२३०, पृष्ठ २१५

जिसमे स्तूप था। फाह्यान ने उसे अनोमा नदी से ४ योजन पूर्व बताया है और कुशीनारा से उसे १२ योजन दूर पश्चिम बताया है।"

डाक्टर कनिंघम ने 'द' ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इडिया' द्वितीय वृत्ति (पृ०ठ ४९१) मे लिखा है—"इस नाम का कोई स्थान अब ज्ञात नही है। पर, ह्वेनसाग द्वारा बताये दक्षिण-पूर्व दिशा मे एक वन है, जिसमे प्राचीन अवशेष भरे पड़े हैं। उसका नाम सहनकट है। उक्त स्थान की चर्चा बुचानन ने (एशियाटिक रिसर्चेज, बगाल xx) मे विस्तार से की है। उन्हे खडहरो मे बुद्ध की कई मूर्तियाँ मिली थी।...यह स्थान अउमी-नदी पर स्थित चदोली-घाट से सीधे २० मील की दूरी पर है, लेकिन सडक से इसकी दूरी २५ मील से कम न होगी। रास्ते मे बहुत से नाले हैं। अत यह स्थान ह्वान च्वाग द्वारा वर्णित स्तूप से बहुत मिलता-जुलता है। पर, इस पर मैं पूर्ण-रूपेण सहमति नही प्रकट कर सकता, जब तक श्रीनगर कोलुआ शब्द के 'कोलुआ' का कोइला से सम्बन्ध न जोड़ा जाये—जिसकी सम्भावना बहुत कम है।

सयुक्तनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) मे प्रकाशित 'बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय' मे (पृष्ठ ८) पिप्पलीवन के सम्बन्ध में लिखा है—"वर्तमान समय मे इसके नष्टावशेष जिला गोरखपुर के कुसुम्ही स्टेशन से ११ मील दक्षिण उपधौली नामक स्थान मे प्राप्त हुए हैं।"

डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन ने 'लाइफ इन ऐंशेंट इण्डिया' (पृष्ठ ३१५) मे 'मोरियसन्निवेश' को मगध मे बताया है। पर, यह उनकी भूल है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया', वाल्यूम १, पृष्ठ १७५ पर मोरिय-राज्य को कोसल से पूर्व और गगा तथा हिमालय के बीच मे बताया गया है। मगध की सीमा तो गगा के दक्षिण मे थी, अतः मोरियसन्निवेश मगध में तो हो ही नही सकता।

आचार्य श्री विजयेन्द्रसूरिकृत अन्य ग्रन्थ

१ वैशाली (हिन्दी) २॥)
२ वैशाली (गुजराती) २)
३ वीर-विहार-मीमासा (गुजराती) अप्राप्य
४ वीर-विहार-मीमासा (हिन्दी) ॥)
५ हस्तिनापुर (हिन्दी) ।)
६ गुरुगुणरत्नाकर (सस्कृत) सम्पादित अप्राप्य
७ शान्तिनाथचरित्र (सस्कृत) सम्पादित अप्राप्य
८ अशोकना शिलालेखो ऊपर दृष्टिपात (गुजराती) ...
९ प्राचीन भारतवर्षनु सिंहावलोकन (गुजराती) ....
१० महाक्षत्रप राजा रुद्रदामा (गुजराती) .... ..
११ मथुरानो सिंहध्वज (गुजराती) ... ...
१२ जगत अने जैन-दर्शन (गुजराती) ।)
१३ जगत और जैन-दर्शन (हिन्दी) ।)
१४ Reminiscences of Vijaya Dharma Suri (English) ...
१५ तीर्थंकर महावीर (हिन्दी) भाग २, मुद्रणस्थ १०)
१६ लेटर्स टु विजयेन्द्र सूरि (विश्व-विख्यात ३५ विद्वानो के पत्रो का सग्रह) ७)

यशोधर्म मन्दिर
१६६ मर्जवान रोड, अंधेरी
बम्बई ५८